''प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या और शिक्षण पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन और वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता''

"An Analytical Study of Ancient Indian Curriculum and Method of Teaching and Their Relevance in the Present Context"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

की

शिक्षा विषय में पी-एच.डी.

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

सन् 2004
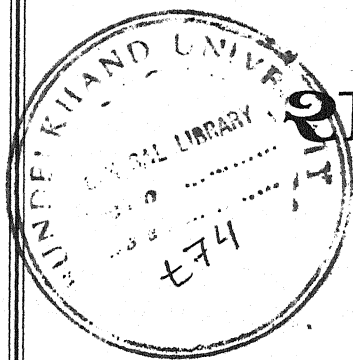
पर्यवेक्षक

डॉ. डी. एस. श्रीवास्तव

अधिष्ठाता, शिक्षा संकाय
प्रोफेसर व अध्यक्ष, शिक्षा संस्थान
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

शोधार्थी

श्याम नारायण शुक्ल

एम.एस-सी., एम.एड.
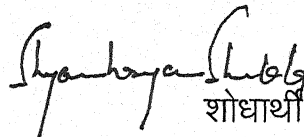
आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत शोध अध्ययन का सम्बन्ध 'शिक्षा विषय' से है। इस विषय की विशालता का आधार प्राचीन भारतीय शिक्षा साहित्य में समाया हुआ है। अतः **"प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या और शिक्षण पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन और वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता"** करना मेरी एक आकांक्षा रही है। वर्तमान समय में **डॉ. डी. एस. श्रीवास्तव** अधिष्ठाता, शिक्षा संकाय, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी इस क्षेत्र में सर्वाधिक लोकप्रिय जाने जा रहे हैं। अतः मैंने अपनी इच्छा को डॉ. श्रीवास्तव जी से व्यक्त किया। **डॉ. श्रीवास्तव** जी ने मुझे काफी पूँछताँछ के पश्चात् उपर्युक्त शीर्षक पर कार्य करने की सहमति मुझे दे दी तथा अपना निर्देशन देना भी उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार **डॉ. श्रीवास्तव** के सुयोग्य निर्देशन में मैंने इस शोध कार्य को पूर्ण किया है। यह उनके निर्देशन का ही फल है कि मैं अपनी जिज्ञासा की पूर्ति में किसी निष्कर्ष तक पहुँच सका हूँ। अतः मैं अपने निर्देशक **डॉ. डी. एस. श्रीवास्तव** का हार्दिक आभारी हूँ।

चूंकि शीर्षक और समस्या कुछ ऐसी थी कि उसके लिए अधिक से अधिक इतिहास की पुस्तकों का अध्ययन आवश्यक था। अनेक पुस्तकें ऐसी थीं और हैं कि जिनका सम्बन्ध धर्म–ग्रन्थों तथा धर्म–साहित्य के रूप में मान्य है, अतः उनको संजोना अपने आप में एक दुष्कर कार्य है। मैं उन तमाम पुस्तकालयाध्यक्षों का आत्मा से ऋणी हूँ, जिन्होंने समय–समय पर वांछित पुस्तकों, धर्म–ग्रन्थों एवं धर्म–साहित्य को उपलब्ध कराकर प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण करने में सहायता प्रदान की है।

प्रस्तुत शोध कार्य में तथ्यों की पुष्टि के लिए एक प्रश्नावली का भी निर्माण आवश्यक समझा गया था। अतः प्रश्नावली का सम्पादन कानपुर तथा उन्नाव के जिन गुरूकुल विद्यालयों तथा बौद्ध विद्यालयों में किया गया है। उनके **महर्षियों, शिक्षकों** तथा **निर्देशकों** का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने समय–समय पर अवसर देकर मुझे मार्गदर्शित किया है, प्रश्नावली को पूर्ण किया है तथा तथ्यों की पुष्टि हेतु दत्तों के संग्रह में सहायता प्रदान की है। अतः मैं उन महर्षियों को शत–शत नमन करता हूँ।

अन्त में, मैं उन सभी सम्बन्धित विद्वानों तथा शिक्षा–विद्वानों का ऋणी हूँ तथा उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण करने में प्रत्यक्ष अथा अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान की है।

शोधार्थी

श्याम नारायण शुक्ल

एम.एस–सी., एम.एड.

Dr. D. S. Srivastava

• Dean Faculty of Education
• Professor & Head
Institute of Education
Bundelkhand University, Jhansi

Phone : 320496 (O)

BUNDELKHAND UNIVERSITY
JHANSI - 284 128

Date......................

CERTIFICATE

This is to certify that the work embodied in this thesis has been carried out by **Shyam Narayan Shukla**, under my supervision. He has fulfilled the requirements of **Bundelkhand University, Jhansi** regarding prescribed period of investigation on work for the award of **Ph.D. Degree in Education** by working under me, with in the required period, commencing from the date of application and putting in over two hundred days of attendance.

The accompanying thesis-

"प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या और शिक्षण पद्धति का
विश्लेषणात्मक अध्ययन
और
वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता"

"AN ANALYTICAL STUDY OF ANCIENT INDIAN CURRICULUM AND METHOD OF TEACHING
AND
THEIR RELEVANCE IN THE PRESENT CONTEXT"

incorporates his genuine work.

The work include in this thesis is original unless otherwise stated and has not been submitted for any other degree to the best of my knowledge and belief.

This thesis in my opinion is fit for submission in the University for evaluation.

Dr. D. S. Srivastava

स्व–घोषणा पत्र

मैं शिक्षा विषय का छात्र रहा हूँ। अतः मेरी रूचि प्रारम्भ से ही शिक्षा शिक्षण पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियों पर गहनतम अध्ययन करने की रही है। अवसर पाकर मैंने प्रस्तुत शोध कार्य के लिए निम्नलिखित समस्या का चयन किया है।
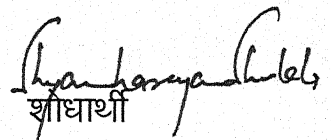
प्रस्तुत शोध कार्य का शीर्षक है :–

''प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या और शिक्षण पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन
और
वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता''

"AN ANALYTICAL STUDY OF ANCIENT INDIAN CURRICULUM AND METHOD OF TEACHING
AND
THEIR RELEVANCE IN THE PRESENT CONTEXT"

उक्त शीर्षक पर मेरा अपना शोध कार्य है। सन्दर्भ ग्रन्थ, सूचना सम्बन्धी पुस्तकों एवं तथ्यों की पुष्टि में सहायक प्रश्नावली की सूची, प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के अन्त में 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत दी गई है।

दिनांक :

शोधार्थी
श्याम नारायण शुक्ल
एम.एस-सी., एम.एड.

विषयानुक्रमणिका

(i) आभार प्रदर्शन

(ii) प्रमाण–पत्र

(iii) स्व–घोषणा पत्र

अध्याय- प्रथम : विवेचन, प्रयोजन तथा शोध-विधि : (1-15)

1. वर्तमान अध्ययन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि
2. वर्तमान अध्ययन की आवश्यकता तथा औचित्य
3. अध्ययन के उद्देश्य
4. प्रस्तुत शोध की परिकल्पनाएँ
5. प्रयुक्त शोध–विधि : ऐतिहासिक शोध–विधि
   (अ) प्राथमिक स्रोत
   (ब) गौण स्रोत
   (स) आन्तरिक तथा वाह्य आलोचना
6. शोध परिसीमन
7. शोध संगठन

   सन्दर्भ ग्रन्थ

अध्याय- द्वितीय : सम्बन्धित साहित्य की पुर्न निरीक्षण : (16-26)

1. शैक्षिक ग्रंथ एवं शैक्षिक साहित्य
2. विवेचना तथा वर्तमान से तुलना
3. प्रस्तुत शोध समस्या से सम्बन्धित शोध–प्रबन्ध
   (अ) विदेश में
   (ब) देश में
   (स) उत्तर प्रदेश में
4. शोध विवेचना तथा वर्तमान से तुलना

   सन्दर्भ ग्रन्थ

अध्याय- तृतीय : शोध-प्रविधि : (27-34)

1. ऐतिहासिक शोध–विधि
2. समस्या से सम्बन्धित प्राथमिक स्रोत
3. समस्या से सम्बन्धित गौण स्रोत

4. ऐतिहासिक आलोचना

सन्दर्भ ग्रन्थ

अध्याय- चतुर्थ : वैदिककालीन शिक्षा का परिचय : (35-140)

1. तत्कालीन समाज की प्रमुख विशेषताएँ
2. शिक्षा का स्वरूप तथा विकास
3. शिक्षा का संगठन
4. शिक्षा की अवधारणा
5. शिक्षा के लक्ष्य एवं उद्देश्य

(अ) वैदिककालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम :

- धार्मिक तथा नैतिक पाठ्यक्रम
- साहित्य एवं कला–विज्ञान विषयक पाठ्यक्रम
- स्त्री शिक्षा विषयक पाठ्यक्रम
- विशिष्ट एवं पूरक पाठ्यक्रम
- तत्कालीन पाठ्यपुस्तकें एवं पाण्डुलिपियाँ

बौद्धकालीन शिक्षा का परिचय :

1. बौद्ध धर्म का परिचय
2. बौद्ध युग में शिक्षा का विकास
3. बौद्ध युग में शिक्षा का संगठन
4. बौद्ध युग में शिक्षा की अवधारणा
5. बौद्ध युग में शिक्षा के उद्देश्य

(ब) बौद्धकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम :

- धार्मिक तथा नैतिक पाठ्यक्रम
- साहित्य, कला, विज्ञान एवं जीवकोपार्जन सम्बन्धी पाठ्यक्रम
- विशिष्ट विषयक पाठ्यक्रम
- स्त्री शिक्षा विषयक पाठ्यक्रम
- धार्मिक एवं लौकिक विषयक पाठ्यक्रम
- तत्कालीन पाठ्यपुस्तकें एवं पाण्डुलिपियाँ

नव ब्राह्मणकालीन शिक्षा का परिचय :

1. परिचय (नव ब्राह्मण युग का अभ्युदय एवं विकास)
2. शिक्षा का प्रसार

3. तत्कालीन शिक्षा का संगठन

4. शिक्षा की अवधारणा

5. शिक्षा के लक्ष्य एवं उद्देश्य

(स) नव ब्राह्मणकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम :

- धर्मविषयक पाठ्यक्रम
- साहित्य, कला, विज्ञान एवं जीवनयापन सम्बन्धी पाठ्यक्रम
- विशिष्ट विषयक पाठ्यक्रम
- स्त्री शिक्षा विषयक पाठ्यक्रम
- धार्मिक एवं लौकिक उपलब्धता विषयक पाठ्यक्रम
- तत्कालीन पाठ्यपुस्तकें एवं हस्तलिपियाँ

(द) शिक्षा नीति : विकास और शिक्षा की भूमिका : नीति नियमन

(य) विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित पाठ्यक्रम एवं मूल्य :

आधुनिक भारत की शैक्षिक आवश्यकताएँ एवं वर्तमान मूल्य

सन्दर्भ ग्रन्थ

अध्याय- पंचम : (अ) वैदिककालीन शिक्षण विधियाँ : (141-224)

- मौलिक पाठ्यवस्तु–विधि द्वारा शिक्षण
- व्याख्या विधि द्वारा शिक्षण
- कंठस्थीकरण–विधि
- संवोध–विधि
- विचार–विमर्श विधि
- प्रश्नोत्तर तालिका–विधि
- निदर्शन विधि
- अन्वेषण–विधि
- आगमन विधि
- परावर्तन विधि
- रहस्यात्मक विधि द्वारा शिक्षण
- सूत्र विधि
- व्युत्पत्ति विधि
- साम्य विधि

- स्वगत कथन विधि
- प्रयोग विधि
- प्रयोजन विधि
- योग एवं सन्यास विधि
- नायक विधि

1. उक्त शिक्षण विधियों के मनोवैज्ञानिक आधार
2. तक्षशिला विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियाँ

(ब) बौद्धकालीन शिक्षण विधियाँ :

- मौखिक पाठ्यवस्तु–विधि
- कंठस्थीकरण–विधि
- विचार–विमर्श विधि
- प्रश्नोत्तर विधि
- प्रश्न–प्रतिप्रश्न विधि
- योजना विधि
- व्याख्यान विधि
- अनुशिक्षण विधि (ट्यूटोरियल सिस्टम)
- बालकेन्द्रित विधि
- निदर्शन विधि
- निर्देशन विधि
- प्रकृति अध्ययन विधि
- प्रयोग विधि
- परिभ्रमण विधि
- क्रिया अभ्यास विधि
- वर्गीकरण विधि
- पिट्ठी आचरिया विधि

1. उपरोक्त शिक्षण विधियों के मनोवैज्ञानिक आधार
2. नालन्दा विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियाँ

(स) नव ब्राह्मणकालीन शिक्षण विधियाँ :

- मौखिक पाठ्यवस्तु–विधि

- कंठस्थी–विधि
- व्याख्या–विधि
- अधिकारवाद विधि
- कथा विधि
- योजना विधि
- नायक विधि
- शास्त्रार्थ विधि
- विचार विमर्श विधि
- वार्तालाप विधि

1. उक्त शिक्षण विधियों के मनोवैज्ञानिक आधार
2. विक्रमशिला विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियाँ

(द) राष्ट्रीय शिक्षा नीति : शिक्षण विज्ञान :

(य) विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित शिक्षण विधियाँ :

सन्दर्भ ग्रन्थ

अध्याय- षष्ठम् : प्राचीन भारतीय शिक्षा के पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियों की वर्तमान समय में प्रांसगिकता : (225-243)

1. पाठ्यक्रम
2. शिक्षण विधियाँ
3. परिकल्पना का सत्यापन
4. प्रश्नावली द्वारा दत्तों का संग्रह
5. सांख्यकीय विश्लेषण
6. विवेचना

अध्याय- सप्तम् : निष्कर्ष एवं सुझाव : (244-269)

परिशिष्ट : (1-19)

1. प्रस्तुत शोध से सम्बन्धित सन्दर्भ ग्रंथ–सूची
2. स्वनिर्मित एवं मानकीकृत प्रश्नावली
3. दत्तों की सूची

अध्याय - प्रथम

विवेचन, प्रयोजन तथा शोध-विधि

1. वर्तमान अध्ययन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि
2. वर्तमान अध्ययन की आवश्यकता तथा औचित्य
3. अध्ययन के उद्देश्य
4. प्रस्तुत शोध की परिकल्पनाएँ
5. प्रयुक्त शोध-विधि - ऐतिहासिक शोध-विधि
   (अ) प्राथमिक स्रोत
   (ब) गौण स्रोत
   (स) आन्तरिक तथा वाह्य आलोचना
6. शोध परिसीमन
7. शोध-संगठन

प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या और शिक्षा पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन और वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता

विचारणीय प्रश्न आधुनिकता और प्राचीनता के बीच का नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के बीच का है। अतः राष्ट्रीय शिक्षा की माँग की जीवन्त भावना, भास्कराचार्य के खगोल, गणित अथवा नालन्दा की पद्धति की ओर लौटने की, या रेल, मोटर से प्राचीन रथ, बैलगाड़ी की ओर जाने की अपेक्षा नहीं कर सकती है, बल्कि आने वाली शताब्दियों में भौतिक समृद्धि के साथ–साथ भारत अपनी अर्न्तजात सम्भावनाओं को लेकर वर्तमान सन्दर्भों में आगे बढ़ते रहने की अपेक्षा करती है। विश्वस्तर पर आदान–प्रदान हेतु, हमें स्थानीय बनना होगा, प्रतिभाओं को विकसित होने देना होगा, और अपना सर्वोत्तम अंश प्रस्तुत करना होगा। हमें मूल्य निर्माण स्वयं बनकर, अपनी पहिचान और विशिष्टता को सक्रिय एवं संचालित करना होगा। यह राष्ट्र के जीवन की गुणवत्ता के लिये महत्वपूर्ण है।

मानव संसाधन विकास से सेवा–क्षेत्र की क्रियाशीलताओं को अधिक प्रभावी और कारगर बनाया जा सकता है। सेवा–क्षेत्र का सबसे अधिक सरोकार मानव की जरूरतों, सुख चैन और सुविधाओं से है। इसके अन्य महत्वपूर्ण घटक हैं– इस कार्य से जुड़े लोगों की कुशलता के स्तर को लगातार बढ़ाना, बदलती हुई प्रौद्योगिकियों की चुनौती आने से पहिले ही प्रौद्योगिकियों में सम्भावित परिवर्त्तनों के लिये तैयार रहना, और उपयोगों की नई–नई शैलियों से अवगत होते रहना। हम सबको बहुत कुछ सीखना है, और जो सीखा है, उसे भूलना है, लगातार कुछ नया–नया सीखते रहने की प्रक्रिया को जारी रखना है। सीखने में मददगार होने वाले साधनों को प्रयोग करते रहना है, दूसरों को सिखाते रहना है, आदि आदि।

देश के सब लोगों को अधिकाधिक समृद्ध बनाने के हमारे प्रयासों का कभी अन्त होने वाला नहीं है। बहुविधि योग्यताओं और कुशलताओं के ज्ञान तथा प्रज्वलित मस्तिष्कों वाले लोग ही सुदूर भविष्य की झाँकियाँ पाने में समर्थ हो सकेगें। आशानुकूल विकास तभी सम्भव है, जब हम अपने लक्ष्य तक पहुँचनें के लिये एकाग्रचित्त हों, दृढ़मति रहें व दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़ते रहें।

भूमण्डलीकरण के इस युग में, भारत को अपनी आधारभूत सामर्थ्य, विशाल और कुशल मानव–बल रूपी संसाधन के मजबूत आधार पर, सेवाओं के क्षेत्र में अग्रणी की हैसियत बनाते हुए उभरना होगा। ये सेवायें, सामान्य सेवाओं से लेकर उभरते हुए डिजीटल और संचार सम्बन्धी परिष्कृत सेवाओं तक की श्रेणी वाली होगीं। सेवाएँ हमारे देश को न सिर्फ और अधिक समृद्ध बनाएँगी, बल्कि अधिकाधिक हमारे लोगों को रोजगार भी प्रदान करेगीं। इनमें स्व–रोजगार करने वाले भी शामिल होगें। रोजगार प्राप्त लोगों में सामान्य योग्यता वाले और अप्रवीण लोगों से लेकर असामान्य योग्यताओं और विशिष्ट योग्ताओं वाले लोग भी सम्मिलित रहेगें।

"हे! धर्म, काव्य और विज्ञान के पितृदेश तुम्हारा स्वागत है। हम तुम्हारे गौरवपूर्ण अतीत का पाश्चात्य के भविष्य में पुर्नजागरण चाहते है।" उक्त कथन मैक्स मूलर का उस प्राचीन भारत से था जब यहाँ व्यक्ति आन्तरिक विकास हेतु प्रयासरत था। वह अपनी नैतिक स्तर की उच्चता मानवीय गुणों में समुन्नत था। चेतना के उन्नत शिखरों के कारण उसके साथ उसका कथन भी प्रमाण था। उसके कथन उसके कार्यो से, और स्वयं में कहीं विरोध न था। शिक्षा और जीवन में कोई अन्तर न था।

शिक्षा समाज का कर्म है। समय की सामाजिक तथा राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही शिक्षा का संगठन किया जाता है। भारतवर्ष के विस्तृत इतिहास में वैदिक काल से आज तक अनेक सामाजिक राजनैतिक परिवर्तन हुये, जिनके अनुसार भारतीय शिक्षा की संकल्पना, उद्‌देश्य और माँग बदलती रही है। भूतकाल, वर्तमान और भविष्य एक ही काल प्रवाह पर घटनाओं की स्थिति को स्पष्ट करते है। उनमें दृश्यमान नवीनता और परिवर्त्तनों में एक सातत्य की अर्न्तप्रवाहिनी धारा विद्यमान रहती है। उसको समझ लेने से, आधुनिक घटनाओं की ठीक ठीक **पृष्ठ भूमि** का ज्ञान सम्भव बनता है।

हम भारतीय इतिहास को छः प्रमुख कालों में विभक्त कर सकते हैं। 'पहिला **वैदिक काल** जो आरम्भ से 600 ईसा पूर्व तक रहा, दूसरा **बौद्धकाल**

जो उसके बाद 550 ईस्वीं तक माना जाता है, तीसरा **नव्य—ब्राह्मण** काल जो तत्पश्चात 1200 ईस्वीं तक चला, चौथा **मध्ययुग** जो मुसलमानों के आने से अठारहवीं शताब्दी तक माना जाता है, पांचवां **ब्रिटिश काल** जो 1757 से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक रहा और छठा **स्वातंत्र्योत्तर युग** जो 1947 से आरम्भ हुआ।

प्राचीन काल में शिक्षावैयक्तिक, नैतिक एवं अध्यात्मिक विकास का साधन समझी जाती थी। व्यापक उदार ज्ञान देकर व्यक्ति को समाजोपयोगी सदस्य बनाना और उच्च ज्ञान के अनुभवों द्वारा अन्तिम वास्तविकता के साथ तादात्म्य स्थापित कराना शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता था। तब शिक्षा धर्म का एक अंग मानी जाती थी। प्रायः इसमें धर्म ग्रन्थों का ही अध्ययन होता था। अतएव जिस भावना से लोग धर्म देखते थे, उसी भावना से शिक्षा भी देखी जाती थी। शिक्षा समाज का धार्मिक और नैतिक उत्तरदायित्व मानी जाती थी। शिक्षा को प्रोत्साहन देना राज्य और समाज का प्रमुख कर्त्तव्य था।

प्रारम्भ में शिक्षा की माँग बहुत कम थी। पुरोहित या ब्राह्मण ही उसे पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त करता था। आगे चलकर द्विज वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार हो गया। हस्त तथा ललित कलाओं का व्यावहारिक ज्ञान शिक्षुता (एप्रेन्टिसशिप) द्वारा व्यस्कों के कार्यों का अवलोकन और अनुकरण करके सीख लिया जाता था। इन थोड़े लोगों को शिक्षा देने के लिये किसी विशेष संगठन की आवश्यकता न थी। व्यक्तिगत शिक्षक (प्रायवेट टीचर) स्वयं में एक मात्र शैक्षणिक संस्था था। परिब्राजक ज्ञान की खोज में और प्रसार में एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करते थे। जब शिक्षा व्यापक और विशिष्ट हो गई, तब अपने विषयों में ख्याति प्राप्त अनेक शिक्षक गुरूकुल में रहने लगे, जो एक कुलपति के निर्देशन में संगठित होता था।

बौद्धकाल में शिक्षा में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि वह निजी शिक्षक के हाथ से निकलकर संस्थागत हो गई। शिक्षा के लिये मठ और बिहार बनाये गये, जिनमें हजारों छात्र और शिक्षक एक साथ रहकर अध्ययन— अध्यापन

करते थे। ऐसा करना छात्रों की संख्यात्मक वृद्धि के कारण आवश्यक हो गया था। इस वृद्धि के तीन कारण थे। **प्रथम** यह कि धर्म और शिक्षा के क्षेत्र में जाति के बन्धनों को शिथिल कर दिया था। अब ज्ञान के पिपासुओं के लिये, वह किसी जाति या वर्ण का हो, शिक्षा का द्वार खुल गया था। शिक्षक का ब्राह्मण होना या छात्र का द्विज होना आवश्यक नहीं था। **द्वितीय** यह कि बौद्ध धर्म ने मध्य मार्ग चुनकर निर्वाण पर बल दिया, जो वर्तमान जीवन में ही प्राप्त किया जा सकता था। इसकी प्राप्ति आचरण को ऊँचा बनाकर, मन की स्थिरता और शान्ति से हो सकती थी। यह वैदिक काल के अति प्रेम और अति वैराग्य के आदर्श की अपेक्षा अधिक सरल तथा सबकी पहुँच के भीतर था। **तीसरा** कारण यह कि शिक्षा का माध्यम लोकभाषा पालि हो गई थी तथा पाठ्यक्रम अधिक व्यापक बना दिया था। "विहारों" में एक ही स्थान पर सब प्रकार की सुविधाए होने, उनमें आवास, भोजनादि की अच्छी व्यवस्था होने तथा स्त्रियों को भी प्रवेश सुलभ होने के कारणों से छात्र संख्या और भी बढ़ गई।

इसके अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा जो शिक्षुता से प्राप्त की जाती थी, उसके लिये भी धर्मनिरपेक्ष विद्यालय खोल दिये गये थे, जिनमें विभिन्न वृत्तियों की शिक्षा दी जाती थी। प्रारम्भिक शिक्षा लेने के बाद लोग इन विद्यालयों में प्रवेश पाते थे। यह शिक्षा भी बौद्ध संधाराम के अर्न्तगत बाती थी।

नव्य–ब्राह्मण काल बौद्ध धर्म की अवनति होने, विहारों और मठों में भ्रष्टाचार व्याप्त होने से वैदिक धर्म की परम्परा के पुनरुत्थान के रूप में हुआ। विहारों और मठों में भ्रष्टाचार के अनुभवों और पराभवों से सीख लेकर परिवर्तित समय की आवश्यकताओं से अनुकूलन कर नई शिक्षा की व्यवस्था की गई। इसमें कर्मशीलता और व्यवहारिकता को प्रधानता दी गई और सभी वर्णो के कर्मानुकूल शिक्षा की व्यवस्था की गई। राजकुमारों, मंत्रियों, कारीगरों, स्त्रियों और प्रौढ़ों तथा जन साधारण की शिक्षा का प्रबन्ध अनेक प्रकार की संस्थाओं में किया गया। देश की चार दिशाओं में एक एक विद्या–पीठ स्थापित की गई। महाविद्यालय, अग्रहार, मन्दिर–विद्यालय, टोल तथा घट्टिकायें उसके नीचे की संस्थायें थी। अग्रहार विद्वतजनों का निवास

ग्राम था। जिसे शासन द्वारा भूमि भवन तथा धर्मस्व का दान देकर बसाया जाता था। मन्दिर–विद्यालयों में धार्मिक–न्यासों से प्रौढ़ शिक्षा का प्रबन्ध होता था। टोल एक बड़े कमरे के विद्यालय थे, जिनके आसपास गुरू शिष्य झोपड़ियों में रहते थे। धट्टिकायें आश्रम के प्रकार की छोटी संस्थायें थीं।

1. वर्तमान अध्ययन की सैद्धान्तिक पृष्ठ भूमि :

हमारे प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों एवं व्याख्याकारों ने पर्याप्त चिन्तन व अनुभव के उपरान्त ही शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण किया था। यह सैद्धान्तिक होते हुये भी विद्यार्थियों के व्यावहारिक जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित था। इसका प्रमुख अभिप्राय छात्रों का सर्वागीर्ण विकास करते हुये उन्हें भावी परिस्थितियों का सामना करने के लिये तैयार करना था। शिष्य ज्ञानोपार्जन करने के उपरान्त गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्यों का पालन करते हुये सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करते थे। इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति और समाज की आकांक्षाओं एवं अभिलाषाओं के अनुकूल थी। तत्कालीन आचार्यो ने इस हेतु की प्राप्ति उपयुक्त पाठ्यचर्या एवं शिक्षण–विधियों के माध्यम से की थी।

शिक्षा वैयक्तिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास समझी जाती थी। जीवन और शिक्षा अभिन्न मानी जाती थी। व्यापक उदार–ज्ञान देकर, व्यक्ति को समाजोपयोगी बनाना और उच्च ज्ञान के अनुभवों द्वारा अन्तिम वास्तविकता के साथ तादात्म्य स्थापित कराना शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता था।

समस्या का परिभाषीकरण निम्नलिखित है :–

(अ) प्राचीन भारत :

प्राचीन भारत से तात्पर्य **वैदिककाल, बौद्धकाल** तथा **नव्य–ब्राह्मण कालीन** भारत से है। इस तरह जहाँ कहीं प्राचीन काल की चर्चा होती है, उक्त तीनों कालांश माने जाते हैं।

(ब) पाठ्यचर्या :

यह चर्या है जिसकी सहायता से छात्र अपने शैक्षिक जीवन के विभिन्न सोपानों पर चढ़ते है। यह अध्ययन–अध्यापन हेतु शिक्षालय के कार्यक्रम का

विवरण होता है। इसमें उन्हीं विषयों एवं अनुभवों को सम्मिलित किया जाता है, जिनका शिक्षण छात्रों के लिये अभीष्ट होता है। प्राचीन सन्दर्भ में इसका अभिप्राय तत्कालीन समय में पढ़ायें जाने वाले धार्मिक एवं लौकिक विषयों से है।

पाठ्यचर्या की सामग्री सम्पूर्ण मानव जाति के वैयक्तिक एवं सामूहिक अनुभवों से ग्रहण की जाती है। ये अनुभव आदिकाल से सतत सफलताओं, असफलताओं के फलस्वरूप समाज की परम्पराओं का निर्माण करते है। जब छात्रों के बौद्धिक स्तर तथा शैक्षिक आवश्यकताओं के अनुकूल इस सामाजिक परम्परा से चयन करके कतिपय तत्वों, मूल्यों को व्यवस्थित किया जाता है, तब वह पाठ्यचर्या कहलाता है। इसमें मानव जाति के संचित अनुभवों की एक राशि रहती है तथा उसमें मानव जाति की सभ्यता का प्रतिनिधित्व एवं प्रतिबिम्ब होता है।

प्राचीन शिक्षा में, डा0 राधाकृष्णन के अनुसार 'वेद' मनुष्य के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का मानव भाषा में प्रथम परिचय प्रस्तुत करता है। 'विद' धातु से 'वेद' शब्द बना है, जिसका अर्थ ज्ञान है, अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य सभी विधाओं को जानता, प्राप्त करता, विचार करता और विद्वान होता है, वह वेद है। सामान्यतः वेद अनाम ऋषियों के माध्यम से स्फुरित हुये हैं। इनकी संख्या चार है– 1. ऋगवेदः, 2. यजुर्वेदः, 3. सामवेदः, 4. अथर्ववेदः। प्रत्येक वेद के तीन अंग है यथा– 1. संहिता, 2. ब्राह्मण, 3. आरण्यक। षट्दर्शन में, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त ये छः हैं। उपनिषद जो ज्ञानकाण्ड कहे जाते है, में विशुद्ध दर्शन, अनुभव, विचार हैं। सूत्रों में गौतम, बोधायन, गोमिल, अश्वपलायन और ब्रह्मसूत्र ये पाँच है। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता को वेदान्त कहा गया है। इन तीनों पर भाष्य लिखने वालों को वेदान्ती माना गया है।

वेदों का गहन अध्ययन कुछ ही विद्यार्थी करते थे। लौकिक विषयों का अध्ययन करने वालों को वेदों को सामान्य ज्ञान करा दिया जाता था।

बौद्ध शिक्षा अपने मूल आधारों में ब्राह्मण शिक्षा से विभिन्न नहीं थी इसके शिक्षा केन्द्र भी शान्त वातावरण में शहरी जीवन से दूर होते थे। शिक्षा के केन्द्र संघ थे। उनमें सासांरिक और धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इनके

प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला, बलभी, ओदन्तपुरी, नादिया, काँची थे। स्त्री शिक्षा प्रचलित थी। भिक्षुणियों पर विशेष प्रतिबन्ध थे, परन्तु दैनिक जीवन भिक्षु और भिक्षुणियों का समान था।

नव्य–ब्राह्मण कालीन शिक्षा केन्द्रों में राजनैतिक, सामाजिक विचारों को मुक्त प्रवेश मिला हुआ था। मोक्ष प्राप्ति की बात प्रमुख नहीं रह गयी थी। समाज के सभी पहलुओं पर विचार, देश की अर्थ व्यवस्था, सामाजिक व राजनैतिक पक्षों की पक्षधरता प्रगाढ़ होने लगी। यद्यपि जीवन आध्यात्मिक था। गुरू उच्चचरित्र, ज्ञानी विशेषज्ञता वाले थे। शिक्षा केन्द्रों से व्यक्तिगत, सामाजिक जीवन के नियम जन साधारण तक छन छन कर पहुँचते थे। विद्यार्थी जो सीखना चाहते थे, सीखते थे। शिक्षक जो जानते थे, सिखाते थे।

(स) शिक्षण विधियाँ :

इनका मन्तव्य छात्रों के मस्तिष्क को वाह्य सामग्री के साथ अनुकूलन कराना होता है। ये विधियाँ अध्ययन और अध्यापन दो प्रकार ही होती है। **प्रथम** के अर्न्तगत शिक्षा पाठ्य सामग्री को शिष्य के मस्तिष्क की क्षमता को देखकर, उनकी समझ के अनुसार, अनुकूल बनाकर प्रस्तुत करता है। **द्वितीय** में छात्र स्वयं विषय वस्तु को आत्मसात् करता चलता है। यहाँ विधियों से तात्पर्य दोनों प्रकार की विधियों से है।

सासांरिक वस्तुओं और सामाजिक जीवन के साथ व्यक्ति के सम्बन्धों को सरस और लाभप्रद ढ़ंग से सम्पन्न कराने के लिये विधियों की कल्पना की जाती है। वस्तुतः व्यक्ति और समाज प्रथक सत्तायें है। विधि का प्रयोजन व्यक्ति के मस्तिष्क को बाह्रय सामग्री के साथ अनुकूल तथा विपरीत वस्तुओं के साथ सम्पर्क स्थापित करना होता है। अस्तु पाठ्य–सामग्री को छात्रों के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि वह उसके लिये रूचिकर हो जाये तथा मस्तिष्क सजग होकर बाह्रय सामग्री को यथार्थ रूप में ग्रहण कर सके।

मनुष्य जाति के संचित अनुभवों के पीछे पाठ्यवस्तु एवं प्रस्तुति का ढ़ंग दोनों ही होते है। इस व्यवस्था में अनुभव की दिशा और दशा में अधिक नियंत्रण

सम्भव होता है। अनुभव के स्थायी और गतिशील दो लक्षण है। गतिशील पक्ष स्थाई तत्व पर अधिक नियंत्रण करने के ढ़ंग का उद्घाटन करता है और पाठ्य विधि का भेद निश्चित करता है।

प्राचीन काल में निर्मित की गईं विधियाँ इसी अनुबन्ध के गतिशील पक्ष पर आधारित थी, और सफलता के कारण मान्यता पा गईं। वे तत्व मूलक अथवा तर्क सम्मत हों या न हों परन्तु उनमें मनोवैज्ञानिक तथ्य अवश्य था, क्योंकि इनके द्वारा गन्तव्य की प्राप्ति अवश्य होती है, साथ ही रूचिपूर्ण भी हैं। प्रकारान्तर में विभिन्न प्रयोगों में कतिपय विधियाँ हस्तान्तरित होकर आज भी चल रही है।

(द) प्रासंगिकता :

व्यक्ति है, जो सदैव रहेगा और उसके साथ उसकी सारी कमजोरियाँ भी रहेगीं। उन कमजोरियों, प्रलोभनों, आकांक्षाओं में फँसा व्यक्ति अपने अन्दर की निहित क्षमताओं, सम्भावनाओं की विशेषता के कारण, उनसे पार भी पाना चाहता रहेगा। उसे उन तरीकों, विधियों, प्रणालियों की आवश्यकता पड़ती रहेगी जो उसके पूर्वजों ने अपने अनुभवों की धरोहर सौंपी है।

युग परिवर्तन के साथ सामाजिक स्थितियों के अनुरूप उन्हें युग–ग्राह्य, शिक्षा विदों को बनाना पड़ता है। जिससे व्यक्ति और समाज की आकांक्षा, मूल्य, अभिरूचि समायोचित हो सकें। नवीन–सन्दर्भों में पूर्व के अनुभवों का प्रयोग व परीक्षण बार बार करना होगा। इस प्रकार जो जो निष्कर्ष निकलेंगे, उन्हें समय की आवश्यकता के अनुरूप नये रूपों में ढ़ालना होगा ताकि प्रासंगिकता बनी रहे और समाज और व्यक्ति लाभान्वित हो सकें।

प्राचीन और वर्तमान में बहुत अन्तराल है तथा समाज की बहुत भिन्नता है। समय का प्रवाह किसी को भी क्षमा नहीं करता है। परन्तु पाठ्यचर्या और विधियों में प्रासंगिकता सधः स्नात् बनाये रखने हेतु भारतीयों ने एक कला खोज निकाली है। सतत् अवर्तित होने वाली चेतना द्वारा शास्त्रों की पुनः पुनः व्याख्या, पूर्व के अनुभवों का प्रयोग व परीक्षण, युगानुरूप फिर फिर उनका आँकलन, परिवर्धन, मूल्याँकन, द्वारा सदा नवीन अर्थ खोज लिये जाते है। इस प्रकार शास्त्र और

अनुभूतियाँ जितनी युग से पीछे रह जाती है, हम उन्हें फिर फिर खींच लाते है।इस प्रकार अनुभवों की प्राचीन धरोहर पुनः पुनः नवीन तरोताजा होकर हमारे सामने आती रहती है। नये सन्दर्भो में नवीन अर्थ जीवन्त हो, खिलावट बनते है। पिछले सन्दर्भो में जीवन में जो जो घटता रहा है, बदलते समय में मनुष्य की चेतना ने जो नई नई करवटें ली है। और नई–नई विद्यायें खोजी हैं जो अनुभव किये है, उन सबको समाविष्ट करके प्राचीन धरोहर को आधुनिक बना दिया जाता है।

अनुभवों पर अर्थो की कलमें लगती रहें प्रयोग व परीक्षण होते रहें युग के अनुरूप नई सार्थक अभिव्यंजना होती रहे, मस्तिष्क विद्यायक भाव में पूर्वाग्रह से रहित होकर प्रयासरत रहे जो पुरानी भी नई में बदलती रहती है।

2. वर्तमान अध्ययन की आवश्यकता तथा औचित्य :

धन, सम्पदा, पद का अर्थ व प्रयोजन हैं, क्योंकि ये सब साधन है परन्तु जीवन तो स्वयं साध्य है। जीवन किसी और का साधन नहीं है। महत्वाकांक्षा के कारण आज धन की अत्यधिक भूख है, तथा सत्ता लोभ ने जीवन की गरिमा और व्यक्ति की अस्मिता को दर किनार कर दिया है। चारों ओर प्रतिस्पर्धा का घमासान है। व्यक्ति को संसाधन मान लिया है, विवेक को ज्ञान ने निगल लिया, और ज्ञान को सूचना ने किनारे लगा दिया है। भारत के सारे मूल्य ध्वस्त है और पश्चिम का प्रभाव जीतता मालूम पड़ रहा है। छल, प्रपंच, धूर्तता को बुद्धिमानी का नाम दिया जा रहा है। नियम अनुशासन भुलाकर, अराजकता के पैर पसर गये हैं।

वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था में जनसंख्या वृद्धि से गम्भीर समस्यायें उत्पन्न हो गई है। शिक्षा प्रशासन मूल भूत शैक्षिक समस्याओं से अनभिज्ञ है। प्रबन्ध समितियाँ शिक्षा की ओर विमुख है। शिक्षक अपने कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन हैं। विद्यार्थी अनुशासन हीन एवं उद्दण्ड हो गये है। परीक्षा ऐन केन प्रकारेण उत्तीर्ण करने के लिये छात्र चेष्टारत है। सम्पूर्ण शिक्षा जगत में अनिश्चितता की स्थिति बन गई है। शिक्षा के विभिन्न स्तरों की समस्याओं के निराकरण के लिये अनेक आयोगों समितियों के सुझाव आये, परन्तु समस्यायें नये–नये रूपों में तेजी से बढ़ती जा रहीं हैं।

शिक्षा सुधार की दिशा में पुनः पुनः विचार की आवश्यकता है। मूल्यों को आज के सन्दर्भ में पुनः व्याख्यित करना है। प्राचीन शिक्षा की विधियों का परीक्षण, प्रयोग द्वारा उनमें सार्थकता को खोज निकालना होगा। वर्तमान में युगानुकूल उनकी प्रासंगिकता को उभारना होगा।

प्राचीन काल के आचार्यो ने अपने ज्ञान, अनुभव प्रशासनिक क्षमता के द्वारा विभिन्न शैक्षिक समस्याओं का निराकरण एवं उन्मूलन किया। सुदृढ़ शिक्षा–संगठन एवं परम्पराओं को विकसित किया। पाठ्यचर्या और विधियों का निर्माण किया, जो मनोदशाओं के अनुकूल था। इसके साथ ही साथ छात्रों को भी ग्राह्म और आकर्षित करने वाला था।

वर्तमान कठिनाई, समस्या के निदान हेतु प्राचीन पाठ्यचर्या एवं शिक्षण विधियाँ किस सीमा तक सहायक हो सकती है ?

उपलब्ध शोध एवं पुस्तकों में प्राचीन शिक्षा के सम्बन्ध में दार्शनिक पक्षों एवं उद्देश्यों का बाहुल्य देखने में आता है। पाठ्यचर्या एवं शिक्षण पद्धतियाँ संक्षिप्त है तथा वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता का सर्वथा अभाव है। अतः शोधकर्ता प्राचीन पाठ्यचर्या तथा शिक्षण पद्धतियों की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता के विषय की ओर शोधकार्य के लिये आकर्षित हुआ है। अतः इस शोध कार्य का शीर्षक : **"प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या और शिक्षण पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन और वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता"** है।

3. वर्तमान अध्ययन के उद्देश्य :

प्राचीन भारतीय शिक्षा पर उपलब्ध अधिकांश अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किये गये है। इनमें पाठ्यचर्या और शिक्षणविधियों का क्रम बद्ध एवं आलोचनात्मक विवरण उपलब्ध न होने के कारण आधुनिक शिक्षा शास्त्र के छात्रों की मानसिक भूख मिट नहीं पाती है। अतः इस वर्तमान अध्ययन के निम्न उद्देश्य है–

(अ) वैदिक, बौद्ध नव्य–ब्राह्मण काल की पाठ्यचर्या की क्रमबद्ध एवं आलोचनात्मक विवेचन करना है।

(ब) वैदिक, बौद्ध, नव्य–ब्राह्मण कालीन शिक्षण विधियों की विवेचना करना है।

(स) आधुनिक समय सन्दर्भ में प्राचीन भारत की पाठ्यचर्या की प्रासंगिकता का अध्ययन करना है।

(द) आधुनिक समय में प्राचीन भारतीय शिक्षण–विधियों की अनुकूलता तथा वर्तमान समय सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता की खोज निकालना है।

(य) निष्कर्षों के आधार पर पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों के सदुपयोग हेतु सुझाव, प्रस्ताव करना है।

4. प्रस्तुत शोध की परिकल्पनायें :

परिकल्पनाओं का निर्माण करने से समस्या का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव होता है। इससे अनावश्यक एवं व्यर्थ के तत्व नहीं आ पाते है। अतः परिकल्पना की रचना अनुसंधान कार्य हेतु महत्वपूर्ण है। यद्यपि ऐतिहासिक शोध कार्य में परिकल्पना आवश्यक नहीं समझी जाती है। परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में यह उपयोगी प्रतीत हो सकती है।

प्रस्तुत शोध में दो परिकल्पनायें ली गई है–

(अ) प्राचीन पाठ्यचर्या वर्तमान शिक्षा संरचना के सन्दर्भ में प्रासंगिक नहीं है।

(ब) कतिपय प्राचीन विधियों का प्रयोग वर्तमान शिक्षण प्रक्रिया हेतु विशेष उपयोगी होने से, प्रासंगिक हैं।

5. प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त शोध विधि : (ऐतिहासिक शोध विधि)

प्रस्तुत शोध में ऐतिहासिक शोध–विधि का प्रयोग है। इस विधि में वैज्ञानिक सोपान सन्निहित रहते हैं। **जॉन डब्ल्यू वेस्ट के अनुसार** "ऐतिहासिक अनुसंधान ऐतिहासिक समस्याओं के अन्वेषण में वैज्ञानिक पद्धति की अनुप्रयुक्ति होती है।" इसमें अतीत को विशेष दृष्टिकोण से जाँच परखकर अध्ययन किया जाता है तथा तथ्यों को एकत्रित करके वर्गीकृत किया जाकर, उसकी विवेचना की जाती है। तत्पश्चात तर्कसंगत निष्कर्ष निकाले जाते है। प्रदत्त प्राप्त करने हेतु प्राथमिक एवं गौण स्रोत निकाले जाते है।

(अ) प्राथमिक स्रोत :

प्राथमिक स्रोत व्यक्ति, संस्था, घटना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते है।

इनके अन्तर्गत मूल ग्रंथ, राज–लेख, शासनादेश, प्रतिवेदन, दैनन्दनियाँ, वंशावलियाँ, मूर्तियाँ, चित्र, शिल्प, शिलालेख, मुद्रायें तथा भग्नावशेष आदि आते है। प्रस्तुत अनुसंधान में 'वेद' ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, सूत्र, स्मृति, पुराण, जातक, मिलिन्द–प्रश्न तथा दिव्यावदान आदि अनेकानेक ग्रंथों को प्राथमिक स्रोत के रूप में उपयोग किया गया है।

इसके साथ वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में, प्राचीन शिक्षा पद्धति में प्रचलित शिक्षण विधियों की प्रासंगिकता वर्तमान सन्दर्भ में कितनी है, को समझने तथा तथ्यों हेतु शोधकर्ता द्वारा प्रश्नावली का प्रयोग किया गया है। यद्यपि ऐतिहासिक अध्ययन विधि में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती है, फिर भी कुछ तथ्यों की पुष्टि के लिये प्रश्नावली तैयार की गई है, और उसे मानकीकृत किया गया है तत्पश्चात् उसे प्राचीन शिक्षण पद्धति पर आधारित शिक्षण संस्थाओं के प्रमुखों का दृष्टिकोण जानने के लिये किया गया है।

(ब) गौण स्रोत :

इन स्रोतों के रचनाकार सम्बन्धित व्यक्ति और संस्थाओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते है। साथ ही ये लेखक घटना के प्रत्यक्षदर्शी भी नहीं होते है। ये लोग अध्ययन और श्रवण करके घटनाओं का वर्णन करते है। इसके अन्तर्गत ऐतिहासिक, साहित्यक तथा सांस्कृतिक ग्रंथ, पत्रिकायें, 'जनरल्स' समाचार पत्र आदि आते हैं। प्रस्तुत अध्ययन ए. एस. अल्टेकर द्वारा रचित "ऐजुकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया" : आर. के. मुखर्जी प्रणीत "एन्सियेन्ट इण्डियन एज्युकेशन" तथा एस. के. दास द्वारा लिखित "एज्यूकेशनल सिस्टम आफ द एन्सिएन्ट हिन्दूज" के साथ, अन्याय अनेकानेक ग्रंथों को गौण स्रोत के रूप में प्रयोग किया गया है।

(स) आन्तरिक तथा वाह्य आलोचना :

प्राथमिक और गौण स्रोतों से संकलित प्रदत्तों की सत्यता एवं यर्थाथता का मूल्यांकन आवश्यक है। इस प्रक्रिया को आलोचना कहते है। यह वाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार से की गई है।

इस शोध में उन्हीं सम्बन्धित ग्रंथों, पुस्तकों से सामग्री संकलित की

जायेगी जो प्रमाणिक व्यक्ति द्वारा प्रकाशित है और अपने मौलिक रूप में है। अतएव वाह्य एवं आन्तरिक आलोचना के आधार पर वे प्रामाणिक एवं विश्वसनीय मान्य है।

6. अध्ययन की सीमायें :

(अ) भारत का इतिहास छः प्रमुख कालों में विभाजित है। स्पष्ट रूप से इन युगों की शिक्षा का समय निर्धारित किया गया है। प्रस्तुत शोध काल में प्रथम तीन काल अर्थात् आरम्भ से 600 ई0 पूर्व तक वैदिक काल,तत्पश्चात् से 550 ई0 पूर्व तक बौद्ध काल चला, तीसरा नव्य–ब्राह्मण काल जो 1200 ई0 पूर्व तक इस अध्ययन में लिया गया है।

(ब) प्राचीन कालीन सम्पूर्ण शिक्षा की विवेचना न करके उसके दो लघु प्रसंगों, पाठ्यचर्या और शिक्षण पद्धति को लेकर वृह्द रूप में उनके विकास और उनकी पृष्ठभूमि की विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत शोध में की गई है।

(स) विभिन्न समय सन्दर्भ के अर्न्तगत पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों पर प्रयोग होते रहे है। उन प्रयोगों का वर्तमान पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों में हस्तान्तरण का अध्ययन, प्रस्तुत शोध में किया गया है।

(द) प्राचीन पाठ्यचर्या और शिक्षण पद्धति की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता को खोज निकालने का प्रयास किया गया है।

7. शोध संगठन :

प्रस्तुत शोध से सम्बन्धित विभिन्न माध्यमों से सामग्री का संग्रह किया गया है। उन्हें ऐतिहासिक प्रमाणों के रूप में प्रयुक्त करने हेतु सावधानीपूर्वक अप्रचलित एवं अव्यावहारिक शब्दों व परम्पराओं से बचा गया है। सार्थक एवं सन्दर्भित दत्तों को क्रमबद्ध किया गया है। मूल लेखन की अर्थवता को समझने हेतु कतिपय विद्वानों, भाषा विशेषज्ञों और सम्बन्धित क्षेत्र के विषय मर्मज्ञों, से समय–समय पर परामर्श लिया जाता रहा है। अतएव आवश्यक संशोधन, परिवर्त्तन और परिमार्जन शोध कार्य में किये जाते रहे है। पूर्वधारणाओं, विश्वासों से यथासम्भव बचते हुए दत्तों को संगठित किया गया है। शोध की विकासात्मक प्रक्रिया को बनाये रखने में प्रयोज्य, व्यवस्थित दत्तों को वर्गीकृत, क्रमबद्ध करते हुए, ऐतिहासिक प्रमाण जुटाए गये है।

सम्बन्धित शोध साहित्य के अध्ययन हेतु कतिपय शैक्षिक अनुसंधान केन्द्रों व संग्रह स्थलों पर जाकर जानकारी नोट की गई है। इससे चुनी गई समस्या के आधतन ज्ञान और अनुत्तरित प्रश्नों का समाधान सम्भव हुआ है।

शोध केन्द्र, डी0 वी0 कालेज के पुस्तकालय से यद्यपि शोध से सम्बन्धित प्रचुर मात्रा में समग्री उपलब्ध हुई है, फिर भी कतिपय ग्रंथों, लेखों भाष्यों को अध्ययन के लिये अन्यत्र से भी उन्हें प्राप्त किया गया है।

प्रस्तुत शोध में सम्बन्धित उन्हीं अनुवादित ग्रंथों, टीकाओं, भाष्यों अभिलेखों आदि को चुना गया है, जो अधिकारिक विद्वानों द्वारा प्रकाशित हैं और वे अपने मौलिक रूप में है तथा वाह्य और आन्तरिक आलोचना के आधार पर प्रमाणिक एवं विश्वसनीय हैं।

प्रस्तुत शोध प्रयोजनशील एवं सार्थक बना रहे, इस हेतु शैक्षणिक समस्या की समझ के लिये पृष्ठभूमि आवश्यक है। इस हेतु इतिहास में समकालीन शिक्षा की प्रमुख समस्याओं या क्षेत्रों के रूप में कार्यपरक आधार अपनाया गया है।

समय विशेष के प्रभावपूर्ण प्रभावों को दृष्टि में रखते हुए, विषयवस्तु संगठित की गई है। दत्तों का चयन एवं व्यवस्था के लिये प्रारम्भिक रूपरेखा बनाना, सहायक प्रतीत हुआ है। जब दत्तों का क्रमबद्ध रूप से संग्रहीत कर लिया जाता है, तभी आवश्यकतानुसार यदा कदा पुनः निरीक्षित किया जाना सम्भव हुआ है।

प्राचीन शिक्षा पद्धति से चल रहे दो प्रकार के तीन केन्द्रों के शिक्षा प्रमुखों का अभिमत प्राप्त करने हेतु एक स्वनिर्मित प्रश्नावली को मानकीकृत करके, प्रयोग में लाया गया है। जिससे पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों के प्रयोग व उनकी वर्तमान में उनकी प्रासंगिकता की पड़ताल हो सकी है। इसके साथ ही साथ वर्तमान में शिक्षा की समास्याओं के समाधान हेतु उनके अनुभवों और विधि–प्रयोगों का परीक्षण भी ज्ञात किया है। प्राप्त दत्तों को संगठित व सम्पादित किया है। विद्यालयों की तालिका तृतीय अध्याय में दर्शित है। उनसे प्राप्त दत्तों व तथ्यों को छटवें तथा सातवें अध्याय में दिया गया है। प्रश्नावली मूल रूप में परिशिष्ट में संलग्न है।

सन्दर्भ :

भइरप्पा, एस.एल. (1968) : *वेल्यूज इन माडर्न इंडियन एजुकेशनल थाट्स,* अनुलेख, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली ।

भट्ट,एस.आर. : *थ्योरीज ऑफ नालेज एण्ड थ्योरीज ऑफ एजुकेशन,* अनुलेख, एन.सी.ई.आर.टी.।

हास्पर्स जॉन : *ऐन इंट्रोडक्शन टू फिलोसोफिकल एनेलेसिज़,* एलाइड पब्लिशर्स।

हर्स्ट, पी.एच. (1974) : *नालेज एण्ड करिकुलम,* रूटलेज एण्ड कीगन पॉल, लंदन।

यंग, एम.एफ.डी. : *नालेज एण्ड कंट्रोल ।*

कंप्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द।

ब्लूम, बी.एस. एवं अन्य (1956) : *टैक्सोनोमी आफ एजुकेशनल आब्जेक्टिव्स,* मेके, न्यूयार्क।

पीटर्स, आर.एस. (1971) : *एथिक्स एण्ड एजुकेशन,* एलेन ऐण्ड अनविन, लंदन।

शेषाद्रि, सी. (1987) : *मल्टीडाइमेंशनल रोल आफ टीचर्ज,* आर.आई.ई.एम., एन.सी.ई.आर.टी.।

शेषाद्रि, सी. (1987) : *दि एकेडेमिक डिसिप्लन एण्ड वेल्यू ओरिएंटेशन–ऐन एपिस्टेमोलाज्किल एक्सप्लोरेशन* 'पर्सपेक्टिक्स इन एजुकेशन' खंड 4, संख्या 1 में।

मेहरोत्रा, आर.एन. (1983) : *चेंजिंग, प्रोफाइल आफ दि टीचर* (इन दि पीरियड 2001–2025), एन.सी.ई.टी., एन.सी.ई.आर.टी।

ब्रूडी हैरी (1978) : *एथिक्स एण्ड एजुकेशनल पालिसी* में टेक्नोलाजी एण्ड एजुकेशनल वेल्यूज संस्करण, स्ट्राइक, के.ए. और ईगन, के., आर.के.पी. लंदन।

हचिन्स राबर्ट (1968) : *दि लर्निंग सोसाइटी,* पेंग्युइन बुक्स।

एन.सी.ई.आर.टी. (2000) : *इन्फारमेशन टेक्नोलाजी एण्ड दि स्कूलिंग प्रोसेस।*

यूनेस्को (1998) : *बेसिक एजुकेशन फार एंपावरमेंट आफ दि पूअर,* बैंकाक।

विश्व बैंक (1999) : *वर्ल्ड डिक्लेरेशन आन एजुकेशन फार आल।*

भारत सरकार (1949) : *रिपोर्ट आफ दि यूनीवर्सिटी एजुकेशन कमीशन।*

पाण्डेय, आर.एस. : *शिक्षा दर्शन,* विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (1998)

मिश्र, आत्मानन्द : *शिक्षा का वित्त प्रबन्धन,* ग्रंथम रामबाग कानपुर (1976)

मिश्र, आत्मानन्द : *भारतीय शिक्षा की अर्थ व्यवस्था,* (भोपाल : म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी 1973)

दास सन्तोषकुमार : *द एजुकेश्न सिस्टम आफ द एन्शेंट हिन्दूज,* कलकत्ता : मिश्रा प्रेस (1930)

मिश्र, आत्मानन्द : *द फाइनेंसिंग आफ इण्डियन एज्यूकेशन,*बम्बई : ऐशिया पब्लिशिंग हाउस (1967)

स0 राधाकृष्णन : *इण्डियन फिलासफी,* ग्रंथ प्रथम व द्वितीय, लंदन (1951)

चटर्जी, सतीशचन्द्र : *दत्त, धीरेन्द्र मोहन, भारतीय दर्शन,* पुस्तक भण्डार, पटना (1994)

ओशो : *ताओ उपनिषद,* रेवल पब्लिशिंग हाउस, 50 कोरेगांव पार्क, पूना (1995)

ए.पी.जे.अब्दुल कलाम तथा वाई.सुन्दर राजन : *भारत 2020 राजपाल एण्ड सन्ज,* काश्मीरी गेट, दिल्ली (2002)

अध्याय - द्वितीय

सम्बन्धित साहित्य

1. शैक्षिक ग्रंथ एवं शैक्षिक साहित्य
2. विवेचना तथा वर्तमान से तुलना
3. प्रस्तुत शोध समस्या से सम्बन्धित शोध-प्रबन्ध
   अ. विदेश में
   ब. देश में
   स. उत्तर प्रदेश में
4. शोध विवेचना एवं वर्तमान से तुलना

सम्बन्धित साहित्य

"मानव अतीत के ज्ञान के आधार पर नवीन ज्ञान का सृजन करता है। अतीत का ज्ञान सम्बन्धित साहित्य से ही प्राप्त होता है।" – शर्मा एवं राय।

विषय से सम्बन्धित साहित्य के अर्न्तगत पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं, प्रकाशित एवं अप्रकाशित शोध–ग्रन्थों, विविध प्रकार के अभिलेखों एवं ज्ञानकोषों का अध्ययन किया गया है। इसके अध्ययन से शोधकर्त्ता को समस्या के चयन, परिकल्पना के निर्माण तथा अध्ययन की रूपरेखा तैयार करने एवं शोधकार्य को अग्रसर करने में सुविधा हुई है। अतएव अध्ययनकर्त्ता के लिये विषय से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन एवं सर्वेक्षण अनिवार्य है।

जॉन डब्ल्यू0 ब्रेस्ट के अनुसार – "मनुष्य अतीत के संचित और असंचित ज्ञान के आधार पर नवीन ज्ञान का सृजन करता है तथा इस सृजित ज्ञान से अनवरत क्रमबद्धता एवं प्रगतिशीलता बनी रहती है।"

सम्बन्धित साहित्य के अध्ययन से आगामी अनुसंधान कार्य की उपयोगिता का ज्ञान हो जाता है तथा पुनरावृत्ति होने की शंका का निवारण हो जाता है। समस्या के व्यवस्थापन की दृष्टि से उपयोगी विचार , सिद्धान्त तथा उपकल्पनायें प्राप्त हो जाती हैं तथा समस्या के अनुकूल शोध–प्रणाली का गठन करने में सुविधा होती है। परिणामों के व्याख्या करने की दृष्टि से उपयोगी एवं तुलनात्मक दत्तों की खोज हेतु प्रोत्साहन मिलता है तथा शोधकर्ता के सामान्य ज्ञान का विकास होता है।

अध्ययनकर्ता को पुस्तकालयों, समाचार–पत्रों, सन्दर्भ तथा अन्यान्य साधनों से शोध विषय से सम्बन्धित साहित्य का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके अध्ययन से अनुसंधान कार्य क्रमबद्ध होता है तथा अनुमानित तथ्यों की प्राप्ति में शोधकर्ता को सहायता मिलती है।

अनुसंधानकर्ता ने विभिन्न स्रोतों से, प्रस्तुत शोधकार्य से सम्बन्धित साहित्य का संकलन करने का प्रयास किया है तथापि अनेक प्रयत्नों के उपरान्त भी इस प्रस्तुत शोध कार्य से सम्बन्धित कोई भी पाश्चात्य शोध–साहित्य उपलब्ध नहीं हो सका। निःसन्देह इस कार्य से सम्बन्धित कतिपय भारतीय शोध ग्रन्थ तथा अन्य शैक्षिक ग्रन्थ उपलब्ध है। इनका विवरण अग्रांकित पृष्ठों में किया गया है।

1- शैक्षिक ग्रन्थ एवं शैक्षिक साहित्य :-

प्राचीन भारतीय शिक्षा पर लिखे गये पी–एच0डी0 उपाधि हेतु शोध –प्रबन्धों के अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने इस विषय पर अनेक पुस्तकों की रचना की है। ये ग्रन्थ प्रस्तुत शोध–कार्यों के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। इन ग्रन्थों में विविध अनुसंधान तत्व प्राप्त होते है। अतएव इनकी उपेक्षा करना न्यायसंगत नहीं है। इन ग्रन्थों का संक्षेप में उल्लेख कर देना सम्बद्ध साहित्य के अर्न्तगत ही जायेगा। इनका वर्णन एवं विवेचन अग्रांकित पृष्ठों में किया गया है।

(i) **एम0 एम0 मजूमदार – हिस्ट्री ऑफ एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया (बम्बई) : मैकमिलन एण्ड कम्पनी, 1916**

सम्भवतः इस विषय की यह प्रथम प्रकाशित पुस्तक हैं। इसमें प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों, शिक्षा–संगठन, गुरु–शिष्य सम्बन्ध तथा अध्यापन–विधियों आदि कि व्याख्या कि गयी हैं। इनमें यत्र तत्र संस्कृत ग्रन्थों के सन्दर्भ भी दिये गये हैं। इस पुस्तक की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इनमें विषय का बहुत ही रोचक ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

(ii) **एस0 के0 दास– एजूकेशनल सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, कलकत्ता : मिश्रा प्रेस, 1933**

इस पुस्तक में प्राचीन भारतीय शिक्षा का व्यापक एवं विस्तृत वर्णन किया गया है। इस वृहद विवरण के साथ ही इसमें प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये 2774 सन्दर्भ भी सन्निहित है। इसमें कुल पन्द्रह अध्याय हैं। इनमें शिक्षा के घटक उद्देश्य, प्रारम्भिक माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

(iii) **प0 स0 अल्तेकर– एजूकेशन ऑफ एन्सियेन्ट इण्डिया बनारस : नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, 1940**

मूलतः इसमें ग्यारह अध्याय हैं परन्तु अनुवर्ती संस्कणों में बारह कर दिये गये हैं। इनमें शिक्षा की संकल्पना, आदर्श, सिद्धान्त, संगठन तथा शिक्षा के केन्द्रों पर पृथक–पृथक अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त प्राथमिक शिक्षा वृत्तिक शिक्षा, स्त्री पाठ्यक्रम, शिक्षण–पद्धति और परीक्षा प्रणाली आदि का भी वर्णन किया गया है अन्त में सारांश देकर इस शिक्षा की सफलता और असफलता का आंकलन किया गया है।

(iv) **एफ0 ई0 केई– इण्डियन एजूकेशन इन एन्सियेन्ट एण्ड लेटर टाइम्स, लन्दन आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1942**

इसमें वैदिक कालीन शिक्षा के अभ्युदय एवं विशेषताओं पर पृथक–पृथक अध्याय दिये गये हैं। तदनन्तर पाठ्यक्रम, शिक्षण–विधि, व्यावसायिक शिक्षा, स्त्री शिक्षा, बौद्धशिक्षा की अलग–अलग व्याख्या की गयी है। इसमें भी संस्कृत ग्रन्थों के पर्याप्त सन्दर्भ दिये गये हैं।

(v) **आर0 के0 मुखर्जी– एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन, वाराणसी : मोती लाल बनारसी दास, 1947**

इसमें ब्राह्मणीय तथा बौद्धकालीन शिक्षा का व्यापक विवरण दिया गया है। पूर्व उत्तर तथा उत्तरोत्तर वैदिक कालीन शिक्षा का वर्णन करने के उपरान्त पाणिनी तथा कौटिल्य के समय की शिक्षा की पृथक व्यवस्था की गयी है। औद्योगिक तथा विधि शिक्षा के अलग–अलग अध्याय हैं। बौद्धकालीन शिक्षा के अन्तर्गत पाठ्यक्रम, शिक्षण–प्रणाली, अनुशासन, आवास तथा अध्यापन के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी गयी है। छठवीं तथा सातवीं शताब्दी की शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा तथा शिक्षा केन्द्रों का वर्णन किया गया है।

(vi) **सी0 कुन्हन राजा – सम एसपेक्ट्रस ऑफ एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया, मद्रास : अद्‌यार पुस्तकालय, 1950**

यह मद्रास विश्वविद्यालय में लेखक द्वारा दिये दो व्याख्यानों का संग्रह है। प्रथम व्याख्यान में धर्म–ग्रन्थों में वर्णित शिक्षा की अध्यापन–विधियों तथा पाठ्य विषयों का उल्लेख है। द्वितीय व्याख्यान में शिक्षा के प्रयोजन, अनिवार्य एवं वैकल्पिक पाठ्यक्रम शिष्य–जीवन तथा स्त्री–शिक्षा का विवेचन किया गया है इन भाषण–मालाओं में संस्कृत ग्रन्थों के पर्याप्त उद्धरण सन्निहित है।

(vii) **डी0 जी0 आप्टे : यूनिवर्सिटी इन एन्सियेन्ट इण्डिया, बड़ौदा, यूनिवर्सिटी प्रेस, 1958**

इस पुस्तिका में तक्षशिला, नालन्दा विक्रमशिला तथा वल्लभी के अति प्रसिद्ध शिक्षा–केन्द्रों का वर्णन किया गया हैं इसमें इन केन्द्रों से सम्बन्धित पाठ्यक्रम, प्रणाली, प्रवेश नियम, अध्ययन–प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया गया है।

इन संस्थाओं के वातावरण तथा प्रमुख शिक्षकों की तालिका भी दे दी गयी हैं। विद्वानों के प्रासंगिक उद्धरण भी इसमें सन्निहित किये गये है।

2- विवेचना एवं वर्तमान से तुलना :-

उपर्युक्त पुस्तकों में दास, मुखर्जी तथा अल्तेकर द्वारा रचित ग्रन्थों में ही शिक्षा की विशद, विस्तृत तथा व्यापक विवेचना की गयी है। ये ग्रन्थ अनुसन्धान परक हैं। दास ने शिक्षा के घटकों की दृष्टि से सन्दर्भों के प्रमाण में व्याख्या की है। ये अत्यधिक रोचक एवं पठनीय हैं। इससे अधिक सन्दर्भ और किसी पुस्तक में नही दिये गये है। यद्यपि मुखर्जी ने पर्याप्त सन्दर्भ दिये हैं। इन्होंने समय अथवा काल का तथा विख्यात ग्रन्थों की, दृष्टि को प्रधान रखा है। इससे यदा–कदा आवर्तन हुआ है और वर्णन की निरन्तरता भंग हुई है। निःसन्देह शैक्षिक सामग्री इसमें पर्याप्त मात्रा में दी गयी हैं। यदि दास ने शैक्षिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी है तो मुखर्जी ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण को, अल्तेकर की पुस्तक अपेक्षाकृत लघु है और उसमें गागर में सागर भरने का प्रयास किया गया है। किन्तु कहीं–कहीं उसका विस्तृत विवेचन नहीं हो पाया है।

प्रस्तुत शोध–कार्य ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक पुस्तकों एवं शोध कार्यो पर निर्भर करता हैं। यही कारण है कि शोधकर्त्ता ने सर्वप्रथम भारतवर्ष में किये गये शोधकार्यों को टटोला है। यह शोधकार्य वर्तमान शीर्षक (प्रस्तुत शोध समस्या) से सम्बन्धित है। इसके उपरान्त शोध–समस्या के इतिहास से सम्बन्धित पुस्तकों को भी लिया गया है। यह दोनों प्रकार के साहित्य प्रस्तुत शोधकर्ता द्वारा किये गये कार्य से बिल्कुल भिन्न है।

3- प्रस्तुत शोध से सम्बन्धित शोध प्रबन्ध :-

(अ) विदेश में :

समस्या से सम्बन्धित पाश्चात्य साहित्य उपलब्ध नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में सारे प्रयास व्यर्थ गए मैक्समूलर द्वारा लिखित जो भी साहित्य है, वह अधिकतर प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद के रुप में हैं तथा रहस्यात्मक पक्षों के निरुपण के साथ ही, पश्चिम की दृष्टि के साथ, आश्चर्यवत् प्रशस्ति ज्ञापित करने वाले हैं। अनुसंधान कार्य हेतु मात्र उद्धरण के लिये उपयोगी प्रतीत हुए हैं।

इस शोध से सम्बन्धित कोई अन्य शोध विदेश में शोधकर्त्ता को उपलब्ध नहीं हुआ है। सम्भावना यही है कि विदेश में इस प्रकार का शोध न हुआ हो।

(ब) देश में :

(i) **वी0 बी0 गोखले – बुद्धिस्ट एजुकेशन इन इण्डिया एण्ड एब्राऊ, पी–एच0डी0 एजूकेशन बम्बई विश्वविद्यालय, 1951**

गोखले के इस शोध–कार्य का उद्देश्य बौद्ध धर्म के विभिन्न अंगो में शिक्षा के उद्भव और विकास, उसको प्रभावित करने वाले अनेक घटकों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। शोध–कर्त्ता ने इसकी तुलना ब्राह्मणीय, जैन, मुस्लिम तथा ईसाई शिक्षा–संगठनों से भी की है। इस अध्ययन–कार्य की संप्राप्तियों से ज्ञात होता है कि बौद्ध शिक्षा–पाठ्यक्रम में मूलतः धार्मिक विषयों का सन्निवेश किया गया था, परन्तु कालान्तर में इसमें अनेक विद्याओं, उद्योगों तथा विविध सम्प्रदायों के दार्शनिक विषयों को भी स्थान प्रदान किया गया।

(ii) **एन0 देश पाण्डेय– दि जैन सिस्टम ऑफ एजूकेशन, पी–एच0डी0 इन एजूकेशन, बम्बई विश्वविद्यालय, 1955**

इस शोध में जैन शिक्षा–व्यवस्था के सम्पूर्ण अंगों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुये इसकी तुलना ब्राह्मणीय, बौद्ध एवं योरोपीय शिक्षा–पद्धति से की गयी है। इस कार्य के परिणामों से ज्ञात होता है कि जैन शिक्षा संगठन पूर्णतया धार्मिक था। इसके उद्देश्य बालकों का सर्वांगीण विकास करने में सक्षम थे। पाठ्यक्रम में धार्मिक विषयों के साथ ही शनैः शनैः लौकिक विषयों को भी सम्मिलित किया गया था। विधियाँ पाठ्यक्रम में सन्निहित विविध विषयों के अनुकूल थी।

(iii) **एच0 झा – एजुकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया विद स्पेशल रेफरेन्स टु वाल्मीकि रामायण, पी–एच0डी0 एजूकेशन, बिहार विश्वविद्यालय, 1972**

प्रस्तुत शोध–कार्य का प्रमुख अभिप्राय वाल्मीकि रामायण के सन्दर्भ विशेष में प्राचीन भारतीय शिक्षा का विशिष्ठ अध्ययन करना है। इस कार्य के निष्कर्षों से ज्ञात होता है कि रामायण–काल में शैक्षिक संगठनात्मक स्वरुप, आदर्शात्मक शैक्षिक उद्देश्यों का विशेष महत्व था। अध्ययनकर्त्ता का मत है कि वाल्मीकि रामायण में वर्णित शैक्षिक दृष्टिकोणों को वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में सन्निहित किया जा सकता है।

(iv) वी0एन0 मिश्र–ए स्टडी ऑफ दि हिस्टारिकल एण्ड एजूकेशनल ऐसपेक्टस ऑफ नालन्दा, पी–एच0डी0 इतिहास, सागर विश्वविद्यालय, 1979

इन शोध कार्यों का प्रमुख लक्ष्य नालन्दा विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक एवं शैक्षिक पक्षों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि में आचार्य, पुस्तकालय और छात्रों की प्रवेश प्रक्रिया का विशद वर्णन किया गया है। नालन्दा में निर्धारित पाठ्यक्रम एवं शिक्षण–पद्धतियों का वर्णन भी संक्षेप में मिलता है। अनुसंधान कार्य के निष्कर्षों से ज्ञात होता है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय था। यहाँ देश–विदेश के छात्र आकर अध्ययन करते थे। ज्ञानार्जन की क्षमता रखने वाले छात्रों को प्रवेश दिया जाता था। पाठ्यक्रम में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के दार्शनिक विषयों के साथ ही लौकिक विषयों का शिक्षण भी प्रदान किया जाता था। शिक्षण–विधियाँ मुख्यतया मौखिक थी। इन्हीं के विभिन्न रुपों का प्रयोग किया जाता था।

(v) एस0 एम0 दिवाकर– ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ एजूकेशनल फिलासफी ऑफ उपनिषद, पी–एच0डी0 एजूकेशन, मैसूर विश्वविद्यालय, 1960

वर्तमान भारतीय शिक्षा–व्यवस्था से सम्बन्धित कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुये, इस अनुसन्धान कार्य में औपनिषदिक–दर्शन की पृष्ठभूमि में शैक्षिक उद्देश्यों, पाठ्य विषयों तथा शिक्षण विधियों आदि का अध्ययन विस्तृत रूप से किया है। इस अध्ययन के निष्कर्षों से ज्ञात होता हैं कि यद्यपि उपनिषदों को महत्व दिया गया था, तथापि अन्य उपयोगी एवं व्यावहारिक विषयों की उपेक्षा नहीं की गयी थी। शैक्षिक आदर्श एवं मान्यतायें, बालकों का सर्वांगीण विकास करने में समर्थ थी।

(vi) आर0 झा0 – ए स्टडी ऑफ एजूकेशन लाइफ इन दि आर्षइपिक, पी–एच0डी0 संस्कृत, बिहार विश्वविद्यालय, 1961

झा के इस कार्य का उद्देश्य आर्ष महाकाव्यों में सन्निहित शिक्षा का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुये विद्यार्थी जीवन के आदर्श एवं विशेषताओं को प्रकट करना है। इस अध्ययन के प्रमुख स्रोत उपनिषद धर्मसूत्र, रामायण, महाभारत, गीता, रामचरित मानस, गरूणपुराण, कादम्बरी तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम आदि ग्रन्थ हैं। इसकी संप्राप्तियों से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में आध्यात्मिक,

चारित्रिक, सामाजिक, व्यवसायिक तथा मानसिक सद्‌गुणों का छात्रों में विकास शिक्षा का पुनीत कर्तव्य था। शिष्य के वातावरण और मानसिक दशाओं के अनुसार ज्ञान प्रदान किया जाता था। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान किया जाना उस समय की प्रमुख विशेषता थी। सम्पूर्ण शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य छात्रों को अन्तिम सत्य से भिज्ञ कराना था। अनुसन्धानकर्त्ता का विचार है कि यदि आर्ष महाकाव्यों में वर्णित कतिपय शैक्षिक आदर्शो एवं मान्यताओं को वर्तमान शैक्षिक पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया जाये तो आधुनिक शिक्षा का स्तर श्रेष्ठ हो सकता है।

(vii) **आर0 एन0 सफाया– ए क्रिटिकल एण्ड हिस्टारिकल एनालिसिस ऑफ साइकोलाजीकल स्पैकुलेशन इन इण्डियन फिलासफिकल लिटरेचर, पी–एच0डी0 आर्ट्स, पंजाब विश्वविद्यालय, 1965**

इस अध्ययन का प्रमुख अभिप्राय भारतीय दार्शनिक साहित्य में मनोवैज्ञानिक परिकल्पनाओं का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक विश्लेषण करना है तथा अनुभव, अवलोकन, तर्क, अन्तदृष्टि तथा अन्तर्चिन्तन आदि मनोवैज्ञानिक विधियों का आधार दार्शनिक ग्रन्थों में खोजना है। इस शोध–कार्य के निष्कर्षो से ज्ञात होता है कि दर्शन सम्बन्धी विषयों के लिये अपनाई जाने वाली शिक्षण विधियाँ पूर्णतया उपयुक्त एवं मनोवैज्ञानिक थी, तथा इनके प्रयोग से विषय–वस्तु, छात्रों के लिये ग्राह्य एवं आकर्षक हो जाती थी।

(viii) **के0 शरतचन्द्र – एजूकेशन इन वाल्मिकि रामायण, पी–एच0डी0 संस्कृत, गोहाटी विश्वविद्यालय, 1967**

शोध–कर्त्ता ने वाल्मीकि रामायण में वर्णित शिक्षा–व्यवस्था के विभिन्न अंगो का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इनकी संप्राप्तियों से ज्ञात होता है कि जीवन में पर्यावरण के महत्व को स्पष्ट करना था। उन्हें लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के लिये तैयार किया जाता था। पाठ्यक्रम अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत था। इसमें धार्मिक विषयों के साथ ही लौकिक विषयों को भी स्थान प्रदान किया गया था। बालिकायें भी औपचारिक शिक्षा से लाभान्वित होती थीं। महाकाव्यों में वर्णित सामग्री हृदय प्रधान होने से भाव–कल्पना के पुट के कारण 'काव्य' की परिधि में आता है, अतः यदाकदा तथ्यों से दूर जा पड़ता है, अतएव शोध–कार्य में अत्यन्त सावधानी और सजगता की

आवश्यकता कदम–कदम पर पड़ती रहती है। काव्यों में रूपकों प्रतीकों द्वारा बात की जाती है जिसके भावार्थ, शब्दार्थ, प्रकीतार्थ, गूढ़ार्थ, अनेकार्थ होने से तथ्य संकलन में बाधा उपस्थित होती ही रहती है। फलतः प्रमाणीकरण बाधित होता है।

(स) उत्तर -प्रदेश में :

(i) **के0 एन0 मिश्र – ए स्टडी ऑफ दि एजूकेशनल सिस्टम ड्यूरिंग दि उपनिषदिस्टक एज आफ इण्डिया, गोरखपुर, 1978**

मिश्र के इस शोध–कार्य का प्रमुख उद्देश्य उपनिषदों में वर्णित शैक्षिक उद्देश्यों, पाठ्य–विषयों तथा विधियों आदि का विश्लेषण करते हुये वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था के सन्दर्भ में इसकी उपादेयता का आंकलन करना है। शोध–कार्य के परिणामों से ज्ञात होता है कि उपनिषद काल में चारित्रिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक वर्णित उद्देश्यों पाठ्य विषयों तथा विधियों आदि का विश्लेषण करते हुये वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था के सन्दर्भ में इसकी उपादेयता का आंकलन करना है शोध–कार्य के परिणामों से ज्ञात होता है कि उपनिषद काल में चारित्रिक, मानसिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक आदि शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य थे तथा पाठ्यक्रम अत्यन्त व्यापक था। इसमें सभी उपयोगी विषयों का सन्निवेश किया गया था। शिक्षण–विधियाँ पाठ्यक्रम की प्रकृति के अनुकूल थीं। अध्ययनकर्ता की मान्यता है कि इन्हें वर्तमान शिक्षा–प्रक्रिया में व्यवहृत करके इसकी त्रुटियों को दूर किया जा सकता है।

(ii) **वी0 सरन – दि गुरूकुल सिस्टम ऑफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड इट्स इम्पलीकेशन टू माडर्न टाइम्स, पी–एच0डी0 एजूकेशन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1968**

इस शोध–कार्य का प्रमुख लक्ष्य गुरूकुल शिक्षा प्रणाली का विश्लेषण करना है तथा यह देखना है कि किस सीमा तक इसके आदर्शों एवं मूल्यों को वर्तमान शिक्षा–प्रणाली में व्यहृत किया जा सकता है। इस अनुसंधान कार्य की सम्प्राप्तियों से ज्ञात होता है कि गुरूकुल शिक्षा–प्रणाली अत्यन्त उपयोगी एवं व्यावहारिक थी। यह प्रणाली छात्रों का मानसिक, चारित्रिक सामाजिक और व्यावसायिक विकास करने में समर्थ थी। शोध–कर्त्ता का विचार है कि यदि गुरूकुल शिक्षा–प्रणाली को व्यवहार में लाया जाये तो इसमें सुधार हो सकता है।

(iii) **सी0 चटर्जी – एन्सियेन्ट एजूकेशन ऐज डिस्क्राइब्ड इन उपनिषद, पी–एच0डी0 एजूकेशन, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1950**

चटर्जी के इस अनुसंधान का प्रमुख उद्देश्य उपनिषदों में वर्णित हिन्दू शिक्षा का विश्लेषण करना है, इसके साथ–साथ यह भी देखना है कि किस प्रकार इसने व्यक्ति विशेष के आध्यात्मिक, मानसिक तथा सामाजिक विकास में सहायता पहुँचाई है। इस शोध–कार्य के निष्कर्षों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन शिक्षा में ज्ञानार्जन हेतु छात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि एवं अनुवांशिकता का विशेष महत्व रहा है। पाठ्यक्रम में धार्मिक विषयों के साथ लौकिक विषयों का भी समावेश किस प्रकार किया गया था।

(iv) **पी0 एन0 पाण्डेय– ''करीकुलम एण्ड मैथेड्स ऑफ एन्सियेन्ट एजूकेशन एण्ड देयर यूटीलिटी इन द मार्डन टाइम'', पी–एच0डी0 एजूकेशन, कानपुर विश्वविद्यालय, 1983**

इस शोध–कार्य में यद्यपि पाठ्यक्रम और पद्धतियों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। परन्तु प्राचीन और वर्तमान में बहुत अन्तराल है, समाज में भिन्नता है। समय प्रवाह में बहुत कुछ बह गया है। अतः इस शोध में संप्रत्यात्मक प्रारूपों का उल्लेख नहीं हुआ जिनमें मूलभूत परिवर्त्तन नहीं होता है। इसके साथ–साथ शिक्षा की नीतियों के सन्दर्भ में विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित पाठ्यक्रम अछूता ही रहा और विधियों के सन्दर्भ में विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित विधियाँ तथा शिक्षा की नीतियों के सन्दर्भ में भी शोध–कार्य मौन रहा है। प्रासंगिकता सद्यःस्नात बनी रहे – इस हेतु भारतीयों ने जो एक कला खोज निकाली है, कि सतत् आवर्तित होने वाली चेतना द्वारा शास्त्रों की पुनः–पुनः व्याख्या पूर्व के अनुभवों का प्रयोग व परीक्षण युगानुरूप फिर–फिर उनका आँकलन, परिवर्धन, मूल्यांकन द्वारा सदा नवीन अर्थ खोज लिए जाते रहे हैं जिससे शास्त्र व अनुभूतियाँ जितनी युग के पीछे रह जाती है, संप्रत्यात्मक प्रारूपों में युग ग्राह्य बनाकर, फिर–फिर नवीन अर्थ जीवन्त होकर खिलावट पाते हैं। इस सन्दर्भ में भी यह शोध–कार्य मौन ही रहा है। इसके अलावा प्राचीन काल के तीनों कालांशों को भी अलग–अलग दर्शाया गया है।

4- शोध विवेचना एवं वर्तमान शोध से तुलना :-

'झा' और 'सफाया' के शोध–कार्यों से, उनके द्वारा दर्शाये गये मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधारों से, प्रस्तुत शोध की पद्धतियों की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने में सहायता मिल सकती है। यद्यपि उपर्युक्त सभी अनुसंधान, प्राचीन भारतीय शिक्षा से सम्बधित हैं, तथापि इनके विषय और प्रसंग तथा काल–खण्डों में अन्तर है। गोखले (1951) तथा देशपाण्डे (1955) ने क्रमशः बौद्ध और जैन–शिक्षा पर शोध–कार्य किया है। वैदिक–काल और नव–ब्राह्मण काल के अभाव में सम्पूर्ण प्राचीन युग का यह अंशमात्र ही रह गया। इसके साथ–साथ, यद्यपि शिक्षा के क्रमिक विकास और उद्देश्यों पर बल अधिक दिया, तथापि शिक्षण–व्यवस्था का उल्लेख करते हुये, संक्षिप्त पाठ्यक्रम एवं विधियों का भी वर्णन किया है।

चटर्जी (1950) दिवाकर (1960) तथा मिश्र (1978) के उपनिषद कालीन शिक्षा पर अनुसंधान किया है। चटर्जी और दिवाकर ने उसके दार्शनिक आधार पर बल दिया है, जबकि मिश्र ने उसके उद्देश्यों, पाठ्यक्रम और पद्धतियों पर बल दिया है। इसमें वैदिक–काल का बहुत थोड़ा सा भाग अध्ययन में शामिल है तथा बौद्धकाल, नव–ब्राह्मण काल दोनों नदारत हैं। झा (1961) ने महाकाव्यों में सन्नहित शिक्षा और झा (1972) वाल्मीकि रामायण आधारित शिक्षा पर अनुसंधान–कार्य किया है, जो प्राचीन भारतीय शिक्षा का पूरा चित्रण नहीं करता है। सफाया (1955) ने अपने शोध के प्रसंग में पद्धतियों के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष का भी उल्लेख किया है।

सरतचन्द्र (1967) शरण (1968) ने क्रमशः वाल्मीकि रामायण में वर्णित शिक्षा व्यवस्था तथा गुरूकुल शिक्षा–प्रणाली पर शोध–कार्य किया है।

प्रस्तुत–शोध में प्राचीन काल के अर्न्तगत वैदिक, बौद्ध तथा नव–ब्राह्मण काल सम्मिलित है जो किसी अन्य में एक साथ नहीं हैं। इस शोध–कार्य में वांछित प्रसंगों की विस्तृत व्याख्या है जो अन्यों में नहीं है। अन्य शोध–कार्यो में क्रमबद्धता और तारतभ्यता का सर्वथा अभाव है जबकि प्रस्तुतशोध में यह कमी नहीं मिलेगी। अन्य शोधों में सम्पूर्ण शिक्षा की विवेचना की गई है जबकि प्रस्तुत शोध में, सीमित काल खण्ड न होकर सम्पूर्ण प्राचीन काल के अर्न्तगत वांछित प्रसंगों–

पाठ्यक्रम एवं पद्धतियों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अतः विभिन्न कालों में शैक्षिक व्यवस्था की समानताओं और विकास पर दृष्टि डाली जा सकती है। इसके अलावा :– वर्तमान समय में प्रासंगिकता खोज निकालने हेतु– (अ) वर्तमान पाठ्यचर्या में विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित पाठ्यक्रम तथा शिक्षा नीतियों के द्वारा हस्तान्तरित पाठ्यक्रम (ब) वर्तमान शिक्षण विधियों में विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित शिक्षण–विधियाँ तथा शिक्षा नीति के द्वारा हस्तान्तरित शिक्षण विधियों का अध्ययन भी प्रस्तुत शोध में सम्मिलित है।

सन्दर्भ :

बुच, एम.बी. (1974) : *ए सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजूकेशन,* एम.एस. यूनीवर्सिटी, बड़ौदा

बुच, एम.बी. (1979) : *सेकेण्ड सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजूकेशन,* सोसाइटी फॉर एजूकेशनल रिसर्च एंड डबलपमेन्ट, बड़ौदा

बुच, एम.बी. (1987) : *थर्ड सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजूकेशन,* एन.सी.ई.आर.टी., नई–दिल्ली

बुच, एम.बी. (1991) : *फोर्थ सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजूकेशन,* खण्ड (1 तथा 11) एन.सी.ई.आर.टी., नई–दिल्ली

फिफ्थ सर्वे ऑफ एजूकेशन रिसर्च, (खण्ड 1, ट्रैण्ड रिपोर्ट), 1997 एन.सी.ई.आर.टी., नई–दिल्ली

फिफ्थ सर्वे ऑफ एजूकेशन रिसर्च, (खण्ड 11, एब्सट्रैक्टस), 2000 : एन.सी.ई.आर.टी., नई–दिल्ली

नेशनल पॉलिसी ऑन एजूकेशन (1986) मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई–दिल्ली

नेशनल पॉलिसी ऑन एजूकेशन (1986) प्रोग्राम ऑफ एक्शन, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई–दिल्ली

यादव, एम.एस :, कौल, एल : रॉय, एस : तथा लक्ष्मी, टी.के.एस. (1989) *रिसर्च पॉलिसी इन दि पर्सपेक्टिव ऑफ नेशनल डेवलपमेन्ट, एजूकेशनल रिसर्च* : मेथोडालाजिकल पर्सपेक्टिब्स, एम.एस. यूनीवर्सिटी, बड़ौदा.

अध्याय - तृतीय

शोध प्रविधि

1. ऐतिहासिक शोध-विधि
2. समस्या से सम्बन्धित प्राथमिक स्रोत
3. समस्या से सम्बन्धित गौण स्रौत
4. वाह्य और आन्तरिक आलोचना

शोध प्रविधि

अनुसंधानात्मक साहित्य में सामान्यतः 'प्रक्रिया' एवं 'विधि' शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है। इसका कारण यह है कि साधारणतः दोनों ही शब्द अनुसंधानात्मक अध्ययन में प्रयुक्त 'उपकरण' एवं 'प्रविधियों' के सूचक समझे जाते हैं। ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में किये गये शोधात्मक अनुसंधान विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। परन्तु इन सभी में न्यूनाधिक अन्तर के साथ लगभग एक–सी ही प्रक्रिया के सोपान प्रयुक्त किये जाते हैं। विभिन्न प्रयोजनों एवं उपागमों के आधार पर अनुसंधानात्मक अध्ययनों में भेद किया जाता है और इस भेद को विधियों का भेद कहा जा सकता है। विविध विधियों का प्रयोग करने वाले अध्ययनों की प्रक्रियाओं के सोपानों में सामान्यतः कोई विशेष भेद नहीं होता है। अतः स्पष्ट होता हैं कि शैक्षिक अनुसंधान में प्रक्रिया के सोपान, शैक्षिक अन्वेषकों के लिये समान रुप से प्रयोग में लाये जाने वाले तत्व हैं, जबकि शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान की विधियाँ, विभिन्न प्रकार के शोधों में स्पष्ट व विस्तृत विभेद करने वाली विशेषताऐं हैं।

'विधि' पद प्रयोग 'आंशिक उपागम' अथवा 'प्रविधि' के पर्यायवाची के रुप में न हो सके, इस हेतु यह अच्छा होगा कि प्रमाण खोजने के अनगिनत प्रयोजनों, एवं ढंगों, का तथा उसके विश्लेषण एवं व्याख्या करने के ढंगों का निम्न वर्गीकरण सामान्य–रुप, मान्य विधियों के अर्न्तगत कर लिया जाये।

1– ऐतिहासिक अभिलेखों अथवा दस्तावेजी प्रमाण

2– आदर्श मूलक सर्वेक्षण अथवा वर्णनात्मक

3– प्रयोगात्मक

4– वे अन्य विधियाँ जो जटिल कार्य–कारण सम्बन्ध के लिये प्रयुक्त की जाती हैं।

उपरोक्त वर्गीकरण कर लेने से विभिन्न पद्धतियों के बीच अधिक उभयनिष्टता अथवा अव्यवस्था नहीं हो पायेगी क्योंकि वे सरल हैं और सामान्य बुद्धि पर आधारित हैं।

वर्तमान प्रस्तुत शोध में यद्यपि उपरोक्त विधियों में से ऐतिहासिक विधि प्रयुक्त की जायेगी परन्तु आवश्यक होने पर एक से अधिक विधियों का प्रयोग

भी किया जा सकता है, क्योंकि जैसे–जैसे समस्या का समाधान करने हेतु उसके इतिहास का अध्ययन ऐतिहासिक विधि द्वारा सम्पन्न होता हुआ आगे बढ़ेगा वैसे–वैसे ही विधि में परिवर्तन एवं नवीन बातों के योग की तथा उसके वर्तमान स्तर के निध ्ारण हेतु वर्णनात्मक विधि की आवश्यकता पड़ सकती है।

प्रविधि (तकनीकें) वे उपकरण हैं, जो दत्त संकलन में प्रयुक्त होते होते हैं। विधि, अनुसंधान प्रविधि को चुनने एवं निर्माण करने का व्यवहार हैं।

1- ऐतिहासिक शोध विधि :-

एक समाज का इतिहास प्रायः उसकी सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार होता हैं। अतः समाज की वर्तमान संस्थाओं, समस्याओं व विचार–धाराओं के विशिष्ट स्वरूप को ज्ञात करने के लिये, उसके ऐतिहासिक अनुसंधानों की आवश्यकता होती है। इसके माध्यम से अतीत की शिक्षा सम्बन्धी दार्शनिक विचार धाराओं, पद्धतियों, आवश्यकताओं तथा मूल्यों की जानकारी उपलब्ध होती है, तथा उनके सन्दर्भों में वर्तमान समय में शिक्षा–जगत की समस्या तथा व्यवस्था का सन्दर्भ मिलता है। तत्कालीन समाज की संरचनाओं, संस्थाओं, रूढियों, निषेधों व आदर्शों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का, उपयोगी ज्ञान उपलब्ध होता है। ऐतिहासिक अनुसंधान अतीत की पृष्ठभूमि में विचार–धाराओं की व्याख्या करते हुए, वर्तमान समय की आवश्यकताओं के सन्दर्भ में मूल्याकंन करता है। इस प्रकार नीति निर्धारण के मार्गदर्शन में, ऐतिहासिक अनुसंधानों से सहायता व सुविधा मिलती है। इसके अतिरिक्त वे अतीत की त्रुटियों के प्रति सतर्क तथा भविष्य के लिये सचेत करते हैं।

सैद्धान्तिक अनुसंधान की तुलना में सार्थक ऐतिहासिक अनुसंधान का स्पष्ट क्रियात्मक एवं व्यावहारिक प्रयोजन होता है। इसमें अतीत के अनुभवों के पूर्णतयाः अनोखे पक्षों में रुचि न रखकर, उन तत्वों के प्रति सजगता प्रदर्शित की जाती है, जो वर्तमान एवं विचारणीय समस्याओं के विश्लेषण में परिक्षणीय सामान्यीकरण के आधार पर उपयोगी सिद्ध हो सकें। ऐतिहासिक अनुसंधान के द्वारा :–

(अ) व्यावसायिक परीक्षण की दृष्टि से शैक्षिक अभिकरणों के इतिहास का बोध होता है।

(ब) यह शैक्षिक पूर्वाग्रहों को समाप्त करने का सर्वशक्तिमान हल है।

(स) पूर्व धारणाओं एवं दिखावों को निकालते हुए, सुधार हेतु प्रारम्भिक विषय वस्तु प्राप्त होती है।

(द) समस्याओं के मूल के प्रकाश में, शिक्षा से जुड़े लोग अथवा जनता द्वारा निष्पक्ष विचार हो सकता है।

(य) शिक्षा के वैज्ञानिक अध्ययन में ऐतिहासिक पक्ष सहायक हैं, न कि प्रतिद्वन्दी हैं। अतीत के आदर्श, मूल्य एवं स्तरों को प्रस्तुत कर, सम्बन्धित जनों को अतीत की त्रुटियों से बचने की सामर्थ्य प्रदान करता है।

(र) इससे ज्ञात होगा कि किस प्रकार क्रियाकलाप स्थान्तरित होते हैं तथा शिक्षा का नियंत्रण तथा सम्बल अत्यधिक सरल स्थानीय व्यवस्था से वर्तमान की केन्द्रीभूत एवं जटिल व्यवस्था के रुप में किस प्रकार प्रस्तुत हो गया है।

(ल) यह गूढ़ विद्वता के प्रति आदर तथा महान शिक्षकों के प्रति श्रद्धा को प्रोत्साहित करता है।

ऐतिहासिक शोध के प्रमुख सोपान :

ऐतिहासिक शोधकर्त्ता को शोध करने की अन्य किसी विधि को प्रयुक्त करने के समान ही समस्या का चयन, परिभाषित कर, परिसीमन आदि प्रारम्भिक सोपानों का अनुगमन करना पड़ता है। परन्तु उसकी समस्या का समाधान अन्य शोधकर्त्ताओं से भिन्न होता है क्योंकि यह प्रयोगात्मक अथवा निरीक्षण पर आधारित न होकर निरीक्षणों के ऐसे प्रतिवेदनों पर आधारित होता है, जिसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती है।

ऐतिहासिक शोध के प्रमुख सोपान तीन हैं :–

(i) प्रमुख एवं गौण स्रोतों के माध्यम से दत्तों का संकलन।

(ii) संकलित दत्तों की आन्तरिक एवं वाह्य आलोचना।

(iii) तथ्यों के संगठन, संचरना,स्पष्टीकरण तथा व्याख्या की समस्याओं का पाठनीय रूप में प्रस्तुतीकरण।

2- समस्या से सम्बन्धित प्राथमिक स्रोत :-

मौलिक अभिलेखों अथवा उन अवशेषों को, जो घटना अथवा तथ्यों के प्रमुख साक्षी होते हैं। वे ऐतिहासिक शोध के आधारभूत दत्तों के स्रोत होते हैं तथा इसके लिये ठोस तथा सबल आधार प्रस्तुत करते हैं। ये प्रमुख स्रोत कहलाते हैं। जाने एवं अनजाने दोनों प्रकार के प्रमाणों में केवल निरीक्षक के विचार एवं चिन्तन

ही मौलिक घटना, और उस घटना के सम्बन्ध में सूचना को प्रयोग करने वाले के मध्य कार्य करते हैं। प्रस्तुत शोधकार्य में प्रमुख स्रोत के रूप में निम्न ग्रन्थों का उपयोग हुआ हैं –

(अ) वैदिक कालीन ग्रन्थों में :

(i) **ऋगवेद, सामवेद, युर्जवेद, अथर्व्वेद** पर सभी का जयदेव विद्यालंकार, स्वामीदयानन्द सरस्वती द्वारा साम तथा ऋगवेद (पाँच भाग) नाथूराम गुप्त द्वारा चारों वेदों की भाषा टीका का उपयोग हुआ है।

(ii) **उपनिषद में प्रमुख** ईश, केन, कठ्, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक, ऐतरेय, तैन्तिरीय श्वेताश्वर, छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक में श्रीपाद सात वड़ेकर और महात्मा नारायण स्वामी तथा नाथूराम गुप्त द्वारा हिन्दी अनुवाद और भाषा टीका का उपयोग किया गया है।

(iii) **सूत्रों में** गौतम, वोधायन, गोमिल, अश्वपलायन, ब्रह्मसूत्र, ये पांच है आचार्य श्रीराम शर्मा के अलावा उक्त सन्दर्भ में खेमराज श्री कृष्णादास बम्बई के प्रकाशनों से भी सहायता ली गई है।

(iv) **षट् दर्शन में** न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त ये छः हैं। उक्त सन्दर्भ में श्रीराम शर्मा आचार्य (गायत्री) द्वारा हिन्दर में प्रकाशनों की, सहायता ली गई है।

(v) **ब्राह्मण एवं आरण्यक में** शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक विशेष हैं। इनका हिन्दी अनुवाद भाषा–टीका नाथूराम जी द्वारा हुआ है पर प्रकाशित नहीं हो सकें है। उन्हीं से इस सम्बन्ध में सहयोग लिया गया है।

(ब) बौद्धकालीन ग्रन्थों में :

मज्झिम–निकाय, दीर्घ–निकाय, अंगुतर–निकाय, संयुक्त–निकाय, महानिदान–सुत्त, महापरिनिर्वाण–सुत्त, माध्यमिक–शास्त्र, ब्रह्मजाल–सुत्त धम्मपद, मिलिन्द प्रश्न, जातक, कथावस्तु, त्रिपिटक आदि के, हिन्दी अनुवादों की सहायता ली गई है।

(स) नव्य ब्राह्मण कालीन में :

अत्रि, स्मृति, पारासर–स्मृति, विशिष्ट संहिता, कौटिल्य अर्थशास्त्र, चाणक्य नीति, कर्पूर मंजरी, काव्यमीमांसा, पंचतंत्र मुद्राराक्षस, मेघा तिथि आदि पर लेखों, अनुवादों, टीकाओं, प्रकाशनों का उपयोग किया है। **पुराणों में**– अग्नि, पद्म, भविष्य, मत्स्य, पर गीता–प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशनों का उपयोग हुआ है।

इसके साथ ही साथ वर्तमान शिक्षा से सम्बन्धित तथ्यों को समझाने के लिये शोधकर्त्ता ने एक स्वनिर्मित प्रश्नावली का प्रयोग, मानकीकृत करने के पश्चात, प्राचीन शिक्षा पर आधारित कुछ वर्तमान शिक्षा प्रमुखों का अभिमत ज्ञात करने हेतु किया है। इसका सम्पादन प्रमुख रुप से कानपुर शहर तथा कानपुर–जनपद और उन्नाव–जनपद स्थित दो प्रकार के विद्यालयों पर किया गया है। इससे ज्ञात होगा कि प्राचीन कालीन शिक्षा–पद्धति से वर्तमान सन्दर्भ में चर्या और विधि में, प्रयोगों द्वारा क्या और कितना हस्तान्तरण हुआ है।

इसके साथ वर्तमाान शिक्षा में वे कितना प्रांसगिक हो रही हैं। समस्या समाधान में कौन सी विधियाँ उपयोगी पाई गई हैं। दीर्ध–कालीन व कष्ट साध्यचर्या को आधुनिक मनुष्य के लिये सरलीकृत, शीघ्र परिणामदायी, जीवनोपयोगी बनाया जा सका है। ये विद्यालय निम्न हैं :

क्षेत्र	शिक्षा केन्द्र	सन्त भक्त	छात्र	शिक्षक
उन्नाव जनपद	गुरूकुल शिक्षा केन्द्र, शुक्लागंज	4	55	5
कानपुर जनपद	गुरूकुल विद्यालय, विठूर	6	30	5
कानपुर नगर	बौद्ध शिक्षा केन्द्र, सन्तनगर, कानपुर	11	70	9
	योग–	21	155	19

प्रश्नावली द्वारा शोधकर्त्ता के जो दत्त एवं तथ्य ज्ञात हुए हैं। उन्हें छटवें तथा सातवें अध्याय में दर्शाया गया है। प्रश्नावली मूल रुप से परिशिष्ट के अन्तर्गत संलग्न है।

3- समस्या से सम्बन्धित गौण स्रोत :-

जिन व्यक्तियों ने न तो मौलिक घटना को देखा है, और न ही, उसमें सहभागी रहें हैं, उनके द्वारा लिखित पुस्तकें, लेख, हमारी सूचना के गौण साधन हैं। अतः गौण दत्त वे हैं, जो पहिले ही संकलित किये जा चुके हैं, और प्रस्तुत अनुसंधान कर्त्ता के अतिरिक्त किसी और व्यक्तियों द्वारा प्रतिवेदित हैं। ये बहुघा वे प्रकाशन हैं जो प्राथमिक दत्तों का प्रतिवेदन करते हैं।

पुस्तकालय में उपलब्ध, शोधक्षेत्र में विद्यमान, सूचना के स्रोत प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दो प्रकार हैं। शिक्षा साहित्य में सूचना के **प्रत्यक्ष स्रोत** निम्न हैं, जिनका प्रस्तुत शोध कार्य में उपयोग किया गया है।

(अ) ऐतिहासिक, साहित्यक तथा सांस्कृतिक ग्रंथ, वार्षिक पुस्तकें, बुलेटिन पत्रिकाएँ 'जनरल्स'।

(ब) **शोधप्रबन्ध :** द्वितीय अध्याय में वर्णित सभी का अवलोकन किया गया हैं।

(स) **विविध स्रोत :** शासन द्वारा शिक्षा पर प्रकाशन।

अप्रत्यक्ष स्रोत में सूचना की निर्देशिकाएँ निम्न रुपों में प्राप्त हैं :

(अ) शिक्षा के विश्वज्ञान–कोष।

(ब) शिक्षा सूची–पत्र, शिक्षा सार, सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं निर्देशिकाएँ, उद्धरण स्रोत आदि।

(स) शैक्षिक ग्रंथ एवं शैक्षिक साहित्य में– एम0 एम0 मजूमदार; एस0 के0 दास; अल्तेकर; केई; आर0के0 मुखर्जी; सी0 कुन्हन राजा; डी0 जी0 आप्टे; डा0 दास गुप्ता; वेलवेकर तथा रानाडे; चटर्जी और दत्त; आर0 एन0 शर्मा; मैक्समूलर; डा0 राधाकृष्णान; महेन्द्र शेखावत; बलदेव उपाध्याय; सूरजमल सिमाणी; डॉ0 रामशकल पाण्डेय; डॉ0 आत्मानन्द मिश्र आदि अनेकों लेखकों द्वारा अनेकानेक रचित ग्रन्थों का उपयोग प्रस्तुत शोध कार्य में किया गया है।

4- ऐतिहासिक आलोचना :-

शोध कार्य में संकलित दत्तों का विश्लेषण तथा मूल्यांकन करते समय भ्रान्तपूर्ण, निरर्थक तत्वों को छाँट कर अलग करते हुए, सार्थक; वैद्य; विश्वसनीय दत्तों को प्राप्त किया जाता है। इन्हें ऐतिहासिक प्रमाण कहा जाता है। ऐतिहासिक आलोचना के नाम से यह प्रक्रिया के दो भाग होते हैं– बाह्य और आन्तरिक आलोचना ।

(अ) वाह्य आलोचना :

इसका उद्देश्य दत्तों की सत्यता अथवा यथार्थता को स्थापित करना है। शोधकर्त्ता का श्रममिथ्यापूर्ण लेखों पर व्यर्थ नष्ट न हो, इस हेतु भी वैद्यता पर जोर दिया है। इनका सम्बन्ध उस प्रश्न से है कि क्या प्रलेख वास्तव में वही हैं, जो उनका उद्देश्य है अथवा उद्देश्य प्रतीत होते हैं। शोधकर्त्ता को विश्वास है कि दत्तों के स्वरुप से सम्बन्धित सभी तत्व संगत हैं; इसके साथ ही लेखक प्रमाणित व्यक्ति हैं व सर्व स्वीकार्य हैं। ज्ञात तथ्य और लेख उस काल के शिल्प विज्ञान की

दृष्टि से संगतपूर्ण हैं। सार्थक एवं सन्दर्भित दत्तों को ऐतिहासिक प्रमाण के रुप में प्रयुक्त किया गया है।

(ब) आन्तरिक आलोचना :

संग्रहीत प्रलेखों के महत्व और यथार्थता का मूल्यांकन करना इसका उद्देश्य है। सम्भव है कि कोई प्रलेख प्रमाणिक हो पर विश्वसनीय न हो। सम्भव है कि वह सत्य हो परन्तु सहअनुसंधान किये जाने वाली, घटना, व्यक्ति अथवा समय का चित्रण सही न हो। लेखक यद्यपि ईमानदार, सक्षम हो परन्तु सम्भव है, कि उसका उद्देश्य सत्य वर्णन को खण्डित करना हो। सम्भव है कि उसने प्रलोभन अथवा भयवश कार्य किया हो। अतः घटनाओं, में से व्यर्थ को छाँटना, प्रथक करना तभी सम्भव हो सकता है, जब कई–कई अनतरालों के बाद बार–बार सूक्ष्म परीक्षण हो। इसके बाद ही ऐतिहासिक प्रमाण के रुप में दत्तों का उपयोग किया गया है।

प्रलेखों के वास्तविक अर्थ और शाब्दिक अर्थों की जानकारी हेतु तथा प्रस्तुत शोधकार्य को वस्तुपरक, यथार्थ और परिशुद्ध बनाने के लिये आवश्यकतानुसार, सम्बन्धित व्यक्तियों व विशेषज्ञों से समय–समय पर परामर्श लिया जाता रहा है तद्नुसार आवश्यक संशोधन, परिवर्त्तन तथा परिमार्जन करते हुए शोधकार्य को गति दी गई है। अतीत के प्रलेखों को समझने व समझाने में साहित्यक कृत्रिमताएँ छाँटी गई हैं। अप्रचालित एवं अवयावहारिक शब्दों व परम्पराओं के कारण होने वाली कठिनाइयों से यथासम्भव बचा गया है। मूल लेखन के वास्तविक अर्थों को समझा गया है। इस समझ को सकारात्मक आन्तरिक आलोचना कहा गया हैं।

कथन को चुनौती देने में संभावित कारण निम्न रहे है :–

पूर्वाग्रह; धार्मिक अन्ध–विश्वास; राजनैतिक पक्षधरता; निहित अंहकार व महत्वकांक्षा; साहित्यक आण्डम्बर; विषय से भटकना; आधे अधूरे सत्यों का कथन; विरोधी व असंगत कथन; तथ्यों की असंगति आदि।

उपरोक्त दृष्टि के साथ शोधकार्य से सम्बन्धित विभिन्न माध्यमों द्वारा सामग्री का संग्रह करते हुए सार्थक दत्तों को अन्तरालों में क्रमबद्ध किया गया है। फलतः आवश्यकतानुसार यदाकदा पुनः निरिक्षित भी किया गया है। इस प्रकार प्राप्त दत्तों को संगठित एवं सम्पादित करते हुए शोधकार्य को विकसित किया गया है।

सन्दर्भ :

आल्मैक, जे0 सी0 : *रिसर्च एण्ड थीसिस राइटिंग*– लन्दन, हटन मिफिन कं0, 1930

वेस्ट, जॉन डब्ल्यू0 : *रिसर्च इन एजूकेशन– यू0 एस0 ए0, प्रेन्टिस हाल, (इंक)* एंग्लिवुड क्लिप्स,1959

गुड, कार्टर वी0, ए0एस0 बार एण्ड डगलस ई0 स्केट्स : मैथोडोलाजी आफ एजूकेशनल रिसर्च– न्यूयार्क, एपिलटन सैंचुरी क्राफ्टस (इंक) 1941

गुड, कार्टर वी0, एजूकेशनल रिसर्च– न्यूयार्क, एपिलटन सैंचुरी क्राफ्टस (इंक) 1959

हिलवे, टी0 एच0 : इन्ट्रोडक्शन टु रिसर्च– बोस्टन, हाटन मिफिन कं0 1955

स्मिथ, हैनरी लेस्टर : एजूकेशनल रिसर्च– प्रिन्सीपिल्स एण्ड प्रेक्टिसैज, ब्लूमिंगटन एजूकेशनल पब्लिकेशन्स, 1941

पटेल, ए0 एस0 एवं लुल्ला वी0 पी0 : इसैन्शल्स ऑफ राइटिंग रिसर्च रिपोर्ट–सी0 ए0 एस0 ई0 एजुकेशनल मोनोग्राफ्स E–2 फैकल्टी ऑफ एजुकेशन एण्ड साइकोलाजी, बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

वर्मा, एम0 : इन्ट्रोडक्शन टु एजुकेशन एण्ड साइकॉलाजिकल रिसर्च, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1965

सिन्हा, एस0 एन0 : पर्सपेक्टिब्स इन इन्टरव्यूइंग–जर्नल ऑफ वोकेशनल एण्ड एजुकेशनल गाइडैन्स, वॉल्यूम 5 नं0 2 नवम्बर 1959,

सिन्हा, एच0 सी0 : शौक्षिक अनुसंधान, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1979.

उदयशंकर व एस0 पी0 आलूवालिया(सम्पादक) रिसर्च नीड्स इन द स्टडी ऑफ एजुकेशन कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र 1968.

अध्याय - चतुर्थ

परिचय

(अ) वैदिककालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम

(ब) बौद्धकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम

(स) नव ब्राह्मणकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम

(द) शिक्षा नीति : विकास और शिक्षा की भूमिका : नीति नियमन

(य) विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित पाठ्यक्रम एवं मूल्य : आधुनिक भारत की शैक्षिक आवश्यकताएँ एवं वर्तमान मूल्य

वैदिक कालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम

(समयावधि– प्रारम्भिक समय से 600 बी0 सी0 तक)

परिचय :

शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है। अतएव उसकी व्यवस्था सामाजिक संरचना और आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से शिक्षा की विवेचना करने से पूर्व तत्कालीन समाज से भिन्न होना आवश्यक हो जाता है। अतएव सर्वप्रथम प्रत्येक काल की सामाजिक व्यवस्था, उसके शिक्षा की संकल्पना संगठन और उसके अभिकरणों की विशेषताओं का विवेचन आवश्यक हो जाता है। तत्पश्चात् पाठ्यक्रम एवं पद्धतियों का विवेचन किया गया है।

प्राचीन हिन्दू समाज की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता वर्णाश्रम–व्यवस्था थी। उसकी पृष्ठभूमि में मानव–कल्याण तथा समाज उन्नयन की महती कामना कार्य कर रही थी। इस व्यवस्था के द्वारा समष्टि के उन्नयन के लिये व्यक्ति की समस्त (शक्तियों का उचित अवसर पर अधिकाधिक उपयोग करने का प्रयास) किया गया। यद्यपि इस व्यवस्था के प्रारम्भिक सन्दर्भ, पूर्व वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं तथापि इसके पूर्ण विकास सम्बन्धी साक्ष्य उत्तर वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध होते हैं।

आर्यों ने समाज में श्रम–विभाजन के निष्पादन हेतु वर्ण–व्यवस्था का विकास किया। वैदिक साहित्य में वर्णों के कर्तव्यों को "वर्ण–धर्म की संज्ञा दी गयी। प्राचीन ग्रन्थों में आये हुये उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सभी वर्ण अपने–अपने कर्तव्यो से भली–भाँति परिचित थे। ब्राह्मणों का मुख्य कर्तव्य वेदाध्ययन एवं यज्ञ–कार्य था।[1] तथा क्षत्रियों का प्रमुख दायित्व चतुर्वर्णों की रक्षा करना था।[2] वैश्यों के स्वाभाविक कार्य कृषि, गौपालन तथा वाणिज्य थे।[3] तथा शूद्रों का प्रमुख धर्म त्रिवर्णों की परिचर्या करना था।[4]

---

1. महाभारत .12. 76. 5 (अश्रोत्रियाः सर्व एवं सर्वे चनाहिताग्नयः तान्)
   सर्वानाधर्मिका राजा बलिं विष्टिं च कारयेत्)
2. रामायण 2. 106. 18. 21 (धर्मेण चतुरो वर्णानि पालयन् बलेशमाप्नुहि)
3. महाभारत .6. 42. 44. (कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यस्य कर्मस्वभावजन्)
4. गौतम .10. 57. 59. परिचर्या चौत्तरेर्षा

(1) तत्कालीन समाज की प्रमुख विशेषतायें :

प्राचीन व्यवस्थाकारों में मानव जीवन के समय चक्र का निरुपण करने के आश्रम–व्यवस्था का सृजन किया। वैदिक ग्रन्थों में विद्या अध्ययन गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आदि चार आश्रमों का विवरण मिलता है।

ब्रह्मचर्यावस्था विद्याध्ययन का काल था। गृहस्थ आश्रम पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह की अवधि थी। वानप्रस्थ का धर्म शास्त्रों में वर्णित विधि निषेधों के पालन की व्यवस्था थी। सन्यास आश्रम विषय–वासनाओं से विरक्त होकर ईश्वर आराधना का सोपान था। इस प्रकार प्राचीन ऋषियों ने वर्ण–व्यवस्था के द्वारा कार्य विभाजन किया तथा आश्रम व्यवस्था के माध्यम से पद्धति निरूपण।

वर्ण व्यवस्था के अर्न्तगत शिक्षा की प्रगति एवं विकास का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों को सौंप दिया गया था। यह वर्ग त्याग, संयम और साधना का जीवन यापन करता हुआ अध्ययन–अध्यापन के कार्य में संलग्न रहता था। इस महत्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करने के कारण ही ब्राह्मण वर्ग असह्य, अवनह्य, अवहिष्टकार्य, अपरिवाद्य एवं अपरिहार्य था।[6] उनकी विशिष्टता इसी बात से परिलक्षित हो जाती है कि ऋग्वेद में उन्हें ब्रह्म मुख से उद्भव बताया गया है।[7] तथा

---

1. छान्दोग्य 34.2.23 — त्रयोधर्मस्कन्ध यज्ञोध्ययन दानभिति
प्रथमस्तप एवं द्वितीयो ब्रह्मचर्याचर्य कुलवासी तृतीयो –
अत्यन्तगात्मनमचार्य कुले वसदयन्सर्व एले पुरायलोक भवन्ति
ब्रह्म संस्था मृतत्व मेति।

6. गौतक, 8.5.11.5.9. — यत्तु षड्भिः परिहार्यो राजा – वह
यश्चावन्ध्याश्चादराड़यश्चाय बहिष्कार्यश्च परिवाद्यश्चा
– परिहार्यश्चेति।

7. ऋग्वेद, 10.90.12. — ब्राह्मणोस्य मुखामादि बाहु राजन्यः कृतः।
उरू यदस्य तद् वेश्याः पदभ्यां शूदो उजायत।।

उनका उल्लेख पितरों के साथ हुआ है।[8] शिक्षण कार्य करने के कारण ही वह राज कर से मुक्त था।[9]

आश्रम व्यवस्था के अन्र्तगत ब्रह्मचर्यावस्था शिक्षा प्राप्त की अवधि निर्धारित की गयी थी। यह अवस्था उपनयन संस्कार के उपरान्त प्रारम्भ होती थी तथा ब्रह्मचारी आचार्य गृह में निवास करता हुआ विद्या अध्ययन करता था।[10] ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य आदि विभिन्न वर्णों के लिये उपनयन संस्कार की आयु क्रमशः आठ, ग्यारह, बारह थी।[11] शिक्षण अवधि में विद्यार्थी गुरू–गृह उसके पशुधन तथा कृषि धन की रक्षा करते थे।[12] वैदिक साहित्य में ब्रह्मचारी नियमों के सम्बन्ध में भी सन्दर्भ उपलब्ध होते है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार शिक्षार्थी के लिये चारपाई पर सोना, गाना, नाचना तथा निष्प्रयोजन घूमना एवं थूकना निषिद्ध था।[13] उसे अनेकानेक विधि–निषेध ों का पालन भी करना पड़ता था। मनु के अनुसार समिध – संग्रह, समिध–दान, भिक्षा–वृत्ति, शैय्या–त्याग, गुरू–सुश्रुवा, नित्य स्नान, देवर्षि पितृतर्पण आदि को ब्रह्मचारी नियमों में सम्मिलित किया गया था।[14]

अधिकाशतः विद्यार्थियों का ब्रह्मचर्याश्रम अथवा अध्ययन काल 12 वर्ष तक रहता था। ब्रह्मचर्य अवस्था समावर्तन संस्कार के साथ समाप्त होती थी।[15] तत्पश्चात छात्र स्नातक की उपाधि से विभूषित होकर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट करता था। कतिपय ब्रह्मचारी आजीवन गुरू–गृह में रहते हुये विद्याध्ययन करते थे। इन्हें नैष्टिक कहते थे।[16]

---

8. वही . 6.75.10 ब्राह्मणसः पितरः सौम्यासः शिये नौ घवा पृथ्वी अनेहसा।
9. आप0 घ0 सू0–2. 10. 24. 10 अकरः श्रोत्रियः
10. वैत्ति0 उप0–.1.11.
11. अश्व0 गृहय सूत्र–1–19–1 और 4, अष्टमें वर्षे ब्राह्मण्मुपनयेत । गमष्टिमे वा। एकादशे क्षत्रियम् द्वाद्वशे वेश्यम्।
12. शत0 ब्रा0 .3.62.15.– एते वेदवाः प्रत्यख यद् ब्राह्मणः
13. गोपय ब्रा0 .2.5 :7
14. मनु0 .2.108.176.
15. पारस्कर गृहम सूत्र .2–6. वेदं समाप्य स्नायाद् ब्रह्मचर्यावाष्टा। चास्वारिशक द्वादरकेष्टो के गुरुणानुज्ञातः
16. छान्दो0 उप0 .23. 1.

इसी तरह पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। तत्कालीन धर्म–ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। **गोभिल गृह–सूत्र** में विवाह के समय नव–वधु को यज्ञोपवीत धारण किये हुये प्रदर्शित किया गया है।[17] **अश्वलायन गृह–सूत्र** में स्त्रियों के लिये भी समावर्तन–संस्कार की कल्पना की गयी है।[18] हारीत ने ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के लिये पुरुषों के समान विधिवत उपनयन संस्कार की कल्पना की है और सद्योवधू (सधवांस्त्री) स्त्रियों के लिये विवाह के समय।[19] इससे ज्ञात होता है कि वे ब्रह्मचारिणी के रुप में वेदाध्ययन करती थीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम व्यवस्था प्राचीन शिक्षा की प्रगति एवं उन्नयन का अनवरत स्रोत थी। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण वर्ग शिक्षा का प्रसार सर्मपण भाव से कर रहा था तथा आश्रम व्यवस्थान्तर्गत ब्रह्मचर्य विधि में द्विजगण अनुशासनबद्ध होकर गुरु के समीप रहते हुये मनोयोग से विद्याध्ययन करते थे। इस प्रकार आर्य मनीषियों ने सामाजिक व्यवस्थान्तर्गत अध्ययन–अध्यापन की निश्चित दिशा को निर्धारित किया है।

(2) *शिक्षा का स्वरुप एवं क्रमिक विकास :*

वैदिक समाज के प्रारम्भिक चरण में सर्व साधारण के मध्य शिक्षा सम्बन्धी आकांक्षायें अत्यन्त अल्प, न्यून तथा साधारण थी। अतएव ब्राह्मण अथवा पुरोहित वर्ग का ही इस पर एकाधिकार था। वे ही वैदिक संस्कृत, ज्ञान तथा स्थानीय परम्पराओं का प्रचार एवं प्रसार करते थे।[20] तथा याज्ञिक अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्डों का निरीक्षण करते थे।[21] इन सभी उत्तरदायित्वों के निर्वाहन् के कारण ही देव तुल्य समझे जाते थे।[22] पुरोहितीय और शैक्षकीय व्यवसाय को अपनाये जाने के कारण

---

17. गोभिल गृहम सूत्र 2.1.19.
18. आश्व0 गृ0 सू0 : 38.11.
19. स्मृति चन्द्रिका – 1. पृष्ठ 24 पर उद्धत हारीत
20. वशिष्ठ 1.44.46. — इष्टा पूर्वस्य तु षष्ठमशं भउतीति हः।
    ब्राह्मणों वृ वेद पाठ्य करोति ब्राह्मण आपद उद्धरति।
21. जैमिनी .6.6.18 — ब्राह्मणानां वेतश्यीरात्विज्या भावत्।
22. वैत्ति0 संहिता .1.7.31 — एते वेदेवा : प्रत्यक्ष यद् ब्राह्मणः।

अध्ययन–अध्यापन उनके लिये आवश्यक तथा अनिवार्य था।[23]

उत्तर वैदिक काल में शिक्षा सम्बन्धी जनाकांक्षाओं में वृद्धि हुयी तथा धर्मशास्त्रों के अध्ययन का अधिकार क्षत्रियों को प्रदान कर दिया गया।[24] परन्तु प्रशासन, युद्ध, रक्षा तथा धनुर्वेद आदि का अध्ययन करना क्षत्रिय–वर्ण का सहज एवं स्वभाविक व्यवसाय था। सामान्यतया यह समुदाय वेदादि के मूलभूत तथ्यों का अध्ययन करता हुआ अतिश्योक्ति ज्ञानर्जन में लगा रहा। इसलिये इस समुदाय के हितार्थ सैन्य शिक्षा में प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये तक्षशिला एवं उसके परिसर में अनेक गुरूकुलों की स्थापना हुयी। कालान्तर में यह संस्थायें प्रसिद्ध सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में विख्यात हुयीं।

उत्तरोत्तर वैदिक काल में शिक्षा विषयक सर्वसाधारण की आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ और वैश्यों को भी वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो गया।[25] परन्तु इस वर्ग का मूल धर्म कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन आदि होने के कारण वेदादि के अध्ययन का अधिकार प्राप्त हो गया। परन्तु इस वर्ग का मूल धर्म कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन आदि होने के कारण वेदादि के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान न दिया। जीवन के अन्य कार्य कलापों में वे इतने व्यस्त रहे कि उन्होनें उपयुक्त व्यवस्था से लाभ नहीं उठाया। भौतिक अभ्युदय में निरत वैश्य समुदाय ने आध्यात्मिक और मानसिक संस्कृति की ओर ध्यान न दिया और उसे समाज के अन्य वर्गों के हाथ में छोड़ दिया।

चतुर्थ वर्ण शूद्रों का था। व्यवस्थाकारों ने धर्म ग्रन्थों के अध्ययन का अधिकार इन्हें प्रदान नहीं किया तथापि इस वर्ग के प्रतिभावान छात्रों के लिये पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन वर्जित नहीं था।[26] इनके लिये गुरूकुल के द्वार खुले हुये थे। इनका प्रमुख धर्म, धर्म–द्विजों की परिचर्या होने के कारण यह वर्ग निज गृहों में परम्परागत व्यवसायों में प्रशिक्षण प्राप्त करके जीवकोपार्जन करता था। इस प्रकार

---

23. कौटिल्य .3.5. स्व धर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनाध्यापन
यजन याजंन दान प्रति ग्रहश्चेति।

24. बृह0 उप0 4.2.1. एवं वृन्दारक आढयः सन्नधीत वेदं उक्तोपनिषत्क इतो
विमुच्यमानः व गमिष्यतीति नाहं तद्भवान्वेद यत्र गमिष्यामीति।

25. गौतम – .10, 1–3.7.50 द्विजातीनामध्ययन मिज्या दानम्।

26. छान्दोगा उप0 .4.4–1–3

वैदिक काल में शिक्षा सम्बन्धी जनकांक्षायें समाज के लघु वर्ग तक ही सीमित थी। अतएव इसके लिये विस्तृत एवं वयापक संगठन की आवश्यकता नहीं थी।

(3) शिक्षा का संगठन :

वैदिक युग की प्रारम्भिक अवस्था में शिक्षा प्रदान करने का प्रमुख अभिकरण गृह था यहाँ पिता निज सन्तानों को शिक्षा प्रदान करता था।[27] यहाँ शिक्षण करते समय पुत्रों और पुत्रियों में भेद नहीं रहता था। विश्वदारा[28] अपाला[29] तथा घोषा[30] **आदि कई स्त्रियाँ वैदिक मन्त्रों की रचयिताओं के रूप में प्रसिद्ध हैं।** प्राचीन भारत के विद्वान दार्शनिक **याज्ञवल्क्य** की विदुषी पत्नी **मैत्रेयी** अपनी उत्कृष्ट ज्ञान लालसा के लिये प्रसिद्ध थी।[31] वृहदारण्यक उपनिषद में पुत्र की भाँति विदुषी पुत्री की उत्पत्ति के लिये उपासना का विधान किया गया है।[32]

कालान्तर में राज–विधान उपासना–पद्धति तथा वैदिक कर्म–काण्ड आदि में जटिलता आ जाने के कारण गृह में बालक–बालिकाओं की शिक्षा–व्यवस्था कठिन हो गयी। अतएव गुरू–कुलों का अभ्युदय हुआ। विद्यार्थी उपनयन संस्कार के उपरान्त आचार्य–कुल में प्रवेश करते थे।[33] तथा शिक्षा की समाप्ति तक यहीं रहकर ज्ञार्नाजन करते थे।[34] विद्याध्ययन की अवधि समाप्त हो जाने पर समावर्तन संस्कार होता था, तथा आचार्य इस अवसर पर शिष्यों को सत्य भाषण, धर्म–पालन एवं स्वाध्याय सम्बन्धी उपदेश देता था।[35]

---

27. बृह0 उप0 .6.2.7. अनुशिष्येन्वसि पित्रेर्त्थोमति हो वांचे।
28. ऋ0 वे0 .5.28
29. वही .8.91
30. वही .10.39.
31. वृ0 उप0 .2.3.4. तथा 6.5.4. ऋग्वेद सा हो वाच मैत्रीय पेनाहं नामृतां स्यां किमहं तेन कुर्या यदेव मगावान्वेद तदेव में ब्रहीत।
32. बृह0 उप0 .6.2.17 अथ य इच्छे दुहिता में पंण्डिता जायते।
33. अथ0 वे0 .11.5.
34. शत पथ ब्रा0 .10.6.5.9.
35. तैत्तरीय उप0 1.11. सत्यान्न प्रमिदिव्यम्। धर्मान्न प्रमादितव्यं।
    कुशलान्न प्रमिदितव्यं। भूत्ये न प्रमदिवव्यं।
    स्वाध्याय प्रवचनाभ्यं न प्रमदितव्यं।।

उपयुर्क्त अभिकरणों के अतिरिक्त ब्राह्मण–संघ, शिक्षा–सम्मेलन, यज्ञ–स्थल, श्राद्ध–स्थल, राज्य–सभा, तीर्थ–स्थान तथा ऋषि आश्रम आदि अनेक संस्थायें शैक्षिक कार्यों के प्रचार एवं प्रसार हेतु महत्वपूर्ण कार्य कर रही थी। ये अभिकरण वाद–विवाद अथवा "ब्राह्मणवाद" के लिये विद्वानों को सुअवसर प्रदान करते थे। मनीषी–गण इनमें भाग लेकर अपनी ख्याति विद्वत्ता स्थापित करने का प्रयास करते थे। ये स्थल में विद्वत्तापूर्ण विचार–विमर्श में भाग लेने के लिये छात्रों को भी सुविधा प्रदान करते थे। इससे उनका मानसिक विकास सम्भव था। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा संस्था परिषद थी।[36] यह न्यायिक सभाओं के समान थी तथा ब्राह्मणीय धर्म और ज्ञान से सम्बन्धित विवादास्पद स्थलों पर महत्वपूर्ण निर्णय देती थी। **मैक्समूलर** ने भी विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों का अनुशीलन करने के उपरान्त परिषद के सदस्यों की संख्या इक्कीस बताई है।[37] इसके विपरीत **मनु** का विचार है कि वेद, विधि तथा न्याय आदि में कुशल परिषद के सदस्यों की संख्या दस होनी चाहिये।[38] समय–समय पर छात्र–गण यहाँ एकत्रित होकर निर्देशन प्राप्त करते थे। यदा–कदा विद्यार्थियों को भी इसकी सदस्यता प्राप्त हो जाती थी। **राधा कुमुद** के अनुसार परिषद आधुनिक सम्बद्धन विश्वविद्यालयों के समान थी।[39] विवेचन से स्पष्ट है कि इन अनौपचारिक शिक्षण–संस्थाओं का मुख्य अभिप्राय ज्ञान के स्तर को उन्नयन करना, शिक्षण में सुधार करना तथा संस्कृति का प्रसार करना था, जिससे सामाजिक उन्नयन को एक नयी दिशा मिलती थी।

(4) शिक्षा की अवधारणा :

प्राचीन धर्म–ग्रन्थों में शिक्षा के माहात्म्य का विश्द् एवं विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। इनसे शिक्षा की संकल्पना का सहज ही आंकलन किया जा सकता है। **स्मृति चन्द्रिका** में सन्निहित **आचार्य वृहस्पति** के मत से ज्ञात होता है कि विद्या–दान, पृथ्वी दान से श्रेष्ठ है।[40] महाभारत में उल्लिखित **भीम** के विचारों से

---

36. आर० सी० दत्ता – सिवलीजेशन आफ एन्सियेन्ट इण्डिया, ग्रन्थ। पृ० 168
37. मैक्समूलर – संस्कृत लिटरेचर पृ० 128–132
38. मनु : 12.108–13
39. आर० के० मुखर्जी – एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन पृ० 83
40. स्मृति चन्द्रिका, संस्कृत संस्कार काण्ड, पृ० 145 : भूमि दानान्पर नास्तिक विद्या दान ततो धिकम

ज्ञात होता है कि विद्या–दान, गो–दान और पृथ्वी–दान के समान ही फलदायी है।[41] **काव्यायन स्मृति** के अनुसार विद्या–दान ब्रह्म–यज्ञ से भी महान है।[42] पवित्र–ग्रन्थों के इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि वैदिक काल में शिक्षण–कार्य श्रेष्ठतम दान का प्रतीक थी।

इसीलिये द्रव्याकांक्षी शिक्षक समाज में सदैव निन्दनीय और तिरस्कृत समझे जाते थे। **व्यास–स्मृति** के अनुसार वेदों का विक्रय करने वाले शिक्षक ब्रह्म–धाती के समान है।[43] **महाभारत** की व्यवस्थानुसार शिक्षण कार्य के प्रत्युत्तर में पारिश्रमिक स्वीकर करने वाले व्यक्ति शूद्र के समान है।[44] **मनुस्मृति** के सन्दर्भानुसार द्रव्य की अभिलाषा से शिक्षण कार्य करने वाले आचार्य श्राद्ध में आमंत्रित होने के अनुप्रयुक्त है।[45] इन व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि आचार्यगण किसी भी परिस्थिति में शिक्षण कार्य हेतु शिष्य से शुल्क नहीं स्वीकार कर सकते थे। आचार्यों का शिक्षण–कार्य दान का स्वरुप एवं समाज के लिये उत्कर्षकारी था।

मानसिक, शारीरिक, नैतिक तथा चारित्रिक दृष्टि से पतित व्यक्ति के प्रचुर धनराशि देने के उपरान्त भी शिक्षा प्रदान करना निन्दनीय, निषिद्ध तथा वर्जित था। **राजा–अमर शक्ति** विपुल धन देकर अपने अनुशासन हीन पुत्र को आचार्य विशेष से शिक्षा दिलवाने का इच्छुक था। आचार्य ने प्रत्युत्तर में कहा कि वह शत राज्यों के प्राप्त होने पर भी द्रव्य के लिये शिक्षा का विक्रय नहीं करेगा।[46]

---

41. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय 58, श्लोक 4 :

    यः प्रववीति शिष्याय छम्यी ब्रह्मी सरस्वतीम्।

    प्रथिवी गोप्रदानाभ्यां तुल्ये स फलमश्नुते।।

42. काव्यायन स्मृति 14,15, ब्रह्मयज्ञादपि ब्रह्ममदानमेवातिश्चियते।

43. व्यास स्मृति .4.71. आदेशी वेद विक्रेता पंचेते ब्रह्मघातकाः

44. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय 135, श्लोक 15 :

    विद्योपजीवनौ अन्नञच यो मुक्ते साधु संभतः ।

    तदप्यन्न तथा शौर्द्र तत्साधु परिवर्जयेत।।

45. मनु स्मृति 3.156.

46. एस० के० दास –दि एजूकेशनल सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट।

    हिन्दुज – नाहं शासनशलेनापि विद्या विक्रये करिष्यामि ।, पृष्ठ 118–19

वांछनीय, जिज्ञासु तथा प्रतिभा सम्पन्न व्यक्यिों को शिक्षा देना अनिवार्य एवं आवश्यक था। गीता में उल्लिखित **भगवान श्री कृष्ण** के विचारों से प्रतीत होता है कि यदि व्यक्ति धनादि की इच्छा न रखते हये सुपात्रों को ज्ञान प्रदान करता है, तो निश्चिय ही मुझे प्राप्त करता है।[47]

शिक्षार्जन हेतु उत्साह प्रदर्शित करने वाले व्यक्यिों को ज्ञानार्जन से वंचित करना पाप का द्योतक था। **स्मृति कौस्तुभं** से प्रसंगानुसार विद्वान, ब्राह्मण, शिक्षक ने वैदिक ज्ञान के अभिलाषी शिष्य को तिरस्कृत कर दिया। इस अपराध के लिये आम–वृक्ष में परिवर्तित होने के लिये गर्हित किया गया।[48] इस दण्ड में व्यंग है। वृक्ष के रुप में शिक्षक को बिना कुछ प्राप्त किये हुये लोगों को फल देना पड़ा।

वैदिक युगीन भारत में ज्ञान का क्रय–विक्रय सम्भव नहीं था। यह संसार की सम्पूर्ण भौतिक सम्पत्ति के परे था। तत्कालीन धर्मशास्त्रों में इसके सन्दर्भ मिलते है। **लघु हारीत** प्रसंगानुसार गुरु द्वारा शिष्य को प्रदान किये हुये अर्धाक्षर–ज्ञान का ऋण उस पर उतना अधिक होता था कि वह संसार की विपुल धनराशि द्वारा भी इसे चुका नहीं सकता था।[49] शिष्य गुरु के परिवार में रहकर सामान्य भोजन, आश्रय, सुख तथा दुख में सम्भागी होता हुआ ज्ञानार्जन करता था। यह सम्पूर्ण वैभव का परित्याग करके शिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करता था। उसकी सेवाओं के प्रत्युत्तर में आचार्यउसकी शिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करता था। उसकी सेवाओं के प्रत्युत्तर में आचार्य उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था तथा उसे निःशुल्क शिक्षा प्रदान करता था। यद्यपि शिक्षण– अवधि की समाप्ति पर गुरु–दक्षिणा देने की परम्परा थी। तथापि इसका देना अनिवार्य और आवश्यक नहीं था ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में शिक्षा दिव्य ऋषियों के निःस्वाँस में निसृत होने के कारण परम ज्ञान, मोक्ष एवं धर्म का पर्याय थी।

---

47. भगवत्गीता .18.68.69

    य हमं परमं गुहम मदभक्तोष्वाभिघाष्यति।

    भक्ति मथि पशं कृत्वा मामे वैष्यत्य संश्यः।।

48. डा0 आत्मानन्द मिश्र – फाइनसिंग आफ इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ 88.
49. लघु हारित .1.2. पृष्ठ 53.

    एकमप्यक्षरं यस्त गुरु शिष्ये निवेदयेत्।

    प्रणिध्यां नास्ति तद् द्रव्यं यदृत्वा सोऽनृणी भवेत।।

इसे समाज के सभी वर्गों का सहयोग एवं समर्थन प्राप्त था। उन्होंने अपनी स्थिति और स्तर के अनुसार उन्नयन और अभ्युदय में योग दिया। जन सहयोग की यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी पर्यन्त अनवरत चलती रही। इस दृष्टि से प्राचीन हिन्दु शिक्षा सार्वभौमिकता और चिरन्तरता का द्योतन करती रही।

(5) शिक्षा के लक्ष्य एवं उद्‌देश्य :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है, कि प्राचीन समय से शिक्षा मोक्ष का पर्याय थी। इसके लिये वेदादि धार्मिक ग्रन्थों एवं इनमें वर्णित विषयों का अध्ययन आवश्यक एवं वांछनीय था। इनके अध्ययन के लिये चारित्रिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों की आवश्यकता होती थी। तत्कालीन समय में शिक्षा उन्नयन एवं संवर्धन में समाज के सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त था। अतएव समाज यह अपेक्षा करता था कि विद्यार्थी ज्ञानोपार्जन के उपरान्त समाज के विकास में योगदान करेंगें। इस विवेचन से शिक्षा उद्‌देश्य स्वतः हो जाते हैं। यहाँ पर शोधकर्त्ता ने शिक्षा के विपुल उद्‌देश्यों पर निम्न रूप से प्रकाश डाला है–

1- मानसिक विकास :

वैदिक युगीन शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत ज्ञान से मन्तव्य अपरा एवं परा विद्या के आत्मीकरण से था। अपरविद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, दर्शनशास्त्र, ज्योतिशास्त्र, विधिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, नीति शास्त्र, आयुर्विद्या, धनुर्विद्या, गन्धर्व विद्या तथा वास्तु विद्या आदि अनेकानेक विषय सम्मिलित थे। संसार में धार्मिक, न्यायिक तथा नैतिक जीवनयापन करने के लिये अपंरा विद्या का ज्ञान वांछनीय था। आत्मविद्या, ओंकार विद्या, गायत्री विद्या, प्राण विद्या तथा मधु विद्या आदि विविध विषय सन्निहित थे। संसार में मोक्ष प्राप्ति हेतु इन विषयों का ज्ञान अपेक्षित था।[50] इसलिये इन्हें वेदान्त[51] तथा सर्व विद्या प्रतिष्ठान[52] की संज्ञा प्रदान की गयी। अपरा एवं परा विद्या में सन्निहित सम्पूर्ण ज्ञान "अज्ञान" का विरोधार्यक था। सामान्यतया इन दोनों प्रकार की विद्याओं का कोई मूलभूत अन्तर नहीं था। ये

---

50. मुण्डक 340.1.1.5

51. वही .1.1.2.

53. वही .3.2.6.

पारस्परिक रूप से एक दूसरे की पूरक थी। अपरा विद्या ब्रह्म प्राप्ति का प्रथम सोपान था तथा परा विद्या अन्तिम मनुष्य अपरा विद्या के माध्यम से सांसारिक कठिनाइयों को पार करता हुआ, परा विद्या के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति करता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिये परा एवं अपरा विद्याओं का ज्ञान अपरिहार्य था।

2- मानसिक विकास :

वैदिक युगीन शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत विद्यार्थी के चरित्र–निर्माण पर सर्वाधिक बल दिया जाता था। इस महान कार्य के लिये अध्ययन अवधि में अनेकानेक विधि–निषेधों का पालन करना पड़ता था। इनके द्वारा वह अपने मस्तिक का विकास करता हुआ अपने शरीर को मनोवांछित ढंग से संचालित करने में समर्थ होता था। प्राचीन भारतीय शिक्षाशास्त्रियों ने भी चरित्र–निर्माण को बहुत महत्वपूर्ण बताया। इनके कथन तत्कालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं। महाभारत के सन्दर्भानुसार शिक्षा का परिणाम श्रेष्ठ चरित्र और श्रेष्ठ व्यवहार होता है।[53] **व्यास स्मृति** के प्रसंगानुसार विषय से कोई नायक नहीं बनता और न अध्ययन से बुद्धिमान। जिस व्यक्ति विशेष ने अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण में कर लिया है वही वास्तविक बुद्धिमान है।[54] वशिष्ठ संहिता के अनुसार जिस व्यक्ति का चारित्रिक पतन हो गया है, उसकी रक्षा तप, अग्निहोत्र तथा याज्ञिक अनुष्ठान आदि नहीं कर सकते।[55] इन सन्दर्भो से ज्ञात होता है कि तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था में चरित्र–निर्माण का अत्यधिक महत्व था। इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण सम्बन्धी आदर्श की प्राप्ति हेतु छात्र को शिक्षण–अवधि में तपोनिष्ठ जीवनयापन करना पड़ता था। उसे सम्पूर्ण इन्द्रिय सुखों का परित्याग करते हुये साधनामय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। दीर्घ अवधि पर्यन्त गुरू के अत्यन्त सन्निकट रहने के कारण चरित्र–निर्माण में उसे गुरू के उच्च आदर्शों से भी प्रेरणा मिलती थी। वह उसके उपदेशों और व्यवहारों से सामाजिक और नैतिक गुणों का आत्मीकरण करता था। आचार्य की पत्नी और पुत्रों के साथ अत्यन्त स्नेहपूर्ण समबन्ध होने के कारण उसके व्यवहार में निखार आता था तथा गृहस्थ्य गुणों का उसमें विकास होता था।[56]

---

53. महाभारत सवा पर्व, अध्याय .5.
54. व्यास स्मृति, .4.59–60
55. वशिष्ठ स्मृति, अध्याय .6
56. छान्दो0 उप0 .7.22.ऋग्वेद 1.73.2 वैत्ति0 उप 4.1.

3- *सामाजिक उन्नयन :*

वैदिक युगीन शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत विद्यार्थी में सामाजिक क्षमताओं के विकास पर भी बल दिया जाता था। एतदर्थ छात्रों को कर्तव्यों एवं अधिकार (धर्म) की शिक्षा दी जाती थी। विशिष्ट व्यक्यिों को भी सामर्थ्यानुसार जीवनपर्यन्त सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाहन करना पड़ता था।

वैदिक ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि आर्य–जीवन दर्शन की व्यक्तिों को सामाजिक सेवा के लिये प्रेरणा प्रदान करता था। इन शास्त्रों के अनुसार अनन्त आनन्द का रसास्वादन करने वाला ही व्यक्ति विशेष सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने में भली भाँति समर्थ हो सकता था। इस अनन्त आनन्द के समाप्त होते ही वह सामाजिक उत्तरदायित्वों के पालन करने में अभिरूचि नहीं लेगा तथा समाज का चतुर्दिक विकास रूक जायेगा।

इस प्रकार वैदिक शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य आध्यात्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना था तथा इन्हीं आदर्शों के आधार पर व्यक्ति विशेष के नैसर्गिक गुणों एवं क्षमता का विकास करते हुये समष्टि के बलिदानार्थ उसके व्यक्तित्व का उन्नयन करना था।

विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाज द्वारा व्यक्ति विशेष का संवर्धन किये जाने के कारण वह उस पर भार न बनकर तथा अन्य व्यक्तियों के प्रयासों में हस्तक्षेप न करते हुये समाज के उत्थान में यथाशक्ति योगदान करता था।

(अ) वैदिककालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम :

धार्मिक तथा नैतिक पाठ्यक्रम :

पाठ्यक्रम शिक्षण–प्रक्रिया का अभिन्न और अविभाज्य अंग है। शिक्षण इसी के द्वारा अपने कार्य का उचित विभाजन करता था। तथा इसके अभाव में शिक्षण–कार्य सफल नहीं हो सकता। अध्यापक के समान छात्र भी पाठ्यक्रम से लाभान्वित होते हैं। उन्हें भी इसके माध्यम से वर्णित की जाने वाली ज्ञान–राशि की निश्चित जानकारी हो जाती है तथा उनकी ज्ञानार्जन प्रक्रिया में सफलता एवं क्रमबद्धता बनी रहती है।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री **मुनरों** के अनुसार वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु समस्त संकलित अनुभवों को पाठ्यक्रम कहते हैं। **फ्रावेल** महोदय के अनुसार पाठ्यक्रम मानव जाति के सम्पूर्ण अनुभव और ज्ञान का प्रतीक है। वर्तमान धारणा के अनुसार विभिन्न अनुभवों, क्रियाओं एवं परिस्थितियों के संकलन को पाठ्यक्रम कहते हैं। इस प्रकार पाठ्यक्रम गत्यात्मक एवं विकासोन्मुख होता है।

हमारे प्राचीन शिक्षाशास्त्री एवं दर्शनशास्त्री वैयक्तिक एवं सामाजिक आकांक्षाओं, आवश्यकताओं एवं महत्वाकांक्षाओं से भली–भाँति परिचित थें। अस्तु उन्होंने तदनुसार ही पाठ्यक्रम का निर्माण किया। इस प्रकार वैदिक युगीन पाठ्यक्रम बहुमुखी था। इसमें धार्मिक विषयों के साथ ही अनेकानेक विद्याओं, कलाओं या विज्ञानों तथा विशिष्ट विषयों का स्थान प्रदान किया गया।

धार्मिकता विषयक पाठ्यक्रम :

वैदिक कालीन शिक्षा–संगठन में धार्मिक पाठ्यक्रम का विशेष महत्व था। इसके प्रमुख स्रोत चतुर्वेद थे। आर्यों का जीवन दर्शन मूलतः मोक्ष प्राप्ति से अनुप्राणित था। इसके लिये याज्ञिक अनुष्ठान आवश्यक एवं अपरिहार्य थे। याज्ञिक कर्मकाण्डों से सम्बन्धित सिद्धान्तों एवं क्रियाओं का प्रतिपादन वेदों में विधिवत किया गया है। अतएव इनके सम्पादन हेतु **ऋग, यजुर्वेद तथा सामवेद का अध्ययन–अध्यापन आवश्यक था।**

ऋक् छन्दबद्ध मन्त्रों का द्योतक है।[57] यर्जुस यज्ञ–विधान सम्बन्ध मन्त्रों का प्रतीक[58] तथा **सामन** गीत मन्त्रों का [59] यज्ञ के समय होतु नामक पुरोहित देवताओं के आह्यान के लिये ऋक्–मन्त्रों का उच्चारण करता था। **अध्यप्रर्व्यु–नामक पुरोहित** यज्ञ विधान संबंधी मन्त्रों का तथा **उदगीत् नामक ऋत्यिक** गीत–मन्त्रों का पाठ करता था। इस प्रकार ऋक्, यजुस तथा सामन आदि के अध्ययन के द्वारा ही याज्ञिक अनुष्ठान विधिवत सम्पन्न हो पाते थे तथा मनुष्य के लिये मोक्ष–मार्ग प्रशस्त होता था।

---

57. जैमिनी सूत्र .2.1.35.53. तेषामूरा यजार्थ – वशेन पाद – व्यवस्था
58. वही .2.1.36. शेषे यजुः शब्दः
59. वही .2.1.36 गीतिषु समाख्या।

वैदिक काल में इन्हें त्रयी दिशा विद्या के नाम से जाना जाता था।[60] इनके अध्ययन को स्वाध्याय कहते थे[61] तथा इनके अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को श्रोत्रिय कहते थे।[62] इनमें दक्षता प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें त्रिशुक की संज्ञा प्रदान की[63] जाती थी।

वेदों के उपर्युक्त महत्व के कारण ही तत्कालीन साहित्य में इनके महात्म्य का विशद वर्णन मिलता है। **वृहदाख्यक उपनिषद** के अनुसार स्वयं प्रजापति ने वेदों का प्रचार किया।[64] **श्वेताश्वर उपनिषद** के एक सन्दर्भानुसार परमात्मा ने ब्रह्मा को उत्पन्न करके उसे वेदों का ज्ञान कराया।[65] **तैत्तरीय उपनिषद** के शब्दों में वेद अनादि और अनन्त हैं तथा उनका ज्ञान कई जन्मों में सम्भव नहीं है।[66]

अलौकिक तत्वों के रहस्य को जानने के लिये वेदों का बहुत अधिक महत्व था। इष्ट–प्राप्ति तथा अनिष्ठ–परिहार के अलौकिक उपाय का स्रोत वेद ही थे। वेद की महत्ता इसी में थी कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान कराता था। इसका ज्ञान तार्किक शिरोमणि भी सहस्त्रों अनुमानों की सहायता से भी नहीं कर सकता था। इस अलौकिक उपाय को जानने का एकमात्र साधन वेद ही थे।

मोक्ष प्राप्ति के लिये वेदों का अनुशीलन अत्यावश्यक था। महाभाष्याकार **पंतजलि** के अनुसार सद्गति प्राप्ति हेतु–वेदांगों का अध्ययन प्रत्येक ब्राह्मण का सहज धर्म होना चाहिये। मनु के अनुसार वेद शास्त्र के तत्व को जानने

---

60. शत0 ब्रा0 .5.5.5.9.
61. वही0 .11.5.6.3.9
62. वही0 .11.5.6.5.8
63. तैत्ति0 ब्रा0 .2.7.1.2.
64. ब्रहदाख्यक उप0 .1.2.5.
65. श्वेताश्वर उप0 .6.18.

    यो ब्राह्मणं विद्धाति पूव एव वे वेदांश्चय।
    ब्राहिणीति तस्मै।
    तं ह देवामात्म बुद्धि प्रकाश मुमुक्षुर्त शरणह प्रद्यते।।

66. तै0 ब्रा0 .3.10.11. अनन्ता वे वेदाः एतदा एते ग्रिभिग युभिरन्ववोयथः।

वाला व्यक्ति इस लोक में रहता हुआ भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है[67] **शतपथ ब्राह्मण** के सन्दर्भानुसार वेदों के अध्ययन से मनुष्य को अविनाशी लोक की प्राप्ति होती थी। अतः वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक एवं उपादेय है।[68]

कालान्तर में इनकी याज्ञिक, आध्यात्मिक दार्शनिक एवं व्यवहारिक व्याख्या के लिये ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद तथा सूत्र–ग्रन्थों की रचना हुयी। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक अधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाले विश्‌द् शब्दकोष है।[69] आरण्यक ग्रन्थ यज्ञ–याज्ञों के बीच विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की विवेचना प्रस्तुत करते हैं।[70] उपनिषद ग्रन्थ वेदों में वर्णित ईश्वरीय ज्ञान की विवेचना करते हुये ब्रह्म–ज्ञान का दार्शनिक विवरण प्रस्तुत करते है। सूत्र–ग्रन्थ वैदिक ग्रन्थों में वर्णित या यज्ञादि तथा विवाहोपनयनादि कर्मों का क्रमबद्ध एवं व्यवहारिक वर्णन प्रदान करते हैं।[71]

वेदों के स्वरूप एवं अर्थ की विधिवत जानकारी के लिये शिक्षा, कला, व्याकरण निरूक्त, छन्द तथा ज्योतिषादि वेदांगों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है

---

67. मनुस्मृति .12.102. वेदाशास्त्रार्थ तत्वज्ञों यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहेव लोके तिष्ठान स ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

68. शत0 पथ ब्रा0 .11.5.6.1 यावन्तं ह वे द्यामां प्रथिवीं
वित्तेन पूर्णा ददत लोंक जयति
त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च
अक्षययं च एवं विद्वान अहरहः
स्वाध्यमधीते तस्मात् स्वाध्यायो
ध्वत्यः

69. महाभास्कर – ते0 सं0 1.5.1. ब्राह्मण नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यान ग्रन्थः

70. ते0 आ0 मा0 श्लोक .6. अरण्याध्ययनादेवद आरण्यकमितियते।
अरण्येतद्धीतीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।।

71. ऋग्वेद – प्रातिशाख्य की वर्ग द्वारा वृत्ति पृ0 .13.
कल्पो वेद–विहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पना शास्त्रम।
विष्णुमित्र।

इनका उल्लेख सर्वप्रथम **माण्डूकोपनिषद** में प्राप्त होता है।[72] वेदों के शुद्ध उच्चारण के लिये विहित अंग शिक्षा है।[73] वैदिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञयाग के यथार्थ अनुष्ठान के लिये निश्चित अंग कला है।[74] वेदों के पदों की प्रकृति के ज्ञान हेतु निर्धारित अंग व्याकरण है।[75] वेदों के पदों की व्युत्पत्ति के अभिज्ञान हेतु संकलित अंग निरूक्त है।[76] वेदों की रचना में प्रयुक्त विविध छन्दों के अवबोध के लिये प्रवर्तमान अंग छन्द है।[77] वेदों में वर्णित अनुष्ठानों के काल–निर्णय के लिये प्रयुक्त अंग ज्योतिष है।[78]

साहित्य कला–विज्ञान विषयक पाठ्यक्रम :

वैदिक शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत वेद, वेदांग, ब्राह्मण, आख्यक, उपनिषद, श्रोत–सूत्र, गृह्य–सूत्र, धर्म–सूत्र, तथा सुल्व क्षेत्रादि धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त विविध विद्याओं, कलाओं और विज्ञानों को भी पाठ्यक्रम में स्थान प्रदान किया गया था। तत्कालीन धार्मिक ग्रन्थों से ही इन विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। इनमें से अनेक लौकिक विषयों का उद्भव एवं विकास धार्मिक विषयों के सन्दर्भ में तथा अन्य विषयों का उन्नयन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हुआ।

---

72. माण्डूकोपनिषद 1.1.5
73. सायण – ऋग्वेद भाष्य भूमिका, पृष्ठ 49 स्वर– वणाधिच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिशयते स शिक्षा।
74. विष्णुमित्र– ऋग्वेद प्रातिसांख्य– पृष्ठ 13. कल्पो वेद–विहितानां कर्मणामनुपुत्र र्वेण कल्पनाशास्त्रम्
75. दुर्गाचार्यवृत्ति . पृष्ठ 3. शब्द – क्षण – परिज्ञान सर्वशाश्रेषु व्याकरणात्
76. वही0 पृष्ठ 3. शब्दार्थ निर्वचन परिज्ञान निरूपलात्।
77. निरूक्त .7.19. छन्दासि छादनात्
78. वेदांग ज्योतिष, (श्लोक – 3.)

    वेदाहि यक्षार्थमभि प्रवृत्वा,
    कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
    तस्मादिदं काल विधान – शास्त्र,
    यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञं।।

अथर्व वेद में इतिहास, पुराण, गाथा तथा नागरिकशास्त्र आदि विषयों का उल्लेख मिलता है।[79] शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय के अर्न्तगत ऋक्, यजुस, सामन, अथर्व–गिरस, इतिहास–पुराण तथा गाथा का वर्णन मिलता है।[80] **गोपथ ब्राह्मण** में भी वेद, कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यान पुराण अनुशासन एवं वाको–वाकय आदि विषयों का वर्णन किया गया है।[81] **ताण्डव ब्राह्मण** में राशि, व्याकरण तथा निरूक्त आदि विज्ञानों का विवरण उपलब्ध होता है।[82]

छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास–पुराण अथवा पंचक वेद, पित्रय राशि, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, वेद–विद्या, भूत–विद्या, ब्रह्म–विद्या, धन–विद्या, नक्षत्र–विद्या, सर्प–विद्या तथा देवयज्ञ आदि अध्ययन के प्रमुख विषय थे।[83] **वृहदाख्यक उपनिषद** में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वगिरस इतिहास, पुराण, उपनिषद, सूत्र अनुव्याख्यान तथा व्याख्यान आदि विषयों का उल्लेख मिलता है।[84]

आपस्तम्ब धर्म सूत्र में वेद, शिक्षा, कल्प, निरूक्त, व्याकरण छन्द तथा ज्योतिष आदि विषयों का उल्लेख मिलता है।[85] **विष्णु धर्म सूत्र** के शब्दों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद वेदागं, इतिहास, पुराण अध्ययन–अध्यापन के

---

79. अथर्ववेद 15.1 इतिहासस्य च एवं पुराणस्य च गाथानं च
नाराशंसिनाम् च प्रियं धामं भवति ए एवं वेद।

80. सत0 प0 ब्रा0 .1.11.5.4–8. ए एवं विद्वान वाकोवाकाभिति हास पुराणभिव्यहरहः
स्वाध्यायम् एवं तृप्ताः।

81. गो0 ब्रा0 .2.10

82. पृष्ठ 159. डा0 ओमप्रकाश – भारत का सामाजिक इतिहास

83. छान्दो0 उप0 .7.1.2.स होवाचर्न्वेद भग्वोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदार्थवर्ण चतुर्थम् इतिहास
पुराणं, पंचम वेदानां वेदपित्रयम राशि देवंनिधिम वाकोवाकमेकायनं
देवविधां ब्रह्मं विद्यां भूतविद्यां क्षय विद्य नक्षत्र विद्या सर्पदेव
विद्यामेतद् भग्वेध्येमि।

84. ब्र0 उप0 .2.4.10. एवं व अरेऽस्य महतोभूतस्य निः श्वसित मेघादृग्वेदों यजुर्वेदः सामवेदाऽ
यार्षगिरस इतिहासः पुराणं, विद्या उपनिषद श्लोकाः
सूत्रारायनुव्याख्यानि व्याख्यानानस्म
स्येवेतांनि सर्वाणि निः श्वसितानि।

85. आप ध0 सू0 2.3.8.10.11. ष्ठागों वेदः। छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरूक्त शिक्षा
छन्दो विचितरसि।

विषय हैं।[86] **गौतम धर्म सूत्र** में वेद धर्मशास्त्र, अंग उपवेद तथा पुराण आदि विषयों का वर्णन मिलता है।[87] **बोधयन गृह्यसूत्र** में वेद, कल्प अंग तथा सूत्रादि आदि पाठ्य विषयों का सन्दर्भ मिलता है।[88]

उपर्युक्त विधाओं, कलाओं, विज्ञानों के अतिरिक्त उपनिषद में परा–विद्या का बहुत अधिक उल्लेख किया गया है। मुन्डक उपनिषद में परा को ब्रह्मविषयक विद्या की श्रेणी में रखते हुये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त छन्द तथा ज्योतिष को परा विद्या की कोटि में स्थान दिया गया है।[89]

परा विद्या ही उपनिषदों की वास्तविक विषय सामग्री है। जो इन ग्रन्थों में सर्व विद्या प्रतिष्ठा[90] तथा वेदान्त आदि की भी संज्ञा प्रदान की गयी है।[91] यह विज्ञानों की विज्ञान थी और इस प्रकार सभी प्रकार के ज्ञान इसमें सन्निहित थे।[92] इस विद्या को जानने वाला दुःखों, पापों तथा हृदय की गुत्थियों से मूक हो जाता है।[93]

परा विद्या के इन महती गुणों के कारण तत्कालीन समय में उच्च कोटि के ज्ञानी व्यक्ति भी इसका ज्ञान प्राप्त के उत्सुक रहते थे। मुनि नारद विविध विषयों में पारंगत होते हुये भी ऋषि सनत्–कुमार से परा विद्या में

---

86. वि0 ध0 सू0 30.34.38
87. गो0 ध0 सू0 .11.19.
88. बौध0 गृ0 सू0 1.7.2–8.
89. मु0 उप0 1.1.4 तस्मै स हो वाच द्रवे विद्रये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचेवा पर च तत्रा परा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेद शिक्षा कल्पे व्याकरणं निरूक्त छन्दो ज्योतिसमनिति। अथपर यया तदक्षरम धिगम्यते।
90. वही 3.2.9. तर्रातशोकं वरति पाप्यानं गुहा ग्रन्थियो मुक्तो विमुक्ता ऋतो भवति।
91. मुण्डक उप0 1.1.2.
92. वही 3.2.6.
93. वही 1.1.3.

उपदेश देने की याचना की थी।[94] ब्रह्म विद्या की शिक्षा न दिये जाने के कारण श्वेतकेतु अपने पिता आरूणि से अप्रसन्न हो गया।[95] यम द्वारा धनादि के अनेक प्रलोभन देने के उपरान्त भी नचिकेता ने उससे ब्रह्म विद्या का उपदेश देने की प्रार्थना की।[96] इन उद्धरणों ने परा विद्या का महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

पराविद्या ब्रह्म का द्योतक होने के कारण ब्रह्मा ने सर्वप्रथम इसकी शिक्षा अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्थ्व को दिया।[97] अर्थ्व उनका ज्ञान अंगिरा को दिया तथा अंगिरा ने इसका उपदेश सत्यवाह को प्रदान किया। उन्होंने अंगिरा को इसका हस्तान्तरण किया। अंगिरा सैनिक को इसका ज्ञान प्रदान सौ करते समय उन्हें उत्कृष्ट तथा निम्न प्रकार की विधायें बताई। उत्कृष्ट विद्या के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है तथा निम्न विद्या के अर्न्तगत वेद वेदांग आदि आते है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण उपनिषद साहित्य ब्रह्म से ही सम्बन्धित था।

उपनिषद काल में आचार्य गण ब्रह्म विद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे तथा उनके आश्रम में आये हुये व्यक्तियों को इसका ज्ञान प्रदान करने के इच्छुक रहते थे **वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार ब्रह्मा** ने सर्वप्रथम मधु विद्या का ज्ञान प्रजापति को प्रदान किया था। प्रजापति ने मनु को इससे भिज्ञ कराया। मनु ने इस विद्या को जानने के इच्छुक सांसारिक व्यक्तियों को इसका उपदेश दिया।[98] इसी प्रकार सिलक, सल्यवत्य, चैकितायन, दल्व प्रवहन तथा जेवलि आदि ने उदगीत विद्या के ज्ञान उत्सुक व्यक्तियों को दिया।[99] पचिशाल, सत्यकाम, इन्द्रद्ययुम्न, जन तथा बुदिल आदि बैश्वानर विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अदालक अरूणि के पास गये। अपने को इस विद्या में पारांगत न समझते हुये उन्होंने इस विद्या के विशेषज्ञ अश्वपति कैकेय के पास जाने का उन्हें परामर्श दिया।[100] **श्वेत केतु** ने

---

94. छान्दो0 उप0 7.1.
95. बृह0 उप0 6.2.
96. कथा0 उप0 1.2.4. — दूरमेते विपरीते विसूती, अविद्या या च विद्यति ज्ञाता। विद्या मीपूर्तसानं नचिकेतसं मन्ये नत्ता कामा बहवो लोलुपन्ता।
97. मुण्ड0 उप0 1.1.1. — उं ब्रह्मा देवानां प्रथमः सव भूव, विश्वस्यकर्ता भूवनश्चय गोप्ता।। सं ब्रह्म विदय सर्व विद्यां प्रतिष्ठा मथ्वार्य ज्येष्ठ पुत्राय प्राह।।
98. बृह0 उप0 .2.5.6.
99. छान्दो0 उप0 .1.3.6.
100. छान्दो0 उप0 3.1.4.

पंचाग्नि विद्या में निर्देश देने हेतु अपने पिता गौतम से अनुग्रह किया। परन्तु उसके पिता ने उस क्षेत्र में उसे उपदेश देने में स्वयं को असमर्थ पाया। अतः वह अपने पुत्र को राजा प्रवहन जेवलि के पास ले गये। उसने पंचाग्नि विद्या का ज्ञान प्रदान किया।[101]

सामान्यतः ज्येष्ठ पुत्र अथवा समर्पित शिष्य को ब्रह्मा विद्या का ज्ञान प्रदान किये जाने का प्रचलन था। ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्रदान किया तथा उद्दालका अरूणि ने भी अपने पिता से भी इसकी शिक्षा पायी। ब्रह्म विषयक निर्देशन प्राप्त करने के लिये मृग अपने पिता वरूण के पास गये।[102] श्वेतकेतु ने अपने पिता के चरणों में बैठकर दस विद्या का अर्जन किया। देवता, राक्षस तथा मनुष्य आदि सभी प्रजापति की सन्तानें होने के कारण उन्हीं से ज्ञान प्राप्त किया।[103]

इस विवेचन से शोधकर्त्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आत्मन् का ज्ञान परा विद्या के माध्यम से ही सम्भव है। आत्मन् गुण, दोष, कारण और कार्य से परे है। यम के अनुसार वेदादि ने इसके सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, लोग इसी की प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये तप करते हैं तथा ब्रह्म विद्यार्जन के इच्छुक रहते है।[104] इसीलिये इस ग्रन्थ के अन्य स्थल पर आत्मन् विद्या में निपुण श्रेष्ठ आचार्यों के पास जाकर इसके अध्ययन हेतु उत्प्रेरित किया गया है।[105]

उपनिषद काल में शिष्यों को ब्रह्मविद्या का शिक्षण करते समय आचार्यों ने उसके लिये अनेक नाम प्रयुक्त किये। यथा–अग्नि विद्या[106], आत्म विद्या[107],

---

101. छान्दो० उप० 5.4.8
102. तैत्ति० उप० 3.1.1.
103. बृह० उप० 5.2–1
104. कथा० उप० 1.2.15. सर्वे वेदा यतादनामन्ति तपा सि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
     यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरिन्ति तत्ते पद संग्रहेण व्रतीभ्योभित्येतत्।
105. कथा० उप० 1.3.14 उतिष्ठत् जाग्रत, प्राप्त वरन्निवोधयत्।
     छुरस्य धारा निशिता दुरात्या,
     दुर्ग पथस्तत्व वयो वदन्ति।।
106. कथा० उप० 1.1.13 तथा 19.
107. बृह० उप० 1.1.13 तथा 19.

उदगीथ विद्या[108], उप कौश विद्या[109], आकार विद्या[110], गायत्री विद्या[111], हार विद्या[112], दीर्घायुष्य विद्या[113], पंचाग्नि विद्या[114], प्राण विद्या[115], भूत विद्या[116], मधु विद्या[117], मन्ध विद्या[118], शांडिल्य विद्या[119], समवर्ग विद्या[120], सत्यकाम विद्या[121] तथा सगं विद्या[122]

ब्रह्मसूत्र में 32 प्रकार की ब्रह्म विधाओं का उल्लेख है यथा सद् विद्या, आनन्द विद्या, अन्तरादित्य विद्या, आकाश विद्या, प्राण विद्या, गायत्री विद्या, इन्द्र प्राण विद्या, शांडिल्य विद्या, नचिकेता विद्या, उपकोशल विद्या, अन्तर्यामी विद्या, अक्षर विद्या, वैश्वानर विद्या, भूत विद्या, गार्गयाक्षर विद्या, जानोपास्य विद्या, दहर विद्या, अंगुष्ठ विद्या, वोदोपास्न ज्योतिर विद्या, मधु विद्या, बालकी विद्या, समवग्र विद्या, अजशरीरिक विद्या, मैत्रेयी विद्या, द्रुहिन–रूद्रादि, शारीरिक विद्या, पंचाग्नि विद्या आदि व्यवस्थान्नामक विद्या, अक्ष्यिान्त्रात्मक विद्या, पुरूष विद्या, ईश्वास्य विद्या, उलस्तिक होल विद्या, व्यवहर्शित शारीरिक विद्या, इन 32 विधाओं का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य अमरता प्राप्त कर सकता था।[123]

अपरा विद्या को अविद्या का भी नामकरण दिया गया है। उपनिषदों में इसकी अत्यधिक आलोचना की गयी है कथा उपनिषद के सन्दर्भानुसार अविद्या के मध्य रखते हुये स्वयं को बुद्धिमान मानने वाले मात्र मूर्ख व्यक्ति के अतिरिक्त और

---

108. छान्दो0 उप0 1.4.7.8
109. वही 4.10.15.
110. वही 1.1.1.7 कथ, उप0 1.2.15–17. मुण्ड0 उप0 2.2.4–6.
111. छान्दो0 उप0 3.12.
112. वही 1.1.1.2.
113. छान्दो0 उप0 6.2.9.–13
114. बृह0 उप0 6.2.9.–13
115. बृह0 उप0 .513.14.
116. छान्दो0 उप0 7.2–3.1
117. वही 3.1.5.
118. बृह0 उप0 .6.3.13.
119. छान्दो0 उप0 .3.14.
120. वही 4.3.
121. वही 4.4.9.
122. वही .21.22.
123. देवदत्त शास्त्री – उपनिषद चिन्तन (इलाहाबाद) प्रथम संस्करण, 1956, पृ0 5

कुछ नहीं हैं।[124] वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार वेदादि के अध्ययन से व्यर्थ में ही हवा को क्लान्त और शिथिल करना है।[125] कथा उपनिषद के एक प्रसंगानुसार वेद, बुद्धि तथा पुस्तकीय ज्ञान के द्वारा आत्मन् की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[126]

वेदादि के समान वैदिक कर्मकाण्डों की भी आलोचना उपनिषद में की गयी है। मुण्डक उपनिषद में याज्ञिक अनुष्ठान करने वालों को मूर्ख कहा गया है।[127] वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार जो व्यक्ति आत्मन् की प्राप्ति का प्रयास न करते हुये याज्ञिक अनुष्ठानों में ही लगे हुये हैं वे पशु समान है।[128] **एतरेय आरण्यक** के सन्दर्भानुसार वेद तथा यज्ञादि से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती।[129] इन कथनों से ज्ञात होता है कि उपनिषद काल में वेदादि अपरा विद्या की भर्त्सना करके परा विद्या की श्रेष्ठता प्रदर्शित की गयी है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि परा एवं अपरा विद्या सम्बन्धी उपर्युक्त उद्धरणों का एक मात्र उद्देश्य परा विद्या की श्रेष्ठता एवं क्षमता प्रदर्शित करना है। वस्तुतः इन दोनों विद्याओं में मूलभूत विरोधाभास नहीं है। अपरा, यपरविद्या की पूर्वावस्था है। ईश उपनिषद के अनुसार विद्या एवं अविद्या को समान रूप से जानने वाल अविद्या (अपरा) के माध्यम से मृत्यु की तरण करता हुआ विद्या (परा) के द्वारा अमरता को प्राप्त करता है।[130]

स्त्री शिक्षा विषयक पाठ्यक्रम :

वैदिक युगीन शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत स्त्री शिक्षा का भी प्राविधान था। बालकों की भाँति बालिकाओं का भी उपनयन संस्कार होता था और तत्पश्चात् वे ब्रह्मचारिणी के रूप में धर्म–शास्त्रों का अध्ययन करती थीं। वास्तव में कन्या का वह

---

124. अविद्यायागन्तरे वर्तमानाः स्वंशीराः पण्डित मान्यमाः
दन्द्रम्यामाणः परियन्तिः मुदाः अन्धेनएव नीयमाना
यथान्धा, कथा उप0 12–5
125. बृह0 उप0 .4.4.21.
126. कथा उप0 1.2.33.
127. मुण्ड0 उप0 1.2.7.
128. बृह0 उप0 1.4.10
129. ऐव0 ब्रा0 : 3.2.6.
130. ईश उप0 11. विद्यां च विद्यो च यस्जद् वेदो भय सह।
अविद्याय मृत्युं तीत्वा विद्या मृतमश्नुते।।

ब्रह्मचर्य–काल उसके आगामी गृहस्थ–जीवन के लिये तैयारी मात्र था इस अवधि में वह अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करती हुयी भावी जीवन को सुखमय बनाने हेतु संस्कृति और धर्म के सभी उपकरणों से विधिवत भिज्ञ हो जाती थी।

धार्मिक पाठ्यक्रम के अर्न्तगत बालिकाओं को वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा आरण्यकों आदि का शिक्षण प्रदान किया जाता था। लोप मुद्रा[131], विश्वदारा[132], सिकता[133], निशवरा[134] तथा घोषा[135] आदि ने ऋषियों की भाँति ऋचाओं की रचना की थी। विश्वदारा आदि अनेक विदुषी स्त्रियों द्वारा यज्ञादि में भी भाग लेने का विवरण प्राप्त होता है।[136] गार्गी वाचव नवी[137] तथा मैत्रीय[138] आदि ने पुरूषों की भाँति ही वाद–विवाद में भाग लिया। गार्गी वाचव नवी, वडवा प्रति धेवी आदि विदुषी द्वारा ऋषियों के साथ तर्पण आदि करने का भी उल्लेख मिलता है।[139]

धार्मिक पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कन्याओं को ग्रार्हस्थ सम्बन्धी शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। ऋग्वेद में गाय दोहन करती हुयी तथा दही और मक्खन तैयार करती हुयी बालिकाओं का वर्णन मिलता है।[140] इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल

---

131. ऋग्वेद .1.179.
132. वही .5.28.
133. वही .5.28.
134. वही .9.81.
135. वही 10.39.40.
136. वही 5.28.1.
137. बृह0 उप0 3.6. तथा 8.
138. वही 2.4.3.
139. आश्व0 गृ0 सू0 .3.4.
140. ऋ0 वे0 .1.135.7

के अनुसार अपाला अपने माता–पिता के कार्यों का निरीक्षण करती थी।[141] कन्याओं कूपों से जल लाने का कार्य करती थीं।[142] अवकाश मिलने पर व कताई–बुनाई[143] तथा सिलाई[144] का कार्य करती थीं। इन घरेलू उद्योग–धन्धों में कन्याओं को अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जाती होगी।

घरेलू उद्योग–धन्धों के अतिरिक्त स्त्रियों को संगीत, नृत्य या वादन आदि संस्कृति के प्रधान अंगों में भी शिक्षा प्रदान की जाती। ऋग्वेद में गाती हुई स्त्रियों का वर्णन मिलता है।[145] इसी प्रकार विदर्भ में एकत्र महिलाओं को भी हम ऋक्–गान करते हुये पाते हैं।[146] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सभागान स्त्रियों का विशेष कार्य है।[147] इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि स्त्रियाँ नृत्याविद् व्यक्तियों पर सुगमतापूर्वक अनुरक्त हो जाती है।[148] इसी प्रकार तैत्तरीय संहिता[149] और मैत्रयाणी संहिता[150] में भी स्त्रियों की संगीत–नृत्याभिरूचि का उल्लेख है। श्रोत सूत्र में पत्नियों द्वारा गौध–वीणा और काण्ड वीणा आदि वाद्यों के वादन का विवरण मिलता है।[151]

---

141. वही0 8.80.

142. वही .1.191.14. तास्ते विषं विजभ्रिर उदंक कुम्भनीश्वि।

143. वही 2.3.6. तन्तु ततं सेवयन्ती समीषी यज्ञस्य पेशा सुदृघे पयस्वती।

144. वही 2.32.4. सीव्यत्वयः सूक्ष्याच्छिपमानया ददात् वीर शतदायभुवध्रयम्।

145. वही .9.66.8. समुत्वा धीमिरस्वरन्हिन्वती सदा जामया विप्रमाज्या विवस्वतः।

146. वही 10.71.11. ऋचां त्वां पौषामास्ते पुपुस्वान्गायन्त्र त्वो गायति शत तरीष।

147. शत0 ब्रा0 14.3.35. पत्नीकमैव वे तेऽश्र कुर्वन्ति युद्गातारः।

148. शत0 ब्रा0 3.2.36. तस्माय एवं नृत्यादि यो गायति तस्मिन्नेवेता

149. निम्लिस्टतमा इव।

150. मेश्रा सं0 3.7.3.

151. श्रो0 सू0 13.3.21 गोन्धा वीणाकाः काण्ड बीजाश्च पत्न्यो वादयन्ति।

विशिष्ट एवं पूरक विषयक पाठ्यक्रम

(धार्मिक, लौकिक तथा ब्रह्मविधाओं का पाठ्यक्रम)

वैदिक कालीन शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में वेदांगों का स्वरूप संक्षिप्त एवं लघु था। अतएव इनका अध्ययन वेदों के सन्दर्भ में ही किया जाता था। स्वतन्त्र एवं विशिष्ट विषयों के रूप में इनके अध्ययन का प्रचलन नहीं था। शनैः शनैः इनकी विषय–सामग्री के क्षेत्र का विस्तार हुआ। अतएव वैदिक अध्ययन में सहायक ग्रन्थों के रूप में इनका अध्ययन सम्भव न रह गया और इस प्रकार विशिष्ट विषयों के रूप में इनका ज्ञार्नाजन किया जाने लगा। परिणामस्वरूप व्यास–शिक्षाशास्त्र, यस्क–निरूक्तशास्त्र, शुक्ययन–व्याकरण शास्त्र, पिंगल–छन्द शास्त्र तथा लागध–ज्योतिषशास्त्र आदि का प्रणयन हुआ। कालान्तर में इन विशिष्ट सम्प्रदायों ने भाषा–विज्ञान तथा मानव धर्मशास्त्र आदि अनेकानेक विशिष्ट सहायक विषयों को विकसित किया था।

वैदिक साहित्य का भी इतना अधिक विस्तार हो गया कि छात्रों के लिये इसका कंठस्थीकरण करके आत्मसात करना कठिन हो गया। अतएव इसे सरल रूप में संक्षेपीकरण करने की आवश्यकता हुयी। इसे सूत्र साहित्य कहते हैं। इसे स्रोत, धर्म, गृह्य तथा शुल्य सूत्रों में विभाजित किया जा सकता है। श्रोत सूत्र में याज्ञिक क्रियाओं से सम्बन्धित अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है। धर्म सूत्र में सामाजिक प्रथाओं, परम्पराओं एवं नियमों का वर्णन सन्निहित है। गृह्य सूत्रों में पुत्र, पत्नी तथा पति आदि के पारस्परिक कर्तव्यों एवं अधिकारों का विवेचन संग्रहीत है। शुल्व सूत्र में याज्ञिक वेदियों के निर्माण सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया है। सूत्रों के ये सभी वर्ग कल्प की शाखायें मात्र हैं। इस प्रकार वैदिक अध्ययन से सम्बन्धित विशिष्ट सूत्र सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ।

आदि वैदिक काल में अनवरत प्रवाहित होती हुयी याज्ञिक प्रक्रियाओं ने भी विशिष्ट विषयों का सूत्रपात हुआ। वेदियों के निर्माण हेतु प्रतिपादित विस्तृत एवं व्यापक नियमों ने ज्योतिष, बीजगणित, ज्यामिति तथा अंकगणित आदि विषयों को विकसित किया। याज्ञिक कर्मकाण्डों के सम्पादन के लिये उपर्युक्त समय एवं सूत्र प्रक्रिया ने नक्षत्र–विद्या का उन्नयन किया। यज्ञ स्थल में पशुओं के विच्छेदन हेतु निर्धारित व्यवस्था ने शल्य चिकित्सा ने संवर्धन किया।

आरण्यक एवं उपनिषदों ने वेदों मे सन्निहित, अध्यात्मिक, तात्विक एवं दार्शनिक सन्दर्भों की विस्तृत विवेचना प्रस्तृत करते हुए पूर्व–मीमांसा, उत्तर–मीमांसा, न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग आदि विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदायों को विकसित किया। पूर्व मीमांसा कर्म–मार्ग का प्रतिपादक है तथा उत्तर–मीमांस ज्ञान–मार्ग का। न्याय मुख्यतया प्रमाण का द्योतक तथा वैशेषिक जगत के स्वरूप का। सांख्य विश्व के मूल तत्वों का निरूपक है तथा योग साधना–मार्ग का।

वैदिक और सूत्र साहित्य से सम्बन्धित पूरक साहित्य का भी सृजन हुआ। इससे इनका अनुशीलन एवं अध्ययन सरल हो गया। सूत्र साहित्य के पूरक अध्ययनों के रूप में परिशिष्ट आदि ग्रन्थों की रचना हुई। प्रयोगों में याज्ञिक प्रक्रियाओं एवं पुरोहितों के विभिन्ना वर्गों के कार्यों का विवरण सन्निहित है तथा पद्धतियों में सूत्रों का क्रमबद्ध विवरण प्राप्त होता है। कारिकाओं में अनुष्यनों का वर्गीकृत विवेचन संग्रहीत है तथा अनुक्रमणियों में विभिन्न संहिताओं से सम्बन्धित ऋषि, देवता तथा छन्द आदि की सूची प्रस्तुत की गयी है।

धार्मिक एवं लौकिक पाठ्यक्रम :

आर्यों का जीवन दर्शन मोक्ष–प्राप्ति से सम्बन्धित था। इसके लिये यज्ञादि का सम्पादन करके देवताओं को प्रसन्न करना आवश्यक था। इससे सम्बन्धित सामग्री एवं नियम. ऋक्, यजुस तथा समान में संग्रहीत है। कालान्तर में इसकी कर्मकाण्डिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विवेचना के लिये ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद ग्रन्थों की रचना हुयी। अतएव दैनिक युगीन शिक्षा के अर्न्तगत धार्मिक पाठ्यक्रम में वेद, वेदांग, ब्राह्मण तथा उपनिषद आदि ग्रन्थ प्रमुख रूप से सम्मिलित थे।

धार्मिक पाठ्यक्रम मोक्ष–प्राप्ति का द्योतक था। अतएव इसके अध्ययन–अध्यापन के लिये विशिष्ट क्षमताओं तथा अभिरूचि की आवश्यकता थी। इसीलिये इसके ज्ञानार्जन का अधिकार सर्वसाधारण वर्ग को प्रदान नहीं किया गया। तत्कालीन आचार्य इस लक्ष्य से भली–भाँति अवगत थे कि यदि व्यक्ति विशेष की अभिरूचियों एवं क्षमताओं को ध्यान में रखकर वैदिक ज्ञान प्रदान न किया गया तो

इसके परिणाम भयंकर होगें।[152] तत्कालीन समय में आचार्यगण विशिष्ट क्षमताओं से रहित स्वपुत्रों एवं शिष्यों को भी वेदादि की शिक्षा नहीं दे सकता था।[153] वैदिक ज्ञान विशिष्ट क्षमताओं से युक्त समर्पित व्यक्तियों को ही प्रदान किया जा सकता था।[154]

शिक्षा की आदि व्यवस्था में धार्मिक पाठ्यक्रम से सम्बन्धित याज्ञिक क्रियायें सरल संक्षिप्त एवं साधारण थी। कालान्तर में इनके जटिल हो जाने के कारण सर्व–साधारण के लिये वैदिक ऋचाओं के अर्थ को आत्मसात करना कठिन हो गया। अतएव उनके भाव अर्थ को स्थायित्व एवं संरक्षण प्रदान करना अत्यावश्यक हो गया। **वेबर के अनुसार** ''वैदिक मन्त्रों के मर्मज्ञों के लिये यह आवश्यक और अनिवार्य हो गया कि वे सर्व–साधारण को इसके अर्थ और भाव से भिज्ञ करवायें। इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु पर्यटक विद्वान समूह रूप में इनके चारों ओर एकत्रित होने लगे। इन लोगों ने विद्वानों की ख्याति के अनुसार ही एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा की।[155]

परिणामस्वरूप विभिन्न वैदिक ग्रन्थों में वर्णित यज्ञ–विधान से सम्बन्धित व्याख्याओं, विवेचनाओं एवं सन्दर्भ सहित विपुल लौकिक साहित्य का उदभाव हुआ।[156] तदनन्तर विभिन्न शीर्षकों के अर्न्तगत उसका वर्गीकरण किया गया। इस प्रकार लौकिक साहित्य का क्रमबद्ध स्वरूप सर्वप्रथम यजुर्वेद[157] शतपथ ब्राह्मण[158] तथा तैत्तरीय संहिता[159] में अनुशासन, विद्या; वाकोवाक्य, इतिहास, नाराशसि तथा गाथा के रूप में उपलब्ध होता है।

कालान्तर में उपर्युक्त लौकिक विषयों तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं ने वेदांग आदि लौकिक साहित्य को विकसित किया। सर्वाधिक प्राचीन वेदांग ''कल्प'' प्रतीत होता है। यज्ञ विधान के निश्चित नियमों के जानने की आकांक्षा के फलस्वरूप कल्प का जन्म हुआ। वैदिक अनुष्ठानों का विवेचनात्मक ज्ञान प्राप्त करने के परिणामस्वरूप निरूक्त का उदभाव हुआ। वैदिक पाठ्यवस्तु का ध्वनि नियमों के अनुसार उच्चारण करने की इच्छा के परिणामस्वरूप शिक्षा का विकास हुआ। वैदिक

---

152. छान्दो0 ब्रा0 – विद्यया सार्धम् म्रियते न विद्या मुसरे बपेत।
153. श्वेताश्वर उप0 6.22. वेदान्ते परमम् गृहयम् पुराकल्पे प्रचोदितम।
ना प्रशान्ताय दातव्यम् नापुत्रायशिष्याय वा पुनः।
154. मनु0 2.114. यमेव तु शुंचिम विद्या नियतम ब्रह्मचारिण्म।
तस्माय माम् बूहि विप्राय निहिपाया प्रमादिने।।
155. बेबर – हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटलेचर, पृ0 21
156. ऋग्वेद 10.85.6.
157. अथर्ववेद .15.6.
158. शत0 ब्रा0 .10.1.
159. तैत्ति0 सं0 .11.9.

वाड्ःमय को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने की उत्कंठा के आधार स्वरूप छन्द का प्रादुर्भाव हुआ। वैदिक पाठ्यवस्तु की पदादि की प्रकृति की जिज्ञासा के परिणामस्वरूप व्याकरण का उत्कर्ष हुआ। यज्ञ—सम्पादन हेतु शुभ मुहुर्त के अभिज्ञान के फलस्वरूप ज्योतिष का उन्नयन हुआ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में वेदांग आदि लौकिक पाठ्यक्रम का सूत्रपात वैदिक अनुष्ठानों एवं क्रियाओं के स्प्ष्टीकरण हेतु ही हुआ। परवर्ती समय में वेदांग तथा अन्य लौकिक साहित्य वैदिक अध्ययन से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप स्थापित हुये तथा प्रत्युत्तर में अन्य सहायक लौकिक विषयों को विकसित किया।

उपर्युक्त धार्मिक एवं लौकिक पाठ्यक्रम के अतिरिक्त प्राचीन भारत में परम्परा के आधार पर अनेक व्यवसायों, उद्योगों एवं शिल्पों का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था। शिक्षण—संस्थाओं में औपचारिक शिक्षा न ग्रहण करने वाले छात्र इनके द्वारा अपनी जीविका उपार्जन करते थे। कालान्तर में इन्हीं व्यवसायियों एवं उद्यमियों ने उपजातियों का रूप धारण कर लिया। ऋग्वेद में ब्रह्मा[160], भिषक[161], कामरि[162] और घम्मन[163] शब्दों का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में प्रयुक्त होने वाले रथद्वार[164], कामरि[165] और सूत्र[166] तथा वैचिरीय संहिता में[167] आने वाली क्षतृ, संग्रहीत तक्षान् रथकार, कुलाल, कमरि, निशाद और श्वनि आदि शब्द भी विशेष व्यवसायों के ही द्योतक हैं। इन शब्दों के प्रयोग वाजसनेय[168] संहिता और कटक संहिता[169] में हुआ है। तैत्तरीय ब्राह्मण में भागध, सूत, भीमल, रथकार, वक्षन् मणिकार, सरकार, कष्टककार आदि शब्दों का प्रयोग आर्थिक संगठन की उन्नत—दशा

160. ऋग्वेद .10.152.4.
161. वही .9.112.1.
162. वही 10.72.2.
163. वही 9.112.2.
164. अथर्ववेद .3.5.6.
165. वही 3.5.6.
166. वही 3.5.7.
167. तैत्तिरीय सं0 4.5.4.2.
168. वाजसनेय संहिता . 16.26—28.
169. कटक ले0 ब्रा0 3.41.

का बोध कराता है।[170] शतपथ ब्राह्मण में कुलाल चक्र का भी प्रयोग हुआ है।[171]

तत्कालीन पाठ्य-पुस्तकें एवं पाण्डुलिपियाँ :

तत्कालीन पाठ्य–पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों पर विचार करने के पूर्व यह ज्ञान लेना अत्यन्त आवश्यक है। कि प्राचीन युग में लेखन कला का प्रचलन था अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं है। **बोहलर** आदि इतिहासकारों का विचार है कि वैदिक युग में लेखन कला का उद्भव नहीं हुआ था। विचारानुसार भारतीय व्यवसायियों ने लेखन–कला का ज्ञान पश्चिमी एशिया से प्राप्त किया तथा इन्होनें भारत में इसका प्रचार ई0 पू0 आठवीं शताब्दी में किया। इनका मत ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। इसके विपरीत भारतीय भाषा–विज्ञान विद् राय बहादुर पं0 गौरीशंकर हीराचन्द्र आदि विद्वानों का अभिमत है कि प्राचीन युग में लेखन कला का प्रचलन था परन्तु इसका प्रयोग वेदादि के शिक्षण हेतु नहीं किया जाता था। इनका मत वैदिक वांग्मय में सन्निहित साक्ष्यों पर आधारित थे। तत्कालीन भारत में निवास कर रहे यूनानी लेखकों के अनुसार ई0 पू0 चौथी शताब्दी में यहाँ लेखन–कला का प्रचलन था। इनका मत तत्कालीन भारत में उपलब्ध लेखन सामग्री पर आधारित है।

वेदों का सूक्ष्म अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में लेखन कला का अस्तित्व विद्यमान था। ऋग्वेद के सन्दर्भानुसार ''अक्षर'' ऋग्वेद की आधारशिला है।[172] इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल में ''सहस्त्राक्षर'' शब्द का प्रयोग हुआ।[173] इसी संहिता में आई हुयी उत्प्रेक्षायें तत्कालीन समय में प्रचलित लेखन, अभ्यास की ओर संकेत करती है।[174] इसी वेद की कतिपय ऋचाओं में एक विशिष्ट प्रकार की लेखनी का उल्लेख मिलता है।[175] इसी ग्रन्थ के एक अन्य विवरणानुसार ज्ञानर्जन हेतु देखना एवं सुनना दोनों ही अपरिहार्य है।[176] पुनः यजुर्वेद को परिभाषित

---

170. ले0 ब्रा0 .3.41.
171. शत0 ब्रा0 9.8.1.
172. मैक्समूलर–एन्सियेन्ट संस्कृत लिटरेचर पृ0 507
173. ऋग्वेद 1.164.41.
174. वही 6.53.5–8.
175. आर0 के0 मुखर्जी–एन्सियेन्ट इण्डिसन एजूकेशन, पृ0 28.
176. ऋग्वेद .10. 71.4.

करते हुये संकेत किया गया है कि इसकी रचना करते समय छन्द– शास्त्र के नियमानुसार इसके अक्षरों का स्थिरीकरण नहीं किया गया।[177] उपनिषदों की रचना होने के समय तक भारतीय लिपि ज्ञान से पूर्णतया परिचित हो गये थे।[178]

प्राचीन भारत में लेखन–कला का सामान्य प्रचलन होते भी वैदिक शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत धार्मिक एवं लौकिक विषयों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को पाठ्य–पुस्तकें अथवा हस्तलिपियाँ उपलब्ध नहीं होती थी। तत्कालीन समय में मौखिक विधियों एवं साधनों के द्वारा ही शिक्षा प्रदान की जाती थी। वेदों तथा अन्य ग्रन्थों में यत्र–तत्र इसके उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद के स्थल पर शब्द करते हुए मण्डूकों की तुलना वैदिक मन्त्रों का अभ्यास करते हुये ब्राह्मणों से की गयी है।[179] इसी भाँति एक अन्य ऋचा में वाद–विवाद है।[180] छान्दोग्य उपनिषद के सन्दर्भानुसार आचार्य के मुख से प्राप्त ज्ञान का स्थान सर्वोच्च होता है।[181] शतपथ ब्राह्मण के विवरणात्मक छात्रों को गुरू–गृह में जाकर मौखिक विधि से शिक्षार्जन करना चाहिये।[182]

ऋग्वेद भाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार – **मायण** का अभिमत है कि हस्तलिपि की अपेक्षा गुरू–गृह से ही वेद का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।[183] प्रसिद्ध मीमांसाकार **कुमारिल भट्ट** का विचार है कि हस्तलिपि के माध्यम से वेदाध्ययन करने पर वांछित फल की प्राप्ति नहीं होती[184] **वेदव्यास** के मत में वेदों को लिपिबद्ध करने वाले नारकीय जीवन के अधिकारी है।[185]

---

177. आर0 के0 मुखर्जी वही, पृ0 28.
178. डा0 ए0 स0 अल्तेकर – एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन, पृ0 174.
179. ऋग्वेद 1.164.41.
180. वही 10.71.
181. छान्दोग्य उप0 .4.9.6.3.
182. शतपथ ब्रा0 10.6.5.9.
183. ऋग्वेद भाष्य – अध्ययन विधिश्च लिखित पाठा दिव्यावृित्य संस्कृत्वि खाध्यायस्य गमयति।
184. तन्त्रवार्तिक 1.3. पृ0 86.
185. महाभारत 15.106.90. वेदाना लेख निश्चेवते वे निस्य गामिनः

शिक्षण :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेदादि धार्मिक ग्रन्थों को लिपिबद्ध करके अध्ययन–अध्यापन करना अत्यन्त अवांछनीय समझा जाता था। अतएव पाठ्य–पुस्तकें अथवा हस्तलिपियों के उपलब्ध होने पर भी धार्मिक ग्रन्थों के शिक्षण–कार्य के लिये उनका उपयोग नहीं किया जा सकता था। लौकिक विषयों के पठन–पाठन के लिये पाठ्य–पुस्तकों का प्रयोग वर्जित एवं निन्दनीय नहीं समझा जाता था। तथापि लिखने के साधन और आधार सुलभ न होने के कारण इन विषयों का अध्ययन–अध्यापन भी मौलिक विधियों, युक्तियों तथा प्रविधियों के द्वारा किया जाता था।

बौद्धकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम

(समय काल 600 बी. सी. से 550 ए. डी. तक)

(1) बौद्ध धर्म का परिचय :

सामान्यतः बौद्ध धर्म सार्वभौमिक हिन्दू दर्शन का ही परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप था। वर्तमान समय में भी हिन्दू चिन्तन के अधिकांश मौलिक आदर्श इस धर्म के अभिन्न अंग बने हुये है। वैदिक काल मे विविध दोष आ जाने के कारण ही इस धर्म का अभ्युदय एवं विकास हुआ। इस प्रकार यह धर्म वैदिक व्यवस्था का ही विकसित स्वरूप था। **मैक्समूलर** ने उचित ही कहा है कि – "बौद्ध धर्म स्वतः मौलिक धर्म नहीं है। इसके राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक तथा धार्मिक आदि विभिन्न स्वरूप भारतीय दर्शन के स्वाभाविक विकास के रूप में परिलक्षित होते हैं। पाली ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि बौद्ध समाज वैदिक योजनाओं का तिरस्करण करने की अपेक्षा उनका क्रियान्वयन करता है।"[1]

इस युग में राजनीतिक क्षेत्रान्तर्गत केन्द्रीय सत्ता का अभ्युदय हो जाने के कारण मगध राजनीतिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बन गया था। दार्शनिक जगत में चिन्तन और विशिष्टकरण का विशेष महत्व होने के कारण वैदिक, जैन तथा बौद्ध दर्शन का सम्यक विकास हुआ। इन सभी के समग्र रूप से भारतीय दर्शन के विकास में योगदान किया। शिक्षा संगठनान्तर्गत शिक्षा के आयाम विस्तृत हो जाने के कारण ज्ञान के अनुशीलन में क्रमबद्ध एवं संगठित विधियाँ अपनायी गयीं। परिणामस्वरूप तन्त्रविद्या, चिकित्सा विद्या, वास्तुविद्या तथा धनुर्विद्या आदि लौकिक विषयों का विकास एवं उन्नयन हुआ। इस युग में शिक्षा अपने समय के उद्देश्यों के अनुरूप अपने चरम विकास की स्थिति में थी।

(2) बौद्ध युग में शिक्षा का विकास (शिक्षा का उन्नयन) :

बौद्ध व्यवस्थान्तर्गत वर्ण–भेद, आश्रम–भेद, लिंग–भेद तथा योग्यता–भेद का कोई स्थान नहीं था। समाज के सभी वर्ण निश्चित योग्यताओं के आधार पर संघ के विधिवत् सदस्य बन करके मातृभाषा पाली के माध्यम से मनोवांछित विषयों का अनुशीलन कर सकते थे। इस युग में शिक्षा और धर्म के संस्थागत हो जाने के कारण नालन्दा और प्रसिद्ध शिक्षा–केन्द्रों का विकास हुआ। इनमें धार्मिक एवं दार्शनिक

---

1. एफ0 मैक्समूलर : विप्स फ्राम ए जरमन वर्कशाप, पृष्ठ – 434.

विषयों के साथ ही अनेकानेक लौकिक विषयों के शिक्षण की व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार स्थान विशेष में ही विद्यार्थियों को विविध विषयों के अध्ययन की सुविधा उपलब्ध हो गयी थी। इनमें आवास तथा भोजन आदि का उत्तम प्रबन्ध किये जाने के कारण समाज का अभिज्ञात वर्ग भी ज्ञानार्जन के लिये आकृष्ट हुआ। इन शिक्षण–संस्थाओं में स्त्रियोचित पाठ्यक्रम की व्यवस्था किये जाने के कारण उनके मध्य भी शिक्षा का प्रसार हुआ। बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत इन शैक्षिक सुविधाओं के प्रदान किये जाने के उपरान्त भी यह शिक्षा समाज के सर्व साधारण–वर्ग पर विशेष प्रभाव न डाल सकी। इतना होते हुये भी यह कहना अतिश्योक्ति न होगी कि बौद्ध व्यवस्था, ने शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में समाज के वर्ग विशेष का एकाधिकार समाप्त करके समाज के सभी वर्गों के मध्य शिक्षा का विकास किया था। इस युग में शिक्षा की व्यवस्था सभी वर्गों के लिये समान थी।

(3) *बौद्ध युग में शिक्षा का संगठन :*

प्रायः अध्ययन करने से पता चलता है कि भिक्षुओं का जीवन आवासों में संगठित था। ये आवास भिक्षु उपनिवेश कहलाते थे। प्रत्येक उपनिवेश में अनेक बिहार होते थे। प्रत्येक बिहार में भिक्षुओं के निवास के लिये अनेक कक्ष (परिवेनस) होते थे। सम्पूर्ण उपनिवेश विशाल आराम के मध्य निर्मित होता था। वन्य पशुओं से रक्षा तथा उपनिवेश को एक पृथक इकाई देने के अभिप्राय से आराम चतुर्दिक काष्ट अथवा पत्थर की चहारदीवारी से घिरा रहता था।

उपनिवेश के सामूहिक उपयोग के लिये आराम के भीतर उद्यान, स्नानागार, माण्डागार, संग्रहालय तथा पाठशाला आदि निर्मित होते थे।[2] इन समस्त उपकरणों की सूची से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध जीवन चिरपर्यन्तशील न रहकर शनैः–शनैः स्थिर निवास शील समस्तिगत एवं आवासी होता गया था। इस सामूहिक जीवन को सम्यक् रूप से संचालित करने हेतु आपस में अनेक पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी, जिससे जीवन सम्यक् रूप से संचालित रहता था।

बौद्ध व्यवस्था के नितान्त जनतन्त्रात्मक होने के कारण आवास अथवा उपनिवेश की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सभी भिक्षुओं का समान रूप से अधिकार होता था। चुल्लवाग की व्यवस्थानुसार आराम, बिहार, गथन, पीठिका, उपधान, पात्र,

---

2. चुल्लवाग .6.4.10. तथा महावग्ग .3.5.6.

लता, वेणु, मंजु, काष्ठ–सामग्री, मृराभाण्डार इत्यादि सामूहिक सम्पत्ति है।[3] महापरिनिर्वाण सुत्तन्त का भी इसी आशय का कथन है कि "जब तक भिक्षु, नियमानुसार प्राप्त समस्त वस्तुओं का आपस में निष्पक्षपूर्वक विभाजन एवं सामूहिक उपभोग करते रहेंगें तब तक उनकी अवनति होने की अपेक्षा उत्थान ही होगा।"[4] इस प्रकार सहनिवासिता, सहकारिता तथा सहभागिता के आधार पर भिक्षुओं के द्वारा आवासों में जीवन व्यतीत करने के कारण बौद्ध व्यवस्था "संघ", "बिहार" अथवा "मठ" के नामकरण से सुविख्यात हुयी। यह बौद्ध व्यवस्था आज भी स्मरणीय है।

यही कारण था कि बौद्ध संघ ही शिक्षा संगठन के प्रमुख आधार थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध धर्म का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। सर्व–साधारण की विद्याध्ययन सम्बन्धी सुविधाओं को ध्यान में रखते हुये इनकी स्थिति सुगम स्थलों में होती थी। बौद्ध धर्म में शिक्षित व्यक्तियों को ही यहाँ शिक्षा प्रदान की जाती थी। इनसे अतिरिक्त अन्य लोगों को शिक्षा प्रदान का अधिकार संघों को नहीं था। शिष्य यहाँ स्थाई रूप से निवास करते हुये मनोवांछित आचार्यों के निर्देशन में विद्याध्ययन करते थे। व्यस्क भिक्षुओं की प्रबन्ध समिति इनकी सुख–सुविधाओं का ध्यान रखती थी। अतएव जिस प्रकार वैदिक कालीन शिक्षा गुरूकुलीय व्यवस्था में पल्लवित एवं पुष्पित हुयी उसी प्रकार बौद्ध युगीन शिक्षा संघीय व्यवस्थान्तर्गत उन्नति के शिखर तक सुशोभित हुयी।

इस तरह पब्बजा संस्कार के उपरान्त ही बालक विद्याध्ययन हेतु संघ में प्रवेश कर सकता था। यह संस्कार सामान्यतया आठ वर्ष की आयु में सम्पादित होता था।[5] संघ में शिष्य मनोवांछित आचार्य अथवा उपाध्याय का चयन करके उसके निर्देशन में अध्ययन करता था।[6] ज्ञार्नाजन की अवधि बारह वर्ष पर्यन्त थी। बौद्ध साहित्य में इसे "निस्सय" के नाम से पुकारा गया है।[7] यह काल ब्राह्मणों

---

3. चुल्ल वाग .6.15.2.
4. महापरिनिर्वाण सुत्तन्त .1.11.
5. मज्जिझम निकाय .2.10.9.
6. महावग्ग 1–53–4.
7. वही .1–25–7.

के ब्रह्मचर्याश्रम के समान था। संघ में प्रविष्ट होने के कारण नवागत भिक्षु को "श्रमण" अथवा सामनेर कहते थे। परन्तु ज्ञानार्जन काल में उसे "सिद्धि बिहारिक"[8] कहते थे। आचार्य अपने निरीक्षण में अधिक से अधिक दो शिष्यों को रख सकता था।[10] शिष्य के लिये आचार्य नितान्त आदरणीय था। उसके लिये वह पिता तुल्य था। उसके प्रति दुर्व्यवहार करने अथव आज्ञोलंघन करने के अपराध में वह संघ से बहिष्कृत किया जा सकता था।[11] परन्तु नितान्त जनतन्त्रात्मक संगठन होने के कारण बौद्ध धर्म में आचार्यों के प्रति अन्ध भक्ति के लिये कोई साधन नहीं था। वैशाली संगीत ने वाद–विवाद के पश्चात् यही मत निर्धारित किया था कि "आचार्य भी सदैव निर्विवाद रूप से अनुगमनीय नहीं होते हैं आज्ञा–पालन में विवेक और औचित्य भी अपेक्षित है।[12] विद्याध्ययन की अवधि समाप्त हो जाने पर शिक्षार्थी का बीस वर्ष की आयु में उपसम्पदा संस्कार होता था। इस संस्कार के उपरान्त वह बौद्ध संघ का पूर्ण सदस्य बन जाता था। कालान्तर में नालन्दा आदि कतिपय "संघ" अथवा बिहार उच्च शिक्षा केन्द्रों के रूप में विकसित हो गये थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित करने के उपरान्त वर्तमान में भी संस्मरणीय है।

इसी तरह व्यवसायिक शिक्षा संगठनों ने भी बौद्धकाल में शिक्षा के प्रचार–प्रसार में पर्याप्त योगदान किया था। वार्टस के अनुसार शाका नवयुवकों को शस्त्र विद्या में प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु कपिलवस्तु में धनुर्वेद–केन्द्र की स्थापना की गयी थी।[12] इसी प्रकार बुद्धघोष ने आम्रलता गुल्मों के मध्य स्थित एक शाक्यों के यांन्त्रिक विद्यालय का उल्लेख मिलता है।[13] सुत्त निपात के अनुसार काष्ठ शिल्प में युवकों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये बनारस में एक शिक्षण संस्था की स्थापना की गयी थी।

इसी प्रकार सामुदायिक शिक्षा–संगठनों ने भी शिक्षा के विकास में सराहनीय कार्य किया। जातक विशेष के सन्दर्भानुसार स्थान में पांच सौ ब्राह्मण छात्रों

---

8. महावग्ग .1.25.
9. महावग्ग .1–55.
10. वही .1–60.
11. चुल्ल वाग .11–1–10.
12. वार्टस, ग्रन्थ .2. पुष्ठ .13.
13. डायलाग्स ऑफ दि बुद्ध, एस0 बी0 बी0, .4. पृष्ठ .111.
14. परमत्थों जोतिका, .2. पृष्ठ 575.

के लिये विशिष्ट विद्यालय की स्थापना की गयी थी।[15] एक अन्य जातक में क्षत्रिय शिष्यों को ज्ञान प्रदान करते हुये आचार्य विशेष का उल्लेख मिलता है।[16] एक अन्य जातक के विवरणानुसार राजकुमारों को शिक्षा प्रदान करने के लिये तक्षशिला में विद्यालय विशेष की स्थापना की गयी थी।[17]

निवृत्तिमार्गीय ब्राह्मण, श्रमण तथा आजीवक आदि सम्प्रदायों ने भारतीय संस्कृति के विकास में पर्याप्त योगदान किया। ये लोग संसार त्यागी थे और किसी शान्त स्थान पर निवास करते हुये जीवन–मरण, आत्मा–परमात्मा, इहलोक–परलोक आदि के गहन विषयों पर मनन एवं विचार–विमर्श करते हुये समाज को धार्मिक नेतृत्व प्रदान करते थे।[18] सामाजिक व्यक्ति समय–समय पर स्व कल्याण के लिये उनसे परामर्श लेता था।[19] वर्ष में लगभग आठ मास से वे हिमालय पर स्थित घास और पत्तियों से निर्मित अपने आश्रमों में निवास करते थे।[20] आश्रम के कन्द मूल फल और अन्य खाद्यान्न ही इनकी जीविका के प्रमुख साधन थे।[21] वर्षाकाल में इस खाद्य सामग्री के अलम्य हो जाने के कारण ये लोग नीचे मैदानों में चले आते थे।[22] उनका सम्पूर्ण समय अध्ययन, मनन तथा विचार विमर्श में ही व्यय होता था। यह पूर्ण रूप से शिक्षा के खोजक थे।

कवि, गायक, दार्शनिक तथा पाथरात ब्राह्मण आदि समाज सुधारकों ने समाज के निचले स्तर तक सत्य का उपदेश पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।[23] ये लोग समस्त देश का भ्रमण करते थे और जनता को कर्म–सिद्धान्तों की शिक्षा दिया करते थे। ये स्वर्ग के सुखी जीवन तथा नरक के दुःखी जीवन का प्रदर्शन

---

15. जातक .1.317.402.
16. जातक .3.158.3 जातक .5.457.
17. सारथप्प कासिनी, 2.327. तथा सम्युत्त निकाय .3.151.
18. जातक .5.409. धम्मों हि इसिन धजो
19. जातक .4.139. समणां अनुशासन्ति इसी धम्म गणोरिता।
20. जातक .1.375.
21. जातक .4.434.
22. जातक .2.85.
23. जातक .5.313.

टिप्पणियों, युक्त–चित्रों के द्वारा करते थे।[24] इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन और सुन्दर आख्यायिकासों से रूपक ग्रहण करके दानशील, शील और स्वर्ग सम्बन्धी विषयों पर उपदेश दिये करते थे।[25]

(4) बौद्ध युग में शिक्षा की अवधारणा :

सामान्यतः बौद्ध धर्म, हिन्दू चिन्तन का ही विकसित एवं संवर्धित रूप था। अतएव इसका जीवन–दर्शन भी तदनुरूप ही था। वैदिक दर्शन के अनुसार ही इस धर्म का विश्वास था कि संसार में आत्मा के आवागमन के कारण ही जीवन की निरन्तरता बनी रहती है। यह स्थिति अत्यधिक दुखपूर्ण, भयावह एवं कष्टदायक होती थी। इसीलिये हिन्दू–दर्शन की भाँति इसका लक्ष्य भी जीवन–मरण के चक्रों से मुक्ति का उपाय खोजना था। इस प्रकार हिन्दू चिन्तन के अनुरूप ही इसके ध्येयानुसार भी सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाने के लिये सत्य का ज्ञान अपेक्षित है। यही कारण है कि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के समरूप ही विकसित हुआ।

उपर्युक्त अनेकानेक साम्यताओं के होते हुये भी बौद्ध धर्म में सत्य का ज्ञान प्राप्त करने सम्बन्धी प्रक्रिया वैदिक दर्शन से भिन्न थी। बौद्ध व्यवस्था में निर्वाण प्राप्ति हेतु चार आर्य सत्यों का पालन करते हुये सम्यक वाक्, सम्यक कमन्ति, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति, सम्यक समाधि, सम्यक संकल्प तथा सम्यक दृष्टि आदि अष्ट मार्गों के अभ्यास पर बल दिया गया। आत्मलीनता और आत्मसंयम के मध्य की स्थिति होने के कारण इस अष्ट–मार्ग को ''मध्य–मार्ग'' भी कहते हैं। इन अष्ट मार्गों का अनुसरण करने से शरीरी नियन्त्रण (शील), मानसिक नियन्त्रण (चित्त), विवेक– नियन्त्रण (प्रज्ञा) होता है। इनके निग्रह से श्रेष्ठ मानव–आचरण का विकास होता है। मानव–सदाचार व्यक्ति विशेष को सत्य–अन्वेषण के मार्ग पर अग्रसर करता है और अन्ततोगत्वा वह निर्वाण प्राप्त करके संसार के आवागमन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विद्यार्थियों में सदाचरण का विकास करना ही बौद्ध शिक्षा की मूल अवधारणा थी। सदाचरण ही उनकी शिक्षा का मूल लक्ष्य था।

---

24. वसरूपा .3.8.5.

25. कीथ – बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ .20.

(5) बौद्ध युग में शिक्षा का उद्देश्य :

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक और बौद्ध धर्म का लक्ष्य समान होते हुये भी इसकी प्राप्ति सम्बन्धी साधनों के सम्बन्ध में दोनों ही विचारधाराओं में पर्याप्त अन्तर था। वैदिक धर्म ने मोक्ष प्राप्ति के लिये **यज्ञ–विधान** को श्रेयष्कर बताया। बौद्ध धर्म ने निर्वाण प्राप्ति के लिये सदाचार पर बल दिया। इसीलिये बौद्ध–शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत मोक्ष प्राप्ति हेतु श्रेष्ठ मानवाचरण को ध्यान में रखते हुये ही शिक्षा के उद्देश्यों का सृजन किया गया था। तत्कालीन शिक्षा–संगठन में अपनाये गये उद्देश्य निम्नलिखित रूप से वर्णित है :–

1. आत्मज्ञान :

चूँकि ब्राह्मणीय शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत मोक्ष प्राप्ति हेतु परा एवं अपरा विद्या का ज्ञान अपेक्षित था इसके विपरीत बौद्ध शिक्षा में निर्वाण प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान अपरिहार्य था। बौद्ध व्यवस्थाकारों के अनुसार सत्य के अवबोधन से ही आत्मज्ञान सम्भव था। इसका साक्षात्कार तप, त्याग तथा ध्यान से ही किया जा सकता था। धम्म पद के अनुसार सत्य की प्राप्ति उद्योग अप्रमाद तथा इन्द्रिय दमन से ही हो सकती है।

2. आत्मानुशासन :

यहाँ पर बौद्ध शिक्षान्तर्गत आत्मानुशासन से तात्पर्य मन का नियन्त्रण करने से था। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार 'मन' अत्यन्त चंचल एवं चालायमाान होता था। यह मनोवैज्ञानिक स्थलों में भ्रमण करता रहता है। ऐसी स्थिति में इसका बोधन करना सरल कार्य नहीं। अतः बुद्धिमान मनुष्य को उसे वश में करना

---

26. धम्म पद, अप्पमाद वग्ग श्लोक .9.

उटठानेनप्पमादेन सज्जमेन दमेन च।

दीपं करयिथ मेधावी यं ओधो नाभि कीरति।

चाहिये।[27] मन अथवा चित्त का नियंत्रण कर लेने से राग, द्वेष तथा ईर्ष्या का इसमें प्रवेश नहीं हो पाता। इस प्रकार के विचार रहित मन के माध्यम से ही व्यक्ति सत्य के पथ पर अग्रसर हो सकता है।[28]

3. चारित्रिक विकास :

बौद्ध शिक्षा में चारित्रिक विकास पर भी अत्यधिक बल दिया गया था। इसीलिये बौद्ध आचार्यों ने सत्यकर्मों एवं श्रेष्ठ कार्यों के द्वारा चारित्रिक उन्नयन के लिये छात्रों को प्रोत्साहित किया है। उनका विचार था कि इन कार्यों में शिथिलता आने पर मन पाप में लिप्त हो जाता है।[29] उसके विपरीत इनका पालन करने से चारित्रिक उन्नयन होता है तथा दूसरों का कल्याण होता है तथा पुण्य कार्य करने से दूसरों का हित होता है।[30]

4. सामाजिक विकास :

अनेक पुस्तकों के अध्ययन से शोधकर्त्ता को ज्ञात हुआ है, कि धर्म नितान्त निवृत्ति प्रधान था। वह गृहस्थ जीवन को निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में बाधक समझता था और इसीलिये उसने इसका त्याग कर परिव्राजक–जीवन का प्रतिपादन किया था, तथापि बौद्ध शिक्षण संस्थाओं में सामाजिक उन्नयन के लिये धार्मिक विषयों

---

27. धम्म पद, चित्त वग्ग. श्लोक .10.

    सुदुछमं सुन्निपुणां यत्थकाम निपातिनं।
    चित्तं खखेय्य मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं।।

28. वही श्लोक .11.

    अन्नवसुत चित्तसस्य अनन्ता हत चेतसो।
    पुज्ज पापहीणस्य नत्थि जागरतों भयं।।

29. यही. पाप वग्ग, श्लोक 20.

    अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।
    दन्ध हि करोतो पु. पापस्मिं रमते मनो।।

30. वही, अत्तवाग, श्लोक 15.

    सुकर्णन असाधूनिं उत्तनों अहितानि च
    च वे च साधूं चतं वे परम दुक्करं।।

के साथ ही धनुर्विद्या[31], चिकित्सा विद्या[32], तन्त्र विद्या[33], नक्षत्र विद्या[34], वास्तु विद्या[35] तथा अंग विद्या[36] आदि अनेकानेक लौकिक विषयों का शिक्षण प्रदान किया जाता था। इन्हीं विषयों के शिक्षण के परिणामस्वरूप समाज का चतुर्दिक विकास हुआ। बौद्ध युग में समाज के विकास की स्थिति अत्यधिक उच्च कोटि की थी।

(ब) बौद्धकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम :

बौद्धकालीन विचारधारा वैदिक विचारधारा के समतुल्य होते हुये भी बौद्ध युग से भिन्न थी। बौद्ध विचारधारा के अनुसार लौह, काष्ट और रज्जु की अपेक्षा सांसारिक जीवन के बहुमूल्य रत्न, आभूषण, स्त्री तथा सन्तान आदि मनुष्य के वास्तविक बन्धन हैं। शान्ति की प्राप्ति हेतु मनुष्य को इन्हें त्याग करना है।[37] धन–धान्य, बन्धु–बान्धव, आशा–अभिलाषा आदि का त्याग कर निष्पृह जीवन यापन करने वाला व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी है।[38] इस प्रकार बौद्ध दर्शन के निवृत्ति प्रधान होने के कारण शिक्षा सन्यास मूलक थी। इस शिक्षा का प्रावधान मात्र संघ–प्रवेशार्थियों के लिये ही था। विद्यार्थी संघ में प्रवेश करके धर्म विषयक पाठ्यक्रम का ही अनुशीलन करते थे। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत प्रारम्भ में सर्व–साधारण के लिये लौकिक पाठ्यक्रम की व्यवस्था नहीं थीं।

अतः परवर्ती काल में बौद्ध मनीषियों ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये जनसहयोग एवं सहानुभूति का अनुभव किया । अतएव उन्होंने सामान्य जन–समुदाय के कल्याणार्थ संघों ने लौकिक पाठ्यक्रम की व्यवस्था की। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा मात्र भिक्षुओं के निमित्त ही न रह करके सर्वसाधारण के लिये भी अपने द्वार खोल दिये। सम्भवतः बौद्ध धर्म ने सम्पूर्ण समुदाय की शिक्षा का उत्तरदायित्व प्रथम ई0 के

---

31. जातक .3.219.
32. जातक .4.171.
33. जातक .4.172.
34. जातक .1.10.
35. जातक .1.297.
36. जातक .3.122.
37. बन्धनागर जातक .2.139.
38. जातक 4. पृष्ठ 303.

प्रारम्भ में लिया। पाठ्यक्रम में धार्मिक विषयों के साथ ही जीवनोपयोगी एवं लौकिक विषयों के सम्मिलित किये जाने के कारण बौद्धकाल विषयों के सम्मिलित किये जाने के कारण बौद्धकाल में धार्मिक, आध्यात्मिक, साहित्यक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई। पाठ्यक्रम में लौकिक विषयों का समावेश स्पष्टतः पढ़ा जा सकता है।

धार्मिक एवं नैतिक विषयक पाठ्यक्रम :

बौद्ध शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत भिक्षुओं के लिये धार्मिक पाठ्यक्रम का अध्ययन–अध्यापन अनिवार्य एवं आवश्यक था। संघ में प्रवेश करने के उपरान्त दस वर्ष तक नव भिक्षुओं को बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का ही अनुशीलन करना पड़ता था। भिक्षुओं के धार्मिक पाठ्यक्रम में "धम्म" विनय तथा सुत्तन्त आदि ग्रन्थों क सन्निवेश किया गया था। धम्म कथिक धम्म पर विचारों का आदान प्रदान करते थे। सुतन्ति, सुत्तन्त का विवेचन करते थे। विनय धर पर उपदेश देते थे।[39] चुल्लवाग के अनुसार धर्म विषयक पाठ्यक्रम का स्पष्टीकरण करने के उपरान्त उपाध्यागण शिष्यों का परीक्षण करते थे[40] महावम्म के विवरणानुसार धार्मिक पाठ्यक्रम को कंठस्थ करने के उपरान्त छात्र–श्रवण–श्रावण, वार्तालाप तथा वाद–विवाद आदि विषयों के माध्य से इसकी पुष्टि करते थे।[41] राइड डेविडस् के मतानुसार निर्दिष्ट धार्मिक विषयों का अध्ययन करने के उपरान्त उच्च प्रतिभा वाले छात्र बुद्ध द्वारा निश्चित किये गये चतुर्ज्ञानों का अभ्यास करते थे।[42]

जैसा कि शोधकर्त्ता ने पढ़ा है कि वैदिक धर्म में व्याप्त विभिन्न दोषों की प्रतिक्रिया फलस्वरूप ही बौद्ध धर्म का अभ्युदय हुआ था। अतएव अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने हेतु यह सदैव प्रयत्नशील रहता था। वैदिक धर्मावलम्बियों के साथ धार्मिक विषयक वाद–विवाद में बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता बनाये रखने के लिये बौद्ध आचार्यों ने भिक्षुक को वेदवेदांग सहित न्याय, वैशेषिक, योग तथा सांख्यादि आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों के अध्ययन हेतु भी उत्प्रेरित किया।

---

39. महावग्ग .4.15.3.
40. चुल्लवग्ग .8.7.4.
41. महावग्ग .4.15.4.
42. सराइए डैविडस – बुद्धिस्थ, पृष्ठ .176.

बौद्ध धर्मानुसार भिक्षुओं के लिये शरीर का आच्छादन करना आवश्यक था। इसीलिये अन्तश्वसिक, उत्तरसंग और संघादि आदि तीनों वस्त्रों (त्रिचीवर) की व्याख्या की गयी। प्रारम्भ में ये वस्त्र लोक व्यक्त अथवा श्मशान–प्राप्त वस्त्रों से निर्मित किये जाते थे। कालान्तर में भिक्षु इन्हें भिक्षा के रूप में ग्रहण कर सकता था। अन्ततोगत्वा भिक्षुओं को ही कताई, बुनाई तथा सिलाई का प्रशिक्षण प्रदान करके वस्त्रों के निर्माण की व्यवस्था संघ में ही कर दी गयी। इस प्रकार वस्त्र निर्माण में भिक्षु–गण स्वयं स्वालम्बी होते हुये सामान्य लोगों को भी आत्म–निर्भर बनाने लगे।[43] वस्त्र निर्मित हो जाने के पश्चात् विशिष्ट समारोह में आवश्यकतानुसार भिक्षुओं के मध्य इनका वितरण किया जाता था। इस समारोह को कथन कहते थे।[44]

संघ में भिक्षुगण सामूहिक जीवन यापन करते थे। इनके सम्यक रूप से संचालित करने के लिये आवास में अनेक पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी।[45] खाद्यान्न संचय करने के लिये एक भाण्डागरिक होता था। भिक्षुओं में अन्न, फल, भिक्षा–पात्र एवं अल्प सामग्री के विभाजित करने हेतु क्रमशः संघमत्त, फलभांष्क, पत्तगाहापक तथा अप्पगत्तक विस्सज्जक नामक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। समय–समय में आवास पर नवीन कक्षों, भवनों तथा प्राचीरों का निर्माण होता था। यह निर्माण–कार्य नवकम्मिक के निरीक्षण में होता था। सामान्यतया सम्पूर्ण आराम की देख–रेख का उत्तरदायित्व, आरामिक पृथक पर होता था। विविध वस्तुओं का ब्योरा रखने के लिये इन्हें लेखन गणना तथा रूपम (मुद्राव्यवस्था) आदि का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था।[46]

मिलिन्द प्रश्न में भी बौद्ध भिक्षुओं के पाठ्यक्रम का विवरण मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार इन्हें भगवान बुद्ध से सम्बन्धित गद्य–संकलन, पद्य–संकलन, जन्म–कथाओं तथा देवीय गाथाओं आदि का अनुशीलन करना पड़ता था।[47] निर्माणधीन भवनों का पर्यवेक्षण तथा उपहारों तथा भेटों का भी प्रबन्ध भिक्षुओं के धार्मिक कृत्यों

---

43. महावग्ग .5.4.2.
44. वही .7.
45. चुल्ल वाग .6.21.1.2, 3.6.5.2.
46. विनयः 1.77 तथा .4.7.1.
47. मिलिन्द प्रश्न – नवम् अनुच्छेद उप0 .4.7.1.

का अंग था।[48] ये सभी कार्य उनकी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल थे।[49]

युवान च्वांग के भारतीय यात्रा विवरण में भिक्षुओं के पठन–पाठन की झलक मिलती है। इसके अनुसार बौद्ध विहारों में शिष्यों को सर्वप्रथम "सिद्धम" (वर्णमाला और संयुक्ताक्षरों से सम्बन्धित द्वादशध्यायी) का अभ्यास कराया जाता था। तदनन्तर उन्हें व्याकरणशास्त्र, शिल्पशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, तर्कशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र आदि पांचों विज्ञानों अथवा शास्त्रों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थियों के लिये इस प्राथमिक पाठ्यक्रम का अनुशीलन अत्यावश्यक था।[50]

इत्सिंग के भारत–यात्रा विवरण से भी बौद्ध भिक्षुओं के पाठ्यक्रम का संकेत मिलता है। इसके अनुसार सर्वप्रथम भिक्षुओं को सिद्धिरस्तु नामक वर्णमाला पुस्तक का अभ्यास कराया जाता था। तदनन्तर धर्मशास्त्र (प्रातिमोक्ष विनय, सूत्र शास्त्र), काव्यशास्त्र, गद्यशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, शिल्पशास्त्र, चिकित्साशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र आदि विषयों का शिक्षण प्रदान किया जाता था।[51]

साहित्य कला तथा विज्ञान एवं जीवकोपार्जन विषयक पाठ्यक्रम :

बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत प्रचलित विभिन्न पाठ्यक्रमों का उल्लेख भी तत्कालीन पाली ग्रन्थों में भी स्थान–स्थान पर मिलता है। जातकों के अनेकानेक सन्दर्भों के अनुसार सुदूर जनपदों के छात्र तक्षशिला में आकर तीन वेदों तथा अठारह शिल्पों का अध्ययन करते थे।[52] इन्हीं ग्रन्थों के कतिपय स्थलों पर छात्रों द्वारा मात्र वेदों[53] अथवा कलाओं[54] के ज्ञानार्जन करने का विवरण उपलब्ध होता है। **डा0 राधाकुमुद** विचारानुसार वेदों आदि में धार्मिक पाठ्यवस्तु साहित्यिक शिक्षा के अर्न्तगत तथा शिल्पों अथवा कलाओं के अर्न्तगत उल्लिखित है।

---

48. वही .4.7.1.
49. वही .5.7.6.
50. प्रो0 आर0 के0 मुखर्जी – एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ .528.
51. आर0 के0 मुखर्जी – एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ .537–40.
52. जातक .1.259.356.402.464.2.87.3.115.122.
53. जातक .1.402.3.235.4–293.
54. जातक .3.18.238.4.456.5.127.162.177.
55. डा0 आर0 के0 मुखर्जी – एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ .486.

इस प्रकार जातकों में तीन वेदों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि सामान्य शिक्षा के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम में अथर्ववेद को सन्निहित नहीं किया गया था। निःसन्देह इस काल में भी वेदों को कंठस्थीकरण की प्रक्रिया से ही आत्मसात् करने का प्रचलन था। जातक विशेष के सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि पॉच सौ ब्राह्मणों ने तक्षशिला के अध्यापक के मुख से वेदों को श्रवण करने के पश्चात् उनको कंठस्थ किया।[56] इसी जातक को एक अन्य विवरणानुसार बोधिसत्व ने तीनों वेदों को कंठस्थ करके उनका ज्ञान प्राप्त किया।[57] कतिपय स्थलों में वेदों को पवित्र पाठ्यवस्तु,[58] पुनीत ग्रन्थ[59] तथा विधि–संकलन[60] के रूप में वर्णित किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये पारिभाषित शब्द पवित्र बौद्ध साहित्य की ओर संकेत करते है। अपने मत की दृष्टि में इनका कहना है कि जातकों में सूत्र और विनय के आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[61]

शोधकर्त्ता को सामान्यतया जातक ग्रन्थों में वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक पाठ्यक्रम के अर्न्तगत विषयों का प्रथम–प्रथम उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि इनके कतिपय स्थानो में वैयक्तिक विषयों का विवरण उपलब्ध होता है। तथापि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि अठारह शिल्पों के अर्न्तगत ही आयेगें। जातकों के अनुसार चिकित्सा विद्या[62], धनुर्विद्या[63], संगीत विद्या[64], वास्तु विद्या[65], नक्षत्र विद्या[66], अंग विद्या[67], भूत विद्या[68], सर्प विद्या[69], मन्त्र विद्या[70], सम्मोहन विद्या[71],

56. जातक .1.402.
57. जातक .1.259.
58. जातक .3.235.
59. जातक .4.293.
60. जातक .4.392.
61. जातक .3.486.
62. जातक .4.171.
63. जातक .3.219.
64. जातक .1.262.5.290.
65. जातक .1.297.4.323.
66. जातक .1.10.
67. जातक .3.122.
68. जातक .1.133.
69. जातक .4.457.
70. जातक .1.257.
71. जातक .2.100.

वशीकरण विद्या[72], अभिचार विद्या[73], तन्त्र विद्या[74], हस्ति विद्या[75], शकुन विद्या[76] तथा आखेट विद्या[77] आदि अनेकानेक वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक विषयों का अध्ययन विद्यार्थी शिक्षा केन्द्रों पर करते थे तथा ज्ञान और कौशल में निपुण होता थे।

प्रस्तुत अध्ययन में मिलिन्द प्रश्न के अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा कल्प, निरूक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, इतिहास, पुराण आदि सहित, लक्षण विद्या, अंग विद्या, स्वप्न विद्या, निमित्त विद्या तथा उत्पात विद्या आदि तत्कालिक अध्ययन के विषय थे।[78] इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थलानुसार राजा मिलिन्द ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ज्योतिष, छन्द, सांख्य, योग, वैशेषिक सहित इतिहास शास्त्र, पुराण शास्त्र, श्रुति शास्त्र, नीति शास्त्र, मन्त्र शास्त्र, युद्व शास्त्र, हेतु शास्त्र तथा मुद्रा शास्त्र का अध्ययन किया।[79] चुल्लवाग में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, कल्प शिक्षा, निरूक्त, व्याकरण, पद इतिहास तथा लोकायतन (खगोल विद्या, ज्योतिष विद्या, प्रेत विद्या तथा अन्य विद्यायें) आदि विषयों का उल्लेख मिलता है।[80]

एक अन्य ग्रन्थ ललित विस्तार के अनुसार भगवान बुद्ध ने अपने विवाह के अवसर पर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि सहित विघष्टशास्त्र (कोष रचना), निरूक्त शास्त्र (शब्द व्युत्पत्ति), छन्द शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, कल्प शास्त्र, शिक्षा शास्त्र (स्वर शास्त्र), सांख्य योग, वैशेषिक, न्याय शास्त्र, अंक शास्त्र, गणना शास्त्र, लिपि शास्त्र, काव्य शास्त्र, लेखन शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, संगीत शास्त्र, युद्व शास्त्र, चित्रांकन शास्त्र, छद्म विद्या, मल्ल विद्या, उद्यान विद्या, वशीकरण विद्या, स्वप्न विद्या, भविष्य विद्या, उद्यान विद्या, मणि विद्या आदि अनेकानेक

---

73. जातक .4.456.
74. जातक .3.122.
75. जातक .2.47.
76. जातक .3.415.
77. जातक .2.200.
78. मिलिन्द प्रश्न पृष्ठ 178.
79. वही पृष्ठ .3.
80. चुल्ल वाग .5.33.2.

विज्ञानों, व्यवसायों एवं कलाओं का परिचय दिया।[81] दिव्यावदान के अनुसार लिपि विज्ञान, अंक विज्ञान, अश्व विज्ञान, गंज विज्ञान, कृषि विज्ञान, पार्श्व विज्ञान तथा पशु विज्ञान आदि विषयों का अनुशीलन सामान्य एवं सर्वसाधारण लोग करते थे।[82]

विशिष्ट विषयक पाठ्यक्रम :

बौद्ध युग में बौद्ध शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत चाण्डालों के अतिरिक्त सभी वर्गों को शिक्षण–संस्थाओं में ज्ञानार्जन हेतु अनुमति प्रदान कर दी गयी थी। इन शिक्षण केन्द्रों में उन्हें परम्परागत विषयों का परित्याग करके मनोवांछित विषयों का अनुशीलन करने की स्वतन्त्रता दी गयी थी। तत्कालीन ग्रन्थों में उनके साक्ष्य उपलब्ध होते थे। जातक विशेष के अनुसार एक छात्र ने पवित्र ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त अपने गृहस्थ जीवन में आरवेदक व्यवसाय को अपनाया।[83] अन्य ब्राह्मण ने विविध विषयों का परित्याग करके तन्त्र विद्या में सामाजिक विषयों का अध्ययन करने के उपरान्त धनुर्विद्या में विशिष्टता प्राप्त किया।[84] एक अन्य ब्राह्मण शिष्य द्वारा वशीकरण विद्या में दक्षता प्राप्त करने सम्बन्धी उल्लेख मिलता है।[85] एक शिक्षार्थी ने विज्ञान में महारथ अर्जन किया।[86] कतिपय जिज्ञासुओं ने तीन वेदों एवं अठारह शिल्पों में विद्वत्ता अर्जन किया।[87] तत्कालीन समय में कतिपय शिक्षा–केन्द्र कतिपय विशिष्टता प्रदान करने के लिये राष्ट्रीय स्तर विख्यात थे। यह प्रसिद्धता उनकी एक पहचान थी।

जैसा कि अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय कुछ विषयों के लिये बहुत अधिक विख्यात था। इन विषयों में विशिष्टता प्राप्त करने के लिये भारत के सुदूर क्षेत्रों से विद्यार्थी यहाँ आते थे। तक्षशिला का आयुर्वेद विभाग विशिष्टीकरण के लिये भारत वर्ष में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त था तत्कालीन समय का प्रसिद्ध वेद्य जीवक ने यहीं रहकर चिकित्सा शास्त्र में कौशल अर्जन किया था।[88]

---

81. ललित विस्तार, पृष्ठ 108. पंकित 8–10.
82. दिव्यावदान .26,99.100.
83. जातक .2.200.
84. जातक .2.99.
85. जातक 3.219.
86. जातक .4.456.
87. जातक .3.18.
88. जातक .2.87.3.115.122.

इस संस्था का विधि–विभाग भी बहुत प्रसिद्ध था।[89] उज्जैनादि प्रान्तों के विद्यार्थी यहाँ विद्या में विशिष्टता प्राप्त करते थे।[90] इस शिक्षा केन्द्र के धनुर्वेद–विभाग भी अद्वितीय थे। इसके एक विभाग में एक समय भारतवर्ष के एक सौ तीन राजकुमार सैन्य विज्ञान में चातुर्य अर्जन कर रहे थे।[91] तत्कालीन भारत में तक्षशिला विश्वविद्यालय के धनुर्वेद विभाग द्वारा सैन्य विज्ञान में प्रदान किये जा रहे प्रशिक्षण की माँग सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त थी। अतः बौद्ध युग में सैन्य शिक्षा का स्थान था।

इसी प्रकार बनारस विश्वविद्यालय भी विषयों में विशिष्टीकरण प्रदान करने के लिये प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र था। उसकी स्थापना तक्षशिला के भूतपूर्व छात्रों ने की थी।[92] इस प्रकार उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में तक्षशिला के एकाधिकार को समाप्त कर दिया था। यहाँ वशीकरण विद्या, सम्मोहन विद्या[93] तथा अन्य सामान्य विषयों[94] में शिक्षण प्रदान हेतु अनेकानेक विद्यालयों की स्थापना की गयी थी। यह शिक्षण केन्द्र संगीत–शास्त्र में विशिष्टता प्रदान करने के लिये भारत वर्ष में बहुत अधिक ख्याति प्राप्त था। विश्वप्रसिद्ध संगीतज्ञ के निर्देशन में यहाँ गन्धर्व विद्या में शिक्षण प्रदान करने की समुचित व्यवस्था की गयी थी।[95]

उक्त शिक्षा केन्द्र अतिरिक्त नालान्दा विश्वविद्यालय में भी विविध विषयों में शिक्षण प्रदान किया जाता था। यहाँ कला, विज्ञान तथा शिल्प आदि विषयों के साथ ही अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र, सांख्याशास्त्र, योगशास्त्र, चिकित्साशास्त्र आदि विषयों में विशिष्ट शिक्षण प्रदान किया जाता था।[96] इस प्रकार इस उच्च संस्था में अलौकिक एवं कलाओं में प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था थी। इन विषयों के अध्यानार्थ यहाँ देश–विदेश के विद्यार्थी आते थे।

---

89. विनय महावग्ग .8.1.3–6
90. जातक .4.392.3.171.
91. जातक .5.457.
92. जातक .130.185.
93. जातक .2.99.
94. जातक .1.464.
95. जातक नं0 243.

बौद्धकाल में ऋषि आश्रम भी विशिष्ट विषयक पाठ्यक्रम के श्रोत थे। सामान्यतया इनकी स्थिति विद्यालय की उपत्यकाओं में होती थी।[97] कतिपय परिस्थितियों में इनकी स्थिति ग्रामीण परिसरों में होती थी।[98] ये आश्रम आयात्मिक, तात्विक तथा दार्शनिक विषयों में विशिष्ट शिक्षा प्रदान करते थे। कभी–कभी आश्रम विशेष में जिज्ञासु विद्यार्थियों की इतनी अधिक संख्या हो जाती थी कि ऋषि विशेष को शिक्षण–कार्य के लिये पृथक आश्रमों की स्थापना करनी पड़ती थी।[99]

स्त्री शिक्षा विषयक पाठ्यक्रम :

बौद्ध युग में, बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत पुरूषो की भाँति स्त्रियाँ भी पबज्जा संस्कार के उपरान्त संघ में प्रवेश करके विद्याध्ययन करती हुई उपसम्पदा संस्कार ग्रहण करती थी।[100] भिक्षुणी संघ में सम्पादित उपसम्पदा संस्कार की प्रक्रिया भिक्षु में सम्पन्न उपसम्पदा संस्कार के समान ही होती थी। यद्यपि इसकी पुष्टि भिक्षु संघ ही करता था। भिक्षुणियों को प्रत्येक मास में दो बार निर्देश प्राप्त करने के लिये भिक्षुओं के पास जाना पड़ता था। छात्रायें बिना भिक्षु की आज्ञा प्राप्त किये प्रश्नादि नहीं पूछ सकती थीं।[101] ये बारी–बारी से भिक्षु से निर्देश प्राप्त करती थीं।[102] भिक्षु–भिक्षुणियों के लिये निर्धारित सामान्य उपदेशों के साथ ही इन्हें विशिष्ट उपदेशों का भी अनुशीलन करना पड़ता था।[103] इस प्रकार भिक्षु–संघ की भाँति भिक्षुणी संघ भी बौद्ध शिक्षा और संस्कृति के विशिष्ट केन्द्र थे। प्रतिभा सम्पन्न भिक्षुणिओं के उनके दृष्टान्त बौद्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार बौद्ध भिक्षुणियाँ काव्य रचना में बहुत अधिक पारंगत थी। उनकी अनेक रचनायें घेरी गाथा में आज भी सुरक्षित है। वे इतनी अधिक श्रेष्ठ

97. जातक .1406.431.3.143 : 4.74.

98. जातक .3.115.

99. जातक .5.128.

100. विनय पिटक .1. पृष्ठ .130, 167.

101. विनय पिटक .2. पृष्ठ .253. 55.

102. मज्जिम निकाय. 3.270.

103. विनय पिटक .2. पृष्ठ .258.

कवियित्री थीं कि कतिपय विद्वानों ने उन्हें कालीदास और अमरू की श्रेणी में रखा है।[104] कुछ विद्वानों का विचार है कि घेरी गाथा में सुरक्षित कविताओं की गायिकायें इनकी रचनाकार नहीं हो सकीं। इसके विपरीत श्री एस0 के0 दास का विचार है कि घेरी गाथा में सन्निहित रचनाओं की गायिकायें ही इनकी रचनाकार है।[105]

इसके अतिरिक्त कतिपय बौद्ध भिक्षुणियों को उपदेश देने में बहुत अधिक निपुणता प्राप्त थी। सुखा नामक भिक्षुणी इतनी प्रकाण्ड उपदेशिका थीं कि अन्य भिक्षुणियाँ उसके उपदेशों को ध्यान मग्न होकर सुनती थीं। यहाँ तक की वृक्षात्मा इतनी द्रवित हो जाती थी कि वह भी इसकी प्रसंशा करने लगती थी। इन घटनाओं से द्रवित होकर सामान्य लोग भी उस भिक्षुणी के पास जाकर उसका उपदेश ध्यान से सुनते थे।[106] संयुक्त निकाय में भी उसकी वक्कृता–शक्ति का सन्दर्भ मिलता है। इसके अनुसार उसने राजगुरू के व्यक्त्यिों के मध्य उपदेश दिया। राक्ष ने उनकी भाषण–शक्ति की तुलना करते हुये अन्य लोगों को उसके पास जाकर इसका पान करने का परामर्श दिया था।

किंचितऐक बौद्ध भिक्षुणियाँ विवाद सम्पन्न होती थीं। बुद्धा कुण्डल केश नामक भिक्षुणी निग्रन्थों के संघ में प्रवेश करके सिद्धान्तों को आत्मसात् करने के उपरान्त उनका साथ छोड़ दिया। तदनन्तर वाद–विवाद में उसका कोई सामना नहीं कर पाता था। परन्तु सारिपुत्र ने वाद–विवाद में उसे पराजित करके उसको भगवान बुद्ध के पास भेजा। उन्होंने उसकी ज्ञान की परिपक्वता को स्वीकार किया।[107]

सामान्यतया कुछ स्त्रियाँ दर्शनज्ञा भी होती थी। मज्जिझम निकाय[108] से ज्ञात होता है कि धम्मदिना नामक स्त्री ने ''सक्काय दिदि्ढ'', ''सक्काय निरोध'', ''अरिय अट्ठ गिंकोमग्गो'', ''संसार'', ''निरोध समापत्ति'' तथा विविध प्रकार की वेदना दार्शनिक एवं तात्विक विषयों से अपने पति को भिज्ञ कराया। भगवान बुद्ध इसीलिये इस स्त्री की गणना सर्वश्रेष्ठ भिक्षुणियों में करते थे। इसने विनय को भली–भाँति आत्मसात किया था।[110]

---

104. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .252.
105. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .25
106. थेरी गाथा टीका, पृष्ठ 57–61
107. वही पृष्ठ .99.
108. मज्जिझम निकाय, पृष्ठ 299.
109. थेरी गाथा टीका, पृष्ठ 15.
110. थेरी गाथा टीका, पृष्ठ 18.

इसी प्रकार कुछ बौद्ध भिक्षुणियों ने बौद्ध धर्म के प्रचार में सराहनीय कार्य किया। अशोक की पुत्री संघमित्रा त्रिविज्ञानों में पटु थी तथा ऐन्द्रजलिक शक्तियों में मर्मज्ञ थी।[111] उसने लंका के अनुराधापुर में सुत्तपिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म का उपदेश दिया।[112] उत्तरा भी संघमित्रा के समान त्रिविज्ञानों में परम्परागत थी। इसने मल्ला, पबल्ता फंग्गु, धम्मदासी, प्रसादपाल तथा अग्गिमित्ता आदि भिक्षुणियों के साथ श्री लंका के अनुराधापुर में विनय–पिटक, सुत्त के पाँच संग्रहों तथा अभिधम्म के सात खण्डों का ज्ञान प्रदान किया।[113] हम भी संघमित्रा के समान त्रिविज्ञानों में निपुण थीं तथा उसी के समान विनय पटक, सुत्तपिटक, के पांच संग्रहों एवं अभिधम्म के साथ संकलनों का उपदेश दिया।[114] सीवाला तथा महारूहा ने अनुराधापुर में विनय–पटक, सुत्त पिटक के पाँच संग्रहों एवं अभिधम्म के सात संग्रहों का ज्ञान प्रदान किया।[115] अंजलि समुछन्नावा ने अनुराधापुर में विनय पिटक का शिक्षण प्रदान किया।[116] सुमना, महिला, महादेवी, पदुमा तथा वैमासा आदि भिक्षुणियों ने अनुराधापुर में विनय पिटक का शिक्षण किया।[117] काली नामक भिक्षुणी सम्पूर्ण धर्मशास्त्री में पारंगत थी तथा अनुराधापुर में विनय पिटक का उपदेश दिया।[118] अग्निमित्ता त्रिविज्ञानों में निपूण थी।[119]

इसी तरह सपत्ता, चन्ना उपाधि तथा रेवती आदि भिक्षुणियाँ विनय का अध्ययन करने वाली महिलाओं में सर्वश्रेष्ठ थी।[120] पटाकारा विनय पिटक का आत्मीकरण करने वाली भिक्षुणियों में अग्रगणी थी।[121] उपलवन्ना, सोभिता, इसिदासिका, विशासा, सबला, संघदासी नन्दा सोभा तथा धम्म आदि भिक्षुणियाँ भी विनय में पारंगत थी।[122] मन्दुत्तरा विज्जा तथा सिध में दक्ष थीं।[123] दिव्यावदान[124] से ज्ञात

---

111. द्वीप वंश, भाग 18.
112. वही भाग .15.
113. वही भाग .18.
114. वही
115. वही
116. वही
117. वही
118. वही
119. वही. खण्ड. .15.
120. वही. खण्ड .18.
121. अंगुत्तर निकाय .1.25.
122. द्वीपवंश, भाग .18.
123. थेरी गाथा टीका पृष्ठ 87.
124. दिव्यावदान पृष्ठ .532.

होता है कि छात्रायें रात्रि में बुद्धवचन पढ़ती थी। कुल्मागा, धन्ना, सोना महातिस्सा तथा महसमना आदि भिक्षुणियाँ "परम्परा" में प्रवीण।[125] जेन्ता नामक भिक्षुणी छात्रा ने सात सम्बोज्ज झंगो को विकसित किया।[126]

इस युग में उपर्युक्त धार्मिक, आध्यात्मिक तथा तात्विक विषयों के अतिरिक्त स्त्रियों को ललित कलाओं की भी शिक्षा भी दी जाती थी। जातक विशेष के अनुसार कन्हा नामक स्त्री बहुत अधिक संगीत पटु थी।[127] अनेक स्थलों पर कार्य संलग्ना कन्यायें एवं स्त्रियाँ गीत गाती प्रदर्शित की गयी हैं।[128] जातकों में उनके लिये बहुधा "कुसला मच्चगीतेसु" शब्दों का प्रयोग किया गया है।[129] कभी–कभी उनकी यह संगीत नृत्य विद्या उनके लिये जीविका का साधन भी बन जाती थी।[130] इन कलाओ की लोकप्रियता बौद्ध साहित्य[131] में उल्लिखित वीणा आदि अनेक वाद्यों एवं सोलस हस्स नाटकिथित्थ्यों के उल्लेखों[132] से होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिष्ट कुटुम्बों में संगीत एवं नृत्य संस्कृति के अग समझे जाते थे।

इस प्रकार इन ललित कलाओं के अतिरिक्त बालिकाओं और महिलाओं का गृहस्थ कार्यों एवं अनेक लाभदायक उद्योग–धन्धों की शिक्षा दी जाती थी। एक जातक में अपरा को एक विदुषी एवं गृहस्थी कार्य–कुशला के रूप में प्रदर्शित किया गया है।[133] उन्हें कताई–बुनाई तथा सिलाई आदि व्यवसायों की भी शिक्षा दी जाती थी। आवश्यकता पड़ने पर ये उपयोगी धन्धे जीवकोपार्जन में सहायक होते थे।[134] धम्म पद टीका में अनेक स्त्रियाँ सूत कातती, वस्त्र बुनती तथा कवि कार्य करती हुयी प्रदर्शित की गयी।[135]

---

125. द्वीपवंश, खण्ड .18.
126. थेरी गाथा टीका, पृष्ठ .27.
127. जातक .4. पृष्ठ .393.
128. जातक .1. पृष्ठ .470. जातक 4 पृष्ठ .231.
129. डा० वी० सी० पाण्डेय – भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ 118.
130. जातक .529.
131. महावग्ग 1–7–2.
132. जातक 1. पृष्ठ 437 : जातक 3. पृष्ठ 378 : जातक 4 पृष्ठ .191.
133. जातक .6. पृष्ठ 25.
134. अंगुत्तर निकाय .3. पृष्ठ 293 कुसलाहं गहपति कप्पासं कंतितुं वेणि भौलिखितं सवकाहं गहपति तवच्चयेन दारके पैसितुम।
135. धम्म पद टीका .113.

धार्मिक एवं लौकिक जीवन सम्बन्धी पाठ्यक्रम :

सामान्यतया बौद्ध दर्शन नितान्त निवृत्ति प्रधान था। वह गृहस्थ जीवन को निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में बाधक समझता था और इसी से उसने इसका त्याग कर परिव्राजक जीवन का प्रतिपादन किया था। बौद्ध विचारकों के लिये वैवाहिक जीवन बाधायुक्त एवं रागमुक्त था।[136] ऐसे वातावरण में उच्चतम जीवन की सम्भावना नहीं रहती थी। गृहस्थ जीवन प्रज्वलित आवा के समान है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति के लिये वह सर्वथा त्याज्य है।[137] इसी प्रकार के निवृत्ति मूलक अनेकानेक कथन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इसी निवृत्ति का प्रधान कारण संसार और जीवन की आसरता है। यहाँ प्रत्येक वस्तु नश्वर है। उद्‌भव और अन्त ही संस्कार का एक मात्र नियम है। जो वस्तु उत्पन्न हुयी है वह नष्ट अवश्य होगी। यह संसार नितान्त निराशमय है। अतः बुद्धिमान को सांसारिकता में नहीं पड़ना चाहिये । प्रबज्या एवं विराग के द्वारा ही मनुष्य जीवन–मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[138] एक कवि ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि –

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात,"
देखत ही छिप जाएगा, ज्यों तारा प्रभात।"

यह जीवन ओस के बिन्दु के समान क्षण–भंगुर है।[139] राहुग्रासित चन्द्रमा की भाँति कालान्तर में प्रत्येक मनुष्य क्रान्ति हीन हो जाता है।[140] व्यक्ति आजीवन धन–धान्य संग्रह करता रहता है। परन्तु मृत्यु के समय उसके समस्त इष्ट पदार्थ इस संसार से छूट जाते हैं और उसे एकांकी प्रधान बनना पड़ता है।[141] पुनः सांसारिक जीवन छल–बुद्धमय है।[142] एक जातक में एक विद्यार्थी अपने अध्यापक से प्रश्न करता है कि संसार में सफलता प्राप्ति हेतु किस वस्तु की आवश्यकता है। गुरू ने

---

136. तैविज्ज सुत्त .47.
137. धम्मिद सुत्त .21.
138. गर्व सुत्त .1–10.
139. सुवंजय जातक .3.36.A
140. गन्धार जातक .3.36.A
141. जातक .4.7.
142. जातक .2. पृष्ठ 233.

उत्तर देते हुये कहा कि इस संसार में सफल जीवन व्यतीत करने के लिये प्रवंचना और दुराचार की आवश्यकता होती है। अस्तु उसने विचार किया कि इस प्रकार के सफल जीवन से तो परिब्राजक जीवन उत्तम है।[143]

इन निवृत्ति मूलक दार्शनिक विचारधाराओं को क्रियान्वित करने के लिये बौद्ध दार्शनिकों एवं शिक्षाशास्त्रियों ने धार्मिक पाठ्यक्रम की व्यवस्था की थी, व्यक्ति विशेष द्वारा संघों अथवा बिहारों में प्रदान की जाती थी। शिक्षार्थियों को विनय, सुत्तन्त तथा अभिधम्म आदि धार्मिक विषयों के साथ ही बौद्ध दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों का भी अनुशीलन करना पड़ता था। अन्य सम्प्रदायों के साथ धार्मिक वाद–विवाद में बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता बनाये रखने के लिये इन्हें जैन और हिन्द दर्शन का भी आत्मीकरण करना पड़ता था।[145]

बौद्ध संघों में मोक्ष मूलक धार्मिक पाठ्यक्रम का अध्ययन करने के लिये लिंग भेद का विचार न करके, सभी लोगों को प्रवेश दे दिया जाता था।[146] इस प्रकार कोई भी व्यक्ति संघ में प्रवेश करके ज्ञार्नाजन कर सकता था। संघ प्रवेश के पश्चात भिक्षु पूर्ण रूप से संघ के नियन्त्रण और अनुशासन में आ जाता था। वह अपने समस्त कार्यों के लिये संघ के प्रति उत्तरदायी था। भिक्षु समुदाय में व्यवस्था बनाये रखने के लिये बौद्धों ने सुविशाल दण्ड विधान का विकास किया था इसके अन्तर्गत पश्चाताप से लेकर संघ बहिष्कार तक के दण्ड उल्लिखित है।[147]

यद्यपि बौद्ध धर्म की प्रारम्भिक अवस्था में बौद्ध बिहारों में धार्मिक विषयक पाठ्यक्रम की ही शिक्षा प्रदान की जाती थी। परन्तु कालान्तर में बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाये रखने के लिये तथा सर्वसाधारण के भौतिक कल्याणार्थ संघों में लौकिक शिक्षा भी प्रदान की जाने लगी।[148] वैदिक युग की तरह इस काल में

---

143. जातक .169.
144. महावग्ग .4.15.4.
145. डा0 ऐ0 स0 उल्तेकर – एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 159.
146. जातक .4. पृष्ठ .303.
147. महावादन सुत्त .3.28.

    सन्ती परमं तमो विविक्सा
    नित्वानं परमं वदन्ति बुद्धा
    न हि पब्बजितो पुरूष धाति
    समनो होति पर विहेथयन्तो
    सबक पापस्य अकरं कुशलस्स उप सम्पदा
    सचिव – परियोदपमं एवं बुद्धान सासनम्

148. डा0 ऐ0 स0 उल्तेकर – एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 230.

लौकिक शिक्षा धार्मिक पाठ्यक्रम की सहचरी नहीं थी। अब इसका अध्ययन स्वतन्त्र रूप से किया जाता था। लौकिक पाठ्यक्रम में सन्निहित विषयों के अध्यापन के लिये विशिष्ट अध्यापकों की नियुक्ति की जाती थी।[149] इन्हीं की देखरेख में विद्यार्थी मनोवांछित विषयों का चयन करके उसमें दक्षता प्राप्त करते थे।[150]

इस युग में लौकिक पाठ्यक्रम बहुमुखी था। इसमें समयानुकूल सभी जीवनोपयोगी एवं समाजोपयोगी विषयों को सन्निहित किया गया था। सैद्धान्तिक शिक्षण के साथ ही इनका प्रायोगिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था। विशिष्ट विषयों का प्रायोगिक प्रशिक्षण अध्यापक विशेष के निर्देशन में सम्पन्न होता था तथा सामान्य विषयों में विद्यार्थी स्वयं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे।[151] पृथक–पृथक विषयों के शिक्षण के लिये अन्यान्य शिक्षकों की नियुक्ति की जाती थी। विषयों में प्रायोगिक ज्ञान प्रदान करने के लिये प्रयोगशाला एवं उपकरणों की व्यवस्था रहती थी।

बौद्ध शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत लौकिक विषयों में सर्वाधिक लोकप्रिय आयुर्वेद[152], धनुर्वेद[153], गन्धर्व वेद[154], तन्त्र विद्या[155] तथा वास्तुविद्या[156] एवं विधि शास्त्र[157] आदि विषय थे। आयुर्वेद का पाठ्यक्रम अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत था। इसमें पशु चिकित्सा एवं शल्य चिकित्सा भी सम्मिलित थी। धनुर्वेद विषय भी बहुत अधिक लोकप्रिय था। प्रायः देश के सभी राजकुमार इसमें प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश लेते थे। गन्धर्व वेद में नृत्य, गायन, वादन, आदि विद्याओं का समावेश किया गया था। पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियाँ इसमें अधिक रूचि लेती थीं। तन्त्र विद्या में सम्मोहन विद्या, इन्द्रपाल विद्या, वशीकरण विद्या, सम्मिलित थी। इस

---

149. इत्सिंग – भारत – यात्रा विवरण – पृष्ठ 106.

150. आर0 के0 मुखर्जी, एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ .482.

151. वही पृष्ठ .487.

152. जातक .471.

153. वही, .3.219.

154. वही, .1.262.

155. वही, .1.122.

156. वही, .1.297.

157. वही .3.171.

युग में इनकी लोकप्रियता भी बहुत अधिक थी। वास्तुविद्या इस युग में उच्च शिखर पर थी। भवन निर्माण कला, मूर्तिकला तथा चित्रकला आदि इसमें सम्मिलित थी। नालान्दा तथा विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालयों के अवशेष तथा तत्कालीन समय के निर्मित बिहार तथा स्तूप भवन–निर्माण कला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते है। खनन कार्य में प्राप्त बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तिकला का मूर्त स्वरूप है। अजन्ता की चित्रकला आज भी विश्व में अपना अद्वितीय स्थान रखती है। इस काल में विधि शास्त्र के अध्ययन का भी पर्याप्त प्रचलन था। तक्षशिला में इसके अध्ययन के लिये सुदूर प्रान्तों से लोग आते थे और प्रशिक्षणोपरान्त समाज की सेवा में तल्लीन रहते थे।

इस प्रकार उपर्युक्त जीवनोपयोगी लौकिक विषयों के अतिरिक्त वैदिक युग की भाँति इस काल में भी पारिवारिक परम्परा के आधार पर लोकोपयोगी व्यवसायों अथवा शिल्पों का शिक्षण प्रदान किया जाता था। सामाजिक संगठन के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में शिल्पजीवी ग्रामों में कृषक परिवारों के आश्रय में रहकर अपना जीवन निर्वाह करते थे। क्रमशः बौद्धकाल में व्यवसायों की बुद्धि के साथ ही शिल्प जीवियों ने अपना स्वतन्त्र संगठन प्रारम्भ कर दिया था और वे धीरे–धीरे ग्रामों को छोड़कर नगरों की ओर बढ़ने लगे थे। यहाँ उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता के साथ ही आर्थिक सुविधायें भी विशेष रूप से प्राप्त थीं। नागरिक जीवन के विकास के साथ ही व्यवसायों की भी उन्नति होने लगी थी। शिष्य समाज ने अपनी व्यवस्था समूह–संगठन के रूप में प्रारम्भ की थी और व्यवसायों का संगठन समूहों के रूप में होने लगा था।

बौद्ध साहित्य में इन व्यवसायिक–समूहों का बोध कराने के लिये श्रेणी और पूरा शब्दों का प्रयोग हुआ।[158] जातकों के वर्णनों से शिल्प समूहों की स्थिति का अभ्यास होता है। तत्कालीन समाज–व्यवस्था में इन श्रेणियों की इतनी शक्तिशाली स्थिति हो गयी थी कि वे अपने वर्ग की रक्षा करने तथा स्वर्ग के व्यक्तियों के द्वारा अधिकारों का दुरूपयोग करने पर उन्हें अपदस्थ करने में समर्थ होने लगी थी। इन श्रेणी समूहों को अपने विवादों का निर्णय करने का पूर्ण अधिकार था।[159]

---

158. रीज डैविडस – बुद्धिस्थ इण्डिया, फर्स्ट इण्डियन, पृष्ठ 60

159. विनय पिटक 4.226.

जातकों में अठारह श्रेणी समूहों का उल्लेख बार–बार मिलता है।[160]

इस तरह संगठन की दृष्टि से ये व्यावसायिक श्रेणियाँ परम्परागत उत्तराधिकार की प्रथा पर आधारित थीं। जातकों से पष्ठिक कुल[161] सट्ठवाह पृव्व[162], घण्ण वणिज कुल[163], षष्ठिक कुल[164] आदि का प्रयोग परम्परागत व्यवसाय के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। व्यावसायिक सम्बन्धों का क्रमशः होने के साथ ही इन श्रेणी समूहों में आत्मनिर्भरता की वृद्धि होने लगी और शनैः शनैः उन्होने विवाह तथा खान–पान के सम्बन्ध में अपनी प्रथाओं को निश्चित कर लिया था। कालान्तर में वे शिल्प जातियों के रूप में परिणत हो गये और अपना अपना जीवन शिल्प–जाति के रूप में व्यतीत करने लगे थे।

स्थानीकरण की दृष्टि से शिल्प–समूहों का प्रभाव दोनों ही नगरों और ग्रामों के व्यावसायिक क्षेत्रों में परिलाक्षित होता है। नगरों में दन्तकार तीथी[165], रजक तीथी[166], सुरापाण[167] तथा तंत वित्तटठान[168] आदि शब्द विभिन्न व्यवसायों के स्थानीयकरण को चरितार्थ करते है। नगरवासियों की तरह ग्रामीण अंचलों में व्यवसायिक ग्राम भी अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के लिये प्रसिद्ध थे। ऐसे ग्राम स्वतन्त्र रूप से देश के भू–भाग में स्थित थे। वे स्वयं ग्रामीण क्षेत्र के हेतु व्यावसायिक केन्द्र की भाँति थे। आस–पास के गाँव के लोग उस ग्राम में जाते थे और कृषि तथा अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुयें वहाँ लेते थे।[169]

---

160. जातक .2. पृष्ठ 22, 427 – अट्ठारह श्रेणियाँ
161. जातक .1.98.107.2.200.
162. जातक .1.99.199.2.335.
163. जातक .3.190.
164. जातक .1.312.
165. जातक .1.320.
166. जातक .4.81.
167. जातक .1.121.252.269.350.
168. वही .1.356.
169. जातक .3.281. वसि फरसु–फल पचनादिकारापनत्थ।

इसके अतिरिक्त आन्तरिक प्रशासन की दृष्टि से भी शिल्प–समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। प्रत्येक शिल्प समूह के नेतृत्व का एक प्रमुख अथवा ज्येष्ठ के द्वारा होता था। ऐसे शिल्प प्रमुखों के प्रमाण हमें जातकों में यथेष्ट रूप में मिलते है। इनमें बडढकिज्टेठक[170], मालाकार जेट्ठक[171] तथा वम्मार जेट्ठक[172] के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कभी–कभी इन शिल्प–प्रमुखों की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण होती थी। यह समृद्ध होने के साथ वे राजा के कृपापात्र होते थे। सुक्ति जातक में एक ऐसे समृद्धशाली कम्मार जेट्ठक के राजा का कृपा पात्र होने का उल्लेख मिलता है।[173]

शोधकर्त्ता के अध्ययनानुसार बौद्ध ग्रन्थों में इन प्रमुख व्यवसायों की संख्या प्रायः अठारह बताई गई है परन्तु इनकी संख्या इससे कहीं अधिक प्रतीत होती है। बौद्ध जातकों में वस्त्र–शिल्प समूह[174], काष्ट–शिल्प समूह[175], आभूषण–शिल्प समूह[176], कुम्म–शिल्प समूह[177], चर्म–शिल्प समूह[178], पत्थर–शिल्प समूह[179], इस्ति–दन्त शिल्प[180], वस्त्र शिल्प समूह[181] तथा कम्भार शिल्प समूह[182] आदि व्यावयायिक श्रेणियों का उल्लेख बहुधा मिलता है। परन्तु कुछ अनय ऐतिहासिक पुस्तकों में इनकी संख्या अधिक दी गई है।

इस तरह जातक कहानियों में व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिये ''अन्तेवासिक'' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह अपने व्यावसायिक पुत्र के पास रहकर शिल्प–ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता था। इन विभिन्न व्यवसाय–समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में अधिक तथ्य नहीं मिलते है। यदि कभी दो शिल्प–समूहों में मतभेद हो जाता था।[183] तो उसका निर्णय महाश्रेष्ठि करता

---

170. जातक .4 पृष्ठ 161.
171. जातक .3.405.
172. जातक .3.281.
173. जातक .3.281.
174. महावग्ग .8.1.
175. जातक .2.18.
176. आचारंग सूत्र .2.4, 2.11.
177. जातक .6.5.
178. जातक .6.142.
179. जातक.1.478.
180. जातक .1.320.
181. जातक .5.45.
182. उरग जातक .15A सेगिभण्डन

था। इसकी स्थिति सभी श्रेणियों के प्रधान के रूप में थी।[183] महाश्रेष्टि की महानता प्रधान के समरूप ही आँकी गई थीं।

तत्कालीन पाठ्य पुस्तकें एवं हस्तलिपियाँ :

प्राचीनकाल अथवा वैदिक कालीन भारत की अपेक्षा इस युग में लेखन की लोकप्रियता अधिक थी। बौद्धकालीन ग्रन्थों में इसके पर्याप्त साक्ष्य मिलते है। महावग्ग के अनुसार लेखन–कला जीविका अथवा व्यवसाय का साधन था।[184] विभंग में भिक्षुओं के लिये लेखन–कला का अनुमोदन किया गया।[185] सुत्त विभंग ने भ्रामक एवं शरारतपूर्ण तथ्यों को लिपिबद्ध करने वालों के लिये मृत्यु–दंड की संस्तृति की है।[186] कटाहक शातक में लिपि–ज्ञान के हेतु काष्ठ फलक लिये हुये सेवक के साथ श्रेष्टि पुत्र के विद्यालय जाने का वर्णन मिलता है।[187] इन सन्दर्भों के अतिरिक्त आदेश[188], संदेश[189] तथा आज्ञा[190] भेजने स्वर्णपलक[191], स्वर्णभूषक[192], निवास स्थान[193], वस्त्र[194] तथा पर्ण[195] आदि का प्रयोग होता था।

इस युग के साहित्य के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि उपर्युक्त लेखन–कला के प्रचलन के प्रमाणों के अतिरिक्त संभवतः इसका प्रयोग पुस्तकों एवं हस्तलिपियों के तैयार करने के लिये भी किया जाता था। एक जातक

---

183. रीज डेविड्स – बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ 60.
184. महावग्ग .1.49.1.
185. एस. बी. ई. ग्रन्थ .13. पृष्ठ .33.
186. वही
187. कटाहक जातक .6.5. फलक वहमानो गन्तवा
188. जातक .1.377.2.95.174
189. जातक .4.145.
190. जातक .6.370.
191. जातक .2.36.
192. जातक .6.390.
193. जातक .6.520.
194. जातक .6.408.
195. जातक .2.174.

के अनुसार निद्रा छात्र को पुस्तकों के अवलोकन से वंचित करती है।[196] बौद्ध ग्रन्थों में विद्यार्थी द्वारा विद्वानों के बचकाने के उल्लेख निरन्तर प्राप्त हुये हैं।[197] एक अन्य जातक के विवरणानुसार बोधिसत्व ने भिक्षुओं के विवादों के समाधान हेतु विधि–पुस्तक की रचना करवायी थी।[198]

इसी प्रकार लेखन कला के इन विवरणों एवं सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि इसका प्रयोग सीमित रूप में शिक्षण–कार्य के लिये होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राथमिक स्तर पर पठन–पाठन तक अंकगणित आदि का ज्ञान प्रदान करने के लिये इसका उपयोग किया जाता था। इसकी पुष्टि कौटिल्य के कथन से भी होती थी। उसके अनुसार चूड़ाकर्म संस्कार के उपरान्त बालक को लिपि (लेखन) तथा संख्यानम् (गणना तथा अंकगणित) का बोध कराया जाता था।[199] इसके अतिरिक्त भिक्षु विद्यार्थियों को भी यदा–कदा दुलर्भ पुस्तकें उपलब्ध हो जाती थीं। वे लोग इनके माध्यम से पाठ्यवस्तु के कंठस्थीकरण का प्रयास करते थे। सामान्य लोग भी इसका प्रयोग गृह तथा अलंकरणों आदि की शोभा बढ़ाने के लिये करते थे। पत्राचार आदि के लिये भी लेखन–कला का उपयोग प्रचलित था।

यहाँ पर उपर्युक्त लेखन–कला के प्रचलन सम्बन्धी सन्दर्भों से यह संकेत नहीं मिलता कि इसका उपयोग धार्मिक एवं लौकिक साहित्य के शिक्षण एवं संरक्षण हेतु किया जाता था। इस प्रकार वैदिक युग की भाँति इस काल में भी शिक्षालिखित साहित्य पर निर्भन नहीं करती थी। यह तथ्य उपलब्ध अप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष प्रमाणों से स्वतः सिद्ध हो जाती है। रीज डैविड्स तथा ओन्डेन वर्ग पाण्डुलिपियों से सम्बन्धित अप्रत्यक्ष साक्ष्यों का विवेचन प्रस्तुत हुये संकेत करते हैं कि विनय पाठ्यवस्तु में सन्निहित बौद्ध आरामों एवं बिहारों की सम्पत्ति के विस्तृत विवरण में शिक्षण–कार्य हेतु प्रयुक्त हस्तलिपियों का उल्लेख किचिंत मात्र भी प्राप्त नहीं होता। यदि अध्ययन–अध्यापन हेतु पाठ्य–पुस्तकों के प्रयोग का प्रचलन होता तो भिक्षुओं

---

196. जातक .1.436. ''पस्सन्ति''
197. आर० के० मुखर्जी – एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन सिप्पस वाचेति : 485.
198. जातक .3.292.
199. कौटिल्य .1.5.

द्वारा प्रयुक्त विविध उपकरणों की सूची में इनका सन्दर्भ अवश्य होता। इन हस्तलिपियों के साथ ही लेखन कार्य के लिये आवश्यक मसि, लेखनी तथा पर्ण आदि सामग्री का भी वर्णन प्राप्त नहीं होता। हस्तलिपियों के अनुकृति करने सम्बन्धी प्रक्रियाओं का भी संकेत नहीं मिलता है यदि भिक्षुगण पठन–पाठन के लिये पाण्डुलिपियों का उपयोग करते होते तो उनके लेखन प्रयासों का उल्लेख अवश्य मिलता।[200]

अतः शोधकर्त्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इन नकारात्मक साक्ष्यों के अतिरिक्त सकारात्मक सन्दर्भों से भी यह सिद्ध होता है कि बौद्धकाल में शिक्षण–कार्य के लिये लेखन प्रयोग नगण्य था। महावग्ग के सन्दर्भानुसार स्थान विशेष के भिक्षु पातिमोवश्व के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होने के कारण इनका ज्ञान प्राप्त करने हेतु निकटस्थ संघ के विशेषज्ञ को अपने यहाँ आमन्त्रित किया था।[201] इसी ग्रन्थ के एक अन्य विवरणानुसार सामान्य उपासक ने अपने आवास में भिक्षु समुदाय को आमंत्रित करके सुत्तन्त का ज्ञान प्राप्त किया।[202]

अतः .इन उपर्युक्त नकारात्मक एवं सकारात्मक उद्धरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि बौद्ध काल में भी वैदिक युग की ही भाँति शिक्षण कार्य के लिये पाठ्य–पुस्तकों का प्रचलन नहीं था। इस प्रकार इस काल में भी पूर्व–काल की तरह शिक्षण–व्यवस्थान्तर्गत. मौखिक शिक्षा–प्रणाली का प्रचलन था। यद्यापि इन दोनों संगठनों में इस प्रणाली के अपनाये जाने के कारण भिन्न–भिन्न रहे होगें। वैदिक चिन्तकों की अपेक्षा बौद्ध अनुयायी धार्मिक विचारों में अधिक प्रगतिशील थे। इसीलिये उन्होनें परिमार्जित और पवित्र संस्कृत के स्थान पर लोकप्रिय पाली भाषा को शिक्षण कार्य के लिये अपनाया तथा अपनी व्यवस्था से जातीय विषमताओं को तिरस्कृत कर दिया। इससे स्पष्ट है कि वे धर्म ग्रन्थों को लिपिबद्ध करना अपवित्रता को द्योतक नहीं मानते होगें। संभवतः लेखन–कार्यों के लिये सुलभ एवं आवश्यक सामग्री के अभाव में ही अध्ययन–अध्यापन हेतु पाठ्य–पुस्तकों एवं हस्तलिपियों का प्रयोग नहीं किया जाता था। यही स्थिति लौकिक शिक्षण के सन्दर्भ में भी थी।[203] यही कारण है कि इस युग में पाठ्यक्रम का लिखित अभाव रहा है।

---

201. महावग्ग .2.17.5.6.

202. वही .3.5.9.

203. रीज डेविडस तथा ओन्डेन वर्ग – "एस0 बी0 ई0" ग्रन्थ .13. पृष्ठ .33.

नव ब्राह्मणकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम

(समयकाल 550 ई0 से 1200 ई तक)

(1) परिचय (नव ब्राह्मण युग का अभ्युदय एवं विकास) :

ऐतिहासिक पन्नों को पलटने से प्रतीत होता है कि अशोकादि राजाओं के प्रयासों के फलस्वरूप देश एवं विदेश में बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार अत्यन्त तीव्र गति से हुआ। भारतवर्ष में यह धर्म लगभग सात शताब्दियों तक लोकप्रिय रहा। तदनन्तर शनैः शनैः इसका पतन प्रारम्भ हो गया था। इसकी ख्याति और वृद्धि के दिन अतीत के पृष्ठ बन गये थे। भारतीय एवं पाश्चात्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षु त्याग, संयम एवं साधना का जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु कालान्तर में ये लोग भोग–विलास में लिप्त हो गये। संघों में प्रचुर धनराशि के संग्रह एवं भिक्षुणियों के प्रवेश के कारण भी बौद्ध धर्म की लोकप्रियता को अत्याधिक आघात पहुँचा। यवन आक्रमणकारियों ने भी बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा को बहुत अधिक क्षति पहुँचायी। इन्होनें बौद्ध अनुयायी को मौत के घाट उतार दिया अथवा इस्लाम धर्म ने इन्हें दीक्षित कर लिया। अवशेष भिक्षुओं ने नेपाल तिब्बत तथा चीन आदि देशों में शरण प्राप्त की। इसी समय ब्राह्मणवाद का पुनरूथान हुआ। हिन्दू सुधारकों ने हिन्दूवाद के प्रचार में सराहनीय कार्य किया। **कुमारिलभट्ट** तथा **शंकराचार्य** आदि दार्शनिक ने बौद्ध धर्म को हिन्दू दर्शन का अंग सिद्ध करते हुये ब्राह्मणवाद की स्थापना की। बौद्ध मतावलम्बियों हिन्दू दर्शन के इन विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित न कर सके। परिणामस्वरूप भारतवर्ष में सदैव के लिये बौद्ध धर्म का लोप हो गया तथा ब्राह्मणवाद की पुनः स्थापना हुयी।

इस प्रकार हिन्दू सुधारकों ने बौद्ध धर्म की अनुवांशिक दुर्बलताओं का लाभ उठाते हुये वैदिक धर्म के नवीन स्वरूप की स्थापना की। इसे ही **नव्य–ब्राह्मणवाद** कहते हैं। यह वैदिक धर्म का ही परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप है। प्राचीन वैदिक धर्म के राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक आदर्शों की स्मृतियों एवं पुराणों में संकलित करके उन्हें नवीन रूप प्रदान किया गया। ब्राह्मणवाद एवं एत्दसम्बन्धी संस्कृत भाषा के चिन्ह सर्वप्रथम द्वितीय शताब्दी में दृष्टिगोचन हुये। तदनन्तर क्रमशः तृतीय और चतुर्थ शताब्दी में पश्चिमी क्षेत्रों एवं गुप्त सम्राटों ने इनका संवर्धन एवं उन्नयन किया। दक्षिणी भारत में चालुका नरेश ने उनके उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान किया।

(2) **शिक्षा का प्रसार :**

हिन्दू सुधारकों ने बौद्ध धर्म के अस्तित्व को समाप्त करने के लिये सर्व–साधारण के मध्य लघु एवं दीर्घ संस्थाओं की स्थापना की। इसके अतिरिक्त इन्होनें त्याग, संयम एवं साधना का जीवन–यापन करने वाले समर्पित व्यक्तियों का एक व्यापक संगठन तैयार किया। इसमें नव–ब्राह्मणवाद के आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रचार एवं प्रसार हेतु सुदूर ग्रामीण अंचलों में व्याख्यानों, संगोष्ठियों तथा सम्मेलनों का आयोजन किया। इन प्रयासों के फलस्वरूप सर्व साधारण के मध्य द्रुत गति से शिक्षा का प्रसार हुआ। वस्तु विशिष्ट व्यक्तियों एवं संगठनों ने सर्वसाधारण की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ज्ञान पीठिकों की स्थापना की थी। शिक्षा की इस व्यापकता के कारण पाठ्यक्रम के क्षेत्र में भी विस्तार हुआ एवं एतद्सम्बन्धी नवीन विधियों का भी सृजन हुआ। इस प्रकार शोधकर्त्ता ने प्रस्तुत अध्ययन में देखा कि इस समयावधि में शिक्षा का काफी प्रसार हुआ था।

(3) **तत्कालीन शिक्षा संगठन :**

नव–ब्राह्मणकाल में कुछ नवीन प्रकार के शैक्षिक अभिकरण भी प्रकाश में आये हैं। तत्कालीन शैक्षिक आवश्यकताओं एवं जनाकांक्षाओं के अनुसार ही इनकी स्थापना हुयी थी। इस युग में कतिपय वैदिक युगीन संस्थाओं को नवीन नामकरणों के अन्तर्गत पुनः स्थापित किया गया तथा कुछ अभिकरणों को बौद्ध बिहारों के आधार पर विकसित किया गया। इस प्रकार नव–ब्राह्मणकालीन शिक्षा–संगठन पर दोनों ही वैदिक एवं बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थाओं का प्रभाव परिलाक्षित होता है। **शोधकर्त्ता यहाँ पर तत्कालीन समय में लोकप्रिय शिक्षा–अभिकरणों एवं साधनों पर विचार करेगा।**

अतः नव–ब्राह्मण कालीन भारत में शिक्षा–अभिकरणों के रूप में **घटिकाओं** का विशेष महत्व भा। ये शिक्षा–प्रसारण की अत्यन्त लघु इकाइयाँ थीं। इनका संवर्धन एवं विकास वैदिक–कालीन ऋषि आश्रमों के आधार पर हुआ था। ये एकल अध्यापकीय शिक्षण संस्थायें थीं। शिक्षक विशेष, इनमें कतिपय विद्यार्थियों को प्रवेश प्रदान करके उन्हें धार्मिक ग्रन्थों का ज्ञान प्रदान करता था। दक्षिण भारतीय अभिलेखों में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। **काकूस्थवर्मन** द्वारा स्थापित **तालगुण्डा–स्तम्भ** में धारिका विशेष का सन्दर्भ मिलता है। पश्चिमी क्षेत्रों के संरक्षण में इसकी स्थापना

कांचीपुर में की थी। पवित्र ग्रन्थों में पारंगत होने के लिये मयूर शर्मा नामक ब्राह्मण ने अपने शिक्षक वीर शर्मन के साथ इसमें प्रवेश लिया था।[1] वेलूपालयम फलक से हमें ज्ञात होता है कि पल्लव नरेश स्कन्ध शिष्य ने पश्चिमी क्षेत्र सत्यसेन से इस धारिका को छीनकर अपने अधिकार में कर लिया था।[2] नन्दीवर्मन के काशकुटी फलकों से संकेत मिलता है कि उसने धारिका विशेष चतुर्वेदों का अध्ययन एवं अनुशीलन किया था।[3] इसी प्रकार घटिकाओं के सम्बन्ध में अन्य बहुत से सन्दर्भ मिलते हैं।[4] जिनका विवरण शोधकर्त्ता ने प्रस्तुत अध्ययन के शोधकार्य में किया है।

इसी प्रकार घटिकाओं की भाँति विद्या पीठों ने भी शिक्षा के प्रचार–प्रसार में पर्याप्त योगदान किया था। ये प्राचीन गुरू–कुलों की परिवर्तित एवं परिवर्धित स्वरूप थे। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये पीठिकायें मड्ढों के आदर्शों पर स्थापित की गयी थीं। शंकराचार्य ने जन साधारण के मध्य शिक्षा का प्रचार करने के लिये कांचीपुरम के अतिरिक्त उत्तर में शारदा, पूर्व में पुरी, पश्चिम में द्वारिका तथा दक्षिण में श्रंगेरी आदि चार महत्वपूर्ण स्थानों में विद्यापीठों की स्थापना की थी। यहाँ के अध्यापक और छात्र ग्रामीण अंचलों में जाकर सर्व–साधारण के मध्य वैदिक साहित्य और संस्कृति का प्रचार करते थे।[5] तथा जन–मानस को दीक्षित करते थे।

अतः बौद्ध शिक्षा–संगठन की भाँति हिन्दू शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत भी शिक्षा–अभिकरणों के रूप में मठों का विशेष महत्व था। युवान–चुवांग के विवरणानुसार ये अक्षरशः बौद्ध मठों की अनुकृति थे। इन मठों में शैव मतावलम्बी निवास करते थे तथा हिन्दू दर्शन और संस्कृति का प्रचार करते थे दक्षिण भारत में शैव सम्प्रदायों से सम्बन्धित अनेक मठ थे। इन्होनें ख्याति और शक्ति का अर्जन शनैः शनैः किया।

---

1. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 330–331.
2. इपि ग्रैफिक इण्डिया .7.
3. साउथ इण्डियन इनसक्रिप्सन्स, 2.349 तथा .356.
4. इपि ग्रैफिक इण्डिया .3.36, 4.196 , 6.241
5. इपि ग्रैफिक इण्डिया ग्रन्थ 13 नं0 16.

सुदूर जनपद में स्थित मल्लकापुरम् के स्तम्भ–अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतिभा सम्पन्न विद्वानों एवं धर्म सुधारकों ने यहाँ मठ की स्थापना की थी। इसके अन्तर्गत चिकित्सालय तथा भोजनालय से युक्त अनेक शिक्षण–संस्थायें वैदिक संस्कृति के प्रचार में संलग्न थीं।[6] प्रमुख शिक्षण **मठ–पति** कहलाता था। सम्पूर्ण मठ–व्यवस्था का उत्तरदायित्व इसी पर था। चरित्रहीनता और कर्तव्य–शिथिलता के साक्ष्य मिलने पर इसे निष्कासित किया जा सकता था। कन्हण की राजतंरगिणी में सन्निहित सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि काश्मीर में ब्राह्मणों, शैवों तथा पाशुपतों के लिये असंख्य मठ स्थापित किये गये थे।[7] **धर्म–भेद,** अभिलेख में वैष्णव और शैव मठों का उल्लेख मिलता है।[8]

इस प्रकार नव–ब्राह्मण काल में मन्दिर–विद्यालयों ने शिक्षा के प्रसार में पर्याप्त योगदान किया अनेक शिक्षण संस्थायें मन्दिरों से सम्बद्ध रहती थीं। विभिन्न प्रकार के अनुदानों से इनका संवर्धन होता था।[9] इन विद्यालयों में विशिष्ट प्रकार के निर्वाचित विषयों का शिक्षण प्रदान किया जाता था। इनके प्रबन्ध एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रधान शिक्षक पर होता था। ये मन्दिर विद्यालय प्राचीन कृषि–आश्रमों से भिन्न थे। आश्रम–संस्थायें लोकप्रिय विद्यालयों के रूप में प्रसिद्ध थीं तथा मन्दिर संस्थाओं को लोकप्रिय ज्ञान पीठिकाओं के समान ख्याति प्राप्त थी। शिक्षा का विशिष्ट महत्व था।

टोल आदि शिक्षण संस्थाओं ने भी संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार में प्रमुख भूमिका निभाई। वे एक कक्षीय सामान्य संस्थायें होती थीं। इन्हीं के परिसर में छात्रों के निवास के लिये साधारण आवासों की व्यवस्था रहती थी। शिष्यों के आवासों, शिक्षण–शुल्क, भोजन तथा परिधान आदि की व्यवस्था का उत्तरदायित्व गुरू पर ही होता था। **नदिया** और **बनारस** की टोल–संस्थायें बहुत ही लोकप्रिय थी। यहाँ तर्क, स्मृति, ज्योतिष, व्याकरण, काव्य तथा तन्त्र आदि विषयों का शिक्षण प्रदान किया

---

6. मद्रास इपि ग्रैफिक रिपोर्ट .1917, पृष्ठ 122.
7. इपि ग्रैफिक इशिडका – ग्रन्थ 12. नं0 290.
8. मद्रास इपि ग्रैफिक रिपोर्ट 1916. नं0 567 तथा 290.
9. मद्रास इपि ग्रैफिक रिपोर्ट .1912–13.

जाता था। प्रसिद्ध विद्वान **कावेल** ने नदिया स्थित टोल की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।[10] इन संस्थाओं का शिक्षण आदर्श स्वरूप था।

इस समय राजागण शुभ अवसरों पर विद्वान ब्राह्मणों को अपनी राजसभा में आमंत्रित करके उनके आवास हेतु ग्राम–दान करते थे तथा उनके भरण–पोषण के लिये इन ग्रामों का राजस्व उनके लिये निर्दिष्ट कर देते थे। इन्हीं ग्रामों को **अग्रहार** कहते थे। ये अग्रहार शनैः शनैः उच्च शिक्षा के केन्द्र बन गये। यहाँ संस्कृत की सम्पूर्ण शाखाओं में निःशुल्क शिक्षण प्रदान किया जाता था। ब्राह्मण विद्वान स्वयं इन अग्रहारों का प्रबन्ध करते थे। इस प्रकार के शैक्षकीय एवं प्रशासकीय दायित्वों को अपने में समन्वित किये हुये थे।

तत्कालीन मन्दिर आदि स्वयं शिक्षा–प्रसारण के प्रमुख स्थल थे। इनसे प्रौढ़ व्यक्ति विशेष रूप से लाभान्वित होते थे। इन स्थलों पर व्यक्ति विशेष रूप से लाभान्वित होते थे। इन स्थलों पर पीर्णलाक आदि प्रभावपूर्ण ढंग से धर्म प्रवचन करते थे। तथा इस कार्य के लिये उन्हें भेंट अथवा सम्पन्न व्यक्तियों से मासिक वेतन प्राप्त होता था। अधिकांश मन्दिरों के साथ कथाकार सम्मबद्ध होते थे। ये लोक संगीत के माध्यम से ज्ञान एवं उपदेश देते थे। अतः सर्वसाधारण के मध्य इनकी लोकप्रियता बहुत अधिक थी। प्रौढ़ लोग अध्यापक–संगीतज्ञ के रूप में इनका सम्मान करते थे।

इस युग में राज्य सामान्य एवं राजोपयोगी शिक्षा की व्यवस्था करता था। आचार्यों एवं आश्रयहीनों को स्वावलम्बी बनाने के लिये राज्य के अर्न्तगत शिक्षा की समुचित व्यवस्था की गयी थी। इसके अतिरिक्त गुप्तचरों को भेष–परिवर्तन एवं विभिन्न भाषाओं का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था। बालिकाओं को गृह विज्ञान, संगीत, वादन तथा नृत्य आदि जीवनोपयोगी शिक्षा प्रदान की जाती थी।[11]

नव–ब्राह्मणकाल में गोष्ठी, संघ चित्रवीथी तथा पुस्तकालय आदि भी भारतीय संस्कृति के प्रसारण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते थे। **वात्सायन काम सूत्र** में एक विशिष्ट प्रकार की गोष्ठी का उल्लेख मिलता है। इनमें साहित्य,

---

10. एस० के० दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट, पृष्ठ 330–331.

11. कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृष्ठ 22–24, नं० 156.

नृत्य तथा कलाओं पर विचार विमर्श होता था।[12] **हर्षचरित** में एक तर्क–संध का उल्लेख प्राप्त होता है।[13] कादम्बरी के अनुसार राजा शुद्रक ने इसकी स्थापना की थी।[14] इस संघ में विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर वाद–विवाद होता था। कौशल नरेश प्रसेनजित में चित्त वीथी कक्ष (चित्तागार) की स्थापना करवायी थी। हर्ष रत्नावली से ज्ञात होता है कि राम के महल में चित्र वीथी की स्थापना की गयी थी।[15] राजेश्वर द्वारा रचित वर्यूर मंजरी में चित्र–वीथियों के सम्बन्ध में अनेक सन्दर्भ सन्निहित है।[16] कालिदास वृत मालविकाग्निमित्रं से ज्ञात होता है कि विदिशा–नरेश ने चित्रांकन कक्ष की स्थापना करवायी थी।[17] एक ब्राह्मण ग्राम (विक्रम पाण्डेय–चतुर्वेदी मङुगलम) में हमें पुस्तकालय और पुस्तकालयाध्यक्ष (सरस्वती–भण्डारसार) का वर्णन उपलब्ध होता है।[18] इनसे व्यक्तियों का मनोरंजन होता था। उनकी रचनात्मक एवं कल्पनात्मक शक्तियों का विकास होता था। यह शिक्षा की जननी मात्र थी।

सूत, भगवत् पौराणिक[19], भाट[20], चारण[21] तथा वृत्तिक कथाकार[22] आदि भी लोकप्रिय निर्देशन के प्रमुख स्रोत थे। भ्रमणशील पाणन वर्ग के लोग[23] उत्सवों के अवसर पर राज–सभाओं में जाकर गीतों एवं शारीरिक प्रदर्शनों द्वारा लोगों का मनोरंजन एवं ज्ञानवर्धन करते थे। धार्मिक वैरागी लोग[24] दश के विभिन्न भागों की यात्रायें कर के सर्वसाधारण के मध्य संस्कृति और परम्पराओं का प्रसार करते थे। इन व्यवसायों का मुख्य अभिप्राय अशिक्षित व्यक्तियों को मनीषियों के उत्कृष्ट चिन्तर से भिज्ञ कराकर उनके मस्तिष्क का उन्नयन करना था। मानसिक विकास करना इनका प्रमुख लक्ष्य था।

---

12. कामसूत्र, पुस्तक प्रथम, अध्याय 4 श्लोक 35
13. काव वेल तथा थामस का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 71.
14. 39 सी० एम० रिडिंग का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 4.
15. वेतबाकर का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 18–29.
16. कानाव और लेनमेन – संस्करण, पृष्ठ 242.
17. काले का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 3
18. मद्रास इपि ग्रैफिक रिपोर्ट .1913–14
19. वायु – पुराण .1.31–32.
20. रोड – ऐनल्स ऑफ राजस्थान
21. वही
22. वात्सायन काम–सूत्र, पुस्तक प्रथम, 5. श्लोक 38.
23. प्रो० एस० वी० वेकटेश्वर – इण्डियन कल्चर थ्रो दि एजेज ग्रन्थ–1 पुष्ठ 202.
24. वही

(4) शिक्षा की अवधारणा :

शोध अध्ययन से ज्ञात होता है कि नव ब्राह्मण प्राचीन वैदिक काल का ही परिवर्तित एवं परिवर्धित स्वरूप था। अतएव इसके शैक्षिक आदर्श एवं मूल्य प्राचीन ब्राह्मणवाद पर ही आधारित थे। जैन धर्म की शिक्षा से प्रभावित होने के कारण इसकी निर्देशन प्रक्रिया और अनुशासन व्यवस्था में उदार एवं प्रजातान्त्रिक साधनों के अपनाने पर बल दिया गया था। मनु को व्यवस्थानुसार निराश और संतृप्त होने पर भी शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक दृष्टि से लोगों को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये।[25] यह आदर्श विचारधारा थी। इस युग में ज्ञानार्जन–प्रक्रिया अत्यधिक व्यापक एवं विस्तृत थी। अब धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों की अपेक्षा व्यवहारिक विषयों का विशेष महत्व था। विद्या और ज्ञान पर ब्राह्मणों का ही एकाधिकार नहीं था। धार्मिक, आध्यात्मिक, व्यवसायिक तथा कला आदि विषयों से सम्बन्धित ज्ञान किसी भी विद्वान पुरूष से अर्जित किया जा सकता था।[26] क्षत्रिया–वर्ग भेदों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त धनुर्वेद–शास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में विशिष्टीकरण प्राप्त करता था। वैश्य वर्ण ग्राह्य सूत्रों आदि का मूलभूत ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भाषा, गणित, भूगोल तथा वाणिज्य आदि विषयों में दक्षता प्राप्त करता था।[27] अन्य समुदाय परम्परात्मक व्यवसायों का अनुशरण करते हुये द्विजों की परिचर्या में संलग्न रहते थे। सामान्यतः यह तत्कालीन सामाजिक प्रक्रिया थी।

नव ब्राह्मण काल में समाज ने राजनैतिक, आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति प्राप्त की थी। अस्तु शिक्षा से लौकिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बहुत अधिक अपेक्षायें की जाने लगी थी। इसीलिये चिकित्सा शास्त्र, विधिशास्त्र, वास्तुकला शास्त्र तथा संगीत शास्त्र आदि विषयों में नियमित एवं विधिवत शिक्षण प्रदान किया जाने लगा था। राजकुमारों से दण्डनीति, अर्थनीति तथा युद्धनीति आदि के सिद्धान्तों के जानने की आशायें की जाने लगी थी। मन्त्रियों के लिये शास्त्रों और शिल्पों में पारंगत होना आवश्यक हो गया था। शिल्पियों को शिल्प सहित उदार

---

25. मनुस्मृति .2.159.

    अंहिसेव भूताना कार्य श्रेवो अनुशासनम्।
    वाक्चेव मथुरा रक्षण प्रयोज्या धर्ममिछता।।

26. वही .9.28.
27. वही .2.139.

एवं धार्मिक विषयों में शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य हो गया था। स्त्रियों की शिक्षा पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया था। गृह विज्ञान सहित सिलाई, कताई तथा कढ़ाई आदि में कौशल प्राप्त करना उनके लिये वांछनीय समझा जाना लगा था। प्रौढ़ शिक्षा की भी अवहेलना नहीं की गयी थी। प्रौढ़ लोग पूजार्चना तथा धार्मिक प्रक्कथन के लिये देवालयों में एकत्रित होकर नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रकार प्रभु शरण में रहकर अपना जीवन उज्जवल बनाने की आशा करते थे।

अतः इस युग में ज्ञान एवं ज्ञानार्जन प्रक्रिया का बहुत अधिक महत्व था। ज्ञान, प्रतिभा, शौर्य, कौशल तथा सदाचरण आदि के लिये विख्यात एवं प्रसिद्ध व्यक्तियों को समाज में बहुत अधिक सम्मान प्राप्त था। मनु की व्यवस्थानुसार राजा को विद्वान पुरूष का सम्मान और सत्कार करना चाहिये।[28] इस काल में धार्मिक साहित्य के साथ ही लौकिक साहित्य की रचना से सिद्ध होता है। कि सर्व साधारण के मध्य शिक्षा का बहुत अधिक प्रचार था। शिक्षा ने जनमानस में अपना स्थान बना लिया था।

(5) शिक्षा के लक्ष्य एवं उद्देश्य :

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि नव ब्राह्मणवाद का संगठन वैदिक कालीन समाज के आदर्शों पर किया गया था। अस्तु इसके शैक्षिक आदर्श एवं मूल्य एवं मदानुसार ही निर्मित किये गये थे। मानसिक चारित्रिक तथा सामाजिक विकास आदि वैदिक युगीन उद्देश्य अब भी शिक्षा के महत्वपूर्ण अंग थे। परन्तु इस समय शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत ज्ञानार्जन के लिये शिक्षा, अध्ययन तथा विद्या की अपेक्षा विनय शब्द का प्रयोग बहुत अधिक किया गया था। शिक्षा जगत में इस शब्द के प्रचलन से स्पष्ट हो जाता है। कि नव–ब्राह्मणकालीन संगठन में बालक के सर्वागीण विकास की कल्पना की गया थी। बालक की विकास प्रक्रिया में अनुवांशिक क्षमताओं का विशेष महत्व था। **कौटिल्य** के मतानुसार "प्रयासों से बालक में विद्यमान गुणों को विकसित कर सकते है। परन्तु अविद्यमान को नहीं "[29] **कालिदास** के विश्वासनुसार

---

28. मनुस्मृति .2.139.

    तेषां तु समवेतना मान्यो स्नातक पर्थियो।

    राजस्नातक योश्चेव स्नातकों नृपमान्य भाव।।

29. कौटिल्य – अर्थशास्त्र, क्रिया ही द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम् पृष्ठ – 14.

शिक्षण योग्य क्षमतायें नैसर्गिक एवं जन्मजात होती हैं।[30] सम्भवतः अनुवांशिक गुणों के विकास और उन्नयन हेतु ही इस काल में पुनः जाति–व्यवस्था तथा सामाजिक बन्धनों पर बल दिया गया था। जाति–जातक के गुणों का प्रभाव प्रमुख आधार था।

इस प्रकार शंकराचार्य जी ने शिक्षा के उद्देश्यों के अन्तर्गत सम्यक ज्ञान, निष्काम कर्म अनुशासन तथा मोक्ष आदि अत्यन्त पूर्ण बताया है।[31] उन्होंने निष्काम कर्म पर बहु अधिक बल दिया उनका विचार था कि निष्काम कर्म ही जीवन का आदर्श होना चाहिये। इस युग में शिक्षा–व्यवस्था व्यापक पाठ्यक्रम पर आधारित थी। राज्य के पर्यवेक्षण में इसका संचालन होता था।

(स) नव ब्राह्मणकालीन शिक्षा का पाठ्यक्रम :

सामान्यतः ब्राह्मणयुगीन भारतीय शिक्षा की व्यवस्था एवं संरचना प्राचीन शैक्षिक मान्यताओं पर आधारित थी। अतः उन्हीं आदर्शों के अनुरूप ही वैदिक शिक्षण–परम्परा को पुनः जीवित किया गया था परिणामस्वरूप कला, शिल्प तथा उद्योग विषयक पाठ्यक्रम नगण्य हो गया था। प्रतिभा–सम्पन्न एवं अभिजात वर्ग इस प्रकार के पाठ्यक्रम की ओर से पूर्णतया उदासीन हो गया था। इसके उन्नयन में इसका योगदान क्षीण हो गया और संस्कृति के संरक्षण एवं प्रसार के लिये लेखन–साघन एवं उपकरण प्राप्त न होने के कारण इस युग में भी विषयों में विशिष्टीकरण प्राप्त करने पर बल दिया गया था। फलस्वरूप ज्ञान की शाखाओं के विकास हेतु पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। अल्पायु में ही विवाह का सामान्य प्रचलन हो जाने के कारण स्त्री शिक्षा को अत्यधिक आघात पहुँचा। अब वैयक्तिक शिक्षक, सम्पन्न एवं अभिजात वर्ग की कन्याओं एवं बालिकाओं को उनके गृहों में ही साहित्य एवं ललित कलाओं की शिक्षा प्रदान करते थे। अतः स्त्री शिक्षा की स्थिति कमजोर पड़ने लगी थी।

---

30. कालिदास, रघुवशं

स्वाभाविक विनीतत्वं तेषां विनय कर्मणा।
भूमुद्र्द सहजं तेजो हविष्ये हविर्भुजाभ।।
त्रयत्विगाचार्य–मान्त्रि–पुरोहित–सेनापति–युवराज।
एतावता भरणे नाना स्वद्यात्वमं कोपकं वृर्षा भवति।।

31. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, 1–1–1.

नित्यानित्य वस्तु विवेकः बहापुत्र फलामंग विरागः
श्मदमादि साधन संपत् मुमुक्षुत्वं च।

धर्म विषयक पाठ्यक्रम :

वैदिक काल की भाँति इस युग में भी पुनः ब्राह्मण वर्ग ने साहित्य और संस्कृति के संरक्षण और प्रसारण का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर लिया। उन्होंने तप, त्याग, संयम एवं साधना का जीवन यापन करते हुये इस पवित्र कार्य को अत्यन्त निष्ठा एवं लगन से किया। यह वर्ग पद–पाठ, क्रम–पाठ, जयपाठ तथा धनपाठ आदि ध्यान्यात्मक नियमों के अनुसार वैदिक पाठ्यवस्तु का कंठस्थीकरण करने के उपरान्त ही शिक्षण–कार्य करता था। विद्यार्थियों को भी निश्चित नियमों एवं आदर्शों और परम्पराओं के आधार पर पाठ्य सामग्री का अनुशीलन करना पड़ता था। कतिपय आचार्य क्रमशः दो–तीन–चार वेदों तक को आत्मसात कर लेते थे एवं तदनुसार ही द्विवेदी, त्रिवेदी तथा चतुर्वेदी आदि के नामों से विख्यात थे। इस काल के ताम्र–पात्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इसके अनुदान–कर्ता इन उपनामों को धारण किये हुये हैं।[32] आजीवन समर्पित भावना से वेदों का अनुशीलन करने के उपरान्त ही इन लोगों ने इन विरूद्वों को प्राप्त किया। वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद तथा सूत्र आदि सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन भी पाठ्यक्रम के अन्तर्गत होता था। इस वैदिक अध्ययन के साथ ही रामायण, महाभारत, स्मृतियों तथा पुराणों आदि का पठन–पाठन भी धार्मिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ही किया जाता था। अतः पाठ्यक्रम धर्म प्रधान था।

साहित्य, कला, विज्ञान एवं जीवनयापन सम्बन्धी पाठ्यक्रम :

उपर्युक्त धार्मिक विषयों के साथ ही विद्यार्थी अन्यवान्य लौकिक विषयों का भी अध्ययन करते थे। **पाणिनी–अध्ययी** में वेदों, ब्राह्मणों, कल्पसूत्रों भिक्षु–सूत्रों तथा नर–सूत्रों का विवरण उपलब्ध होता है।[33] **पांतजलि महाभाष्य** में अंगों, रहस्यों तथा वेदों सहित वाकोवाक्य, इतिहास पुराण तथा चिकित्साशास्त्र आदि विषयों का वर्णन मिलता है।[34] **कौटिल्य अर्थशास्त्र** में अन्वीक्षकी, त्रयी वर्ता तथा

---

32. ए0 एस0 अल्तेकर – एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 152.

33. अष्टाध्यायी .4.3.87–88.105.110.111.116

34. महाभाष्य–10.9. चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा विभित्रत एक शतमहवर्युशखिाः अथर्वणं वेदो वाकोवाक्य भितिहासः पुराण वेधक भित्येताता शब्दस्य प्रयोगः विषयः

दण्डनीति आदि चार विद्याओं का उल्लेख किया गया है।[35] **अन्वीक्षकी** में सांख्य योग, लोकायत, **त्रयी** में धर्म और अधर्म **वार्ता** में नय एवं अपनय तथा दण्डनीति में शत्रु से सन्धि विग्रह का वर्णन आता है।[36] अर्थशास्त्र में पुनः इन चार विद्याओं में सम्मिलित विषयों का वर्णन विस्तार से किया गया है, इस विवरण के अनुसार ऋक, यजुस, साम, अथर्व, व इतिहास, कल्प व्याकरण निरूक्त और ज्योतिष में त्रयी विद्या में सम्मिलित विषय थे।[37] **अन्वीक्षकी** से सांख्य, योग और लोकमत विषयों का बोध होता है।[38] **वार्ता** के अर्न्तगत कृषि, गोपालन वाणिज्य तथा व्यापार आदि का अध्ययन करना आता है।[39] **दण्डनीति** से प्रशासन से सम्बन्धित सभी विषयों का आशय ग्रहण किया जाता है। कौटिल्य ने दण्डनीति को अन्वीक्षकी, त्रयी तथा वार्ता आदि विषयों के योग और क्षेम का साधन बताया है।[40]

इसी तरह **गौतम स्मृति** में वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र पुराण तथा अन्वीक्षकी आदि विषयों का उल्लेख मिलता है।[41] मनुस्मृति में वेद त्रयी, दण्डनीति, तर्क विज्ञान, आध्यात्म विज्ञान, कृषि विज्ञान, अर्थ–विज्ञान तथा पशु विज्ञान व वाणिज्य आदि विषयों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[42] **याज्ञवल्क्य स्मृति** में वेदमयी, तर्क शास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा वार्ता आदि विषयों का विवरण सन्निहित है।[43] **हारीत संहिता** के अनुसार राजा को राजनीति शास्त्र तथा दण्डनीति शास्त्र में पारंगत होना चाहिये।[44]

इसी प्रकार **मत्स्य–पुराण** में धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, गज–विद्या तथा रथ–विद्या आदि विषयों का विवरण मिलता है।[45] **भगवत पुराण** में

---

35. अर्थशास्त्र . पृष्ठ 10–11
36. अर्थशास्त्र 1.2
37. वही, .1.3.
38. वही, .1.2.
39. वही, .1.4.
40. वही, .1.4.
41. गौतम .11.1 तथा .11.19.
42. मनु0 7.43 तथा .7.3.
43. याज्ञ0 .1.311.
44. हारीत .2.4.
45. मत्स्य पुराण – अध्याय 220, 2–3, 24, 2–3.

वेद, वेदांग, उपनिषद, धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, मीमांश, अन्वीक्षकी, राजनीतिशास्त्र, चौसठ कलाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[46] **अग्नि पुराण** में नक्षत्र शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, राजनीति शास्त्र, विधि शास्त्र, छन्द शास्त्र तथा व्याकरण शास्त्र आदि विषयों के सन्दर्भ उपलब्ध होते है।[47] **गरूण पुराण** में रामायण, महाभारत, नक्षत्र विद्या, ज्योतिष विद्या, शकुन विद्या, भविष्य विद्या, चिकित्सा शास्त्र, छन्द शास्त्र तथा व्याकरण शास्त्र आदि विषयों के उद्धरण मिलते हैं।[48] **विष्णु धर्मोत्तर पुराण** में नृत्य कला, संगीतकला, चित्रकला, मूर्तिकला तथा अन्य विषयों का विस्तृत वर्णन मिलता है।[49]

शोधकर्त्ता ने अध्ययन में **कामन्दक–नीतिसार** में शिक्षा[50], विद्या[51], गायन, संगीत चौसठ कलाओं[52], त्रयी वार्ता दण्डनीति[53] शास्त्रों तथा व्यवहार[54] आदि विषयों के विवरण सन्निहित देखें है। **शुक्राचार्य–नीतिशास्त्र** के अनुसार राज को अन्वीक्षी त्रयी–वार्ता, दण्डनीति[55], नीतिशास्त्र[56], धनुर्विद्या तथा शौर्य विद्या[57] का अध्ययन करना चाहिये। **कालीदास कृत रघुवशं** से ज्ञात होता है कि राजा ने सर्वप्रथम अपने पुत्रों का विवाह अन्वीक्षी, त्रयी, दण्डनीति तथा वार्ता आदि कुल विधाओं से किया।[58] **शुद्रक रचित मृच्छकटिक** से संकेत मिलता है कि शुद्रक, ऋग्वेद, सामवेद, अंकगणित तथा अन्य विविध विद्याओं में पारंगत था।[59] बाण–विरचित कादम्बरी से ज्ञात होता है कि राजा तारीपीठ, महाभारत, रामायण, पुराण, इतिहास, वास्तु विद्या, स्वास्थ्य विद्या, यन्त्र विद्या, अभिनय विद्या, संगीत विद्या, गज विद्या, अश्व

---

46. भगवत् पुराण 10.45.25–27
47. आर0 सी0 मजूमदार – क्लेसिकल एज0 पृष्ठ 294.
48. वही
49. वही 295
50. कामन्दकीय नीतिशास्त्र–सर्ग 7, श्लोक 50.
51. वही सर्ग प्रथम श्लोक 59.
52. वही श्लोक 61.
53. वही सर्ग 2 श्लोक
54. वही सर्ग 6 श्लोक 1
55. शुक्र नीतिसार – अध्ययन 1, पंक्तियाँ 295–97 तथा पंक्तियाँ 303–16
56. वही पंक्तियाँ 23–28
57. वही अध्याय .2. पंक्तियाँ 43–48
58. रघुवंश केण्टो 17.3.
59. एस0 के0 दास– एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 294.

विद्या, लेखन विद्या, धनुविद्या, मल्ल विद्या, हस्त कौशल विद्या तथा धूत विद्या अनेक विषयों में निष्णात थे।[60] इसी ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि राजा हर्ष काव्य रचना अभिनय–कला, सुलेख–विद्या तथा धनुविद्या आदि में कुशल थे।[61] इसी ग्रन्थ के अन्य स्थलानुसार **मल्लव नरेश, कुमार गुप्त** धनुर्वेद में अद्वितीय थे।[62] इसी रचना के कतिपय प्रसंगों से ज्ञात होता है कि **राजा तारापीठ** राजनीति शास्त्र तथा विधि शास्त्र में मर्मज्ञ थे।[63]

यहाँ पर कल्हण कृत राजतरंगिणी के सन्दर्भानुसार काश्मीर नरेश जया पीठ, अभिनय–विद्या, नृत्य विद्या[64] तथा व्याकरण विद्या[65] में कुशल थे। इसी ग्रन्थ के विवरणानुसार काश्मीर–राजकुमार अभिमन्यु ने सम्पूर्ण शास्त्रों का अनुशीलन किया था।[66] इसी रचना से ज्ञात होता है कि काश्मीर राजकुमार कलल ने जिन्दुराज से शौर्य–विद्या तथा कूटनीति विद्या का ज्ञान प्राप्त किया।[67] इसी कृति के अनुसार काश्मीर नेरश हर्ष सम्पूर्ण विज्ञानों के प्रतीक थे।[68] इसी ग्रन्थ के कतिपय स्थलों के अनुसार मालव नरेश नरवर्मन ने सम्राट भिक्वाकर को विद्वानों तथा आयुधों का प्रशिक्षण किया।[69] इसी पुस्तक के अनुसार कनक नामक ब्राह्मण ने काश्मीर नरेश हर्ष को संगीत मे शिक्षा प्रदान की।[70]

प्रोफेसर–डूब्रेयुल के अनुसार कांची नरेश महेन्द्रवर्मन पल्लव, काव्य और संगीत में पारंगत थे।[71] अभिलेख–विशेष के अनुसार **नेपाल नरेश अंशुवर्मन**

---

60. सी0 एम0 रिडिंग की अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 59–61.
61. काव वेल तथा थामस 63.
62. वही पृष्ठ 120.
63. वही पृष्ठ 36.
64. राज तरंगिणी .4.423.
65. वही 4.489–81.
66. वही 6.290.
67. वही 7.577.
68. वही 7.319.
69. वही 8.228.
70. वही .7.117.
71. नं0 7 इण्डियन एन्टीक्वेरी 9. पृष्ठ 170.

ने शब्द विज्ञान पर एक विशिष्टि ग्रन्थ की रचना की।[72] कुरम पल्लव अनुदान के अनुसार कांची नरेश परमेश्वर वर्मन काव्य में अत्याधिक अभिरूचि रखते थे।[73] पूर्वीय चालुका—नरेश विनयादित्य तृतीय, अंकगणित में दक्ष होने के कारण गुणांक कहलाते थे।[74] धार—नरेश—भोज परमार ने ज्योतिष विद्या, अलंकार विद्या, वास्तु विद्या, योग विद्या तथा व्याकरण विद्या के कुशलता प्राप्त करते हुये सम्बन्धित विषयों की रचना भी की।[75] आज भी अधिकारिक ग्रन्थों के रूप में इनकी मान्यता है।

अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि **संजोर—नरेश** राजेन्द्र चोल वेद—विद्या तथा युद्ध विद्या में चतुर था।[76] सोदत्ती नरेश एरग संगीत में पटु होने के कारण विद्याधर की उपाधि धारण किया।[77] कद्यघाट—वंश—सम्राट अभिमन्यु अश्वारोहण विद्या तथा धनुर्विद्या में दक्ष थे।[78] त्रिकलिंग और उड़ीसा से सम्बन्धित गंग वंश के अनन्त वर्मन छोड़ गंग ने वेदों, शास्त्रों वास्तुकला तथा ललित कलाओं का अध्ययन किया था।[79] धार नरेश लक्ष्मणदेव परमान महान कवि थे।[80] इसी वंश के अन्य सम्राट नरवर्मदेव परमार भी कवि थे तथा उज्जैन के महाकाल मन्दिर में प्राप्त प्रशस्ति के रचयिता थे।[81] कन्नौज के गादयाल वंश के गोविन्द चन्द्र ने विभिन्न विज्ञानों की एवं दर्शनों का अध्ययन करके विविध—विचार विद्या—वावसत्ति की उपाधि प्राप्त किया।[82] कल्याण के चालुक्य राजवंश का राजा सोमेश्वर तृतीय मानसोल्लास का रचयिता था। इसमें सैन्य—विज्ञान, राजनीति विज्ञान, गज तथा अश्व संवर्धन काव्य, संगीत तथा ज्योतिष—शास्त्र आदि विषय सन्निहित है।[83] गोवा का विजयादित्य कदम्ब अत्यन्त

---

72. एस0 के0 दास— एजूकेशनल सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 298.
73. हुल्टरूज — साउथ इण्डियन इन्सिक्रिप्सिन, ग्रन्थ पृष्ठ 148—50
74. एस0 के0 दास, वही, पृष्ठ 299.
75. वही. पृष्ठ 300.
76. एस0 के0 दास— एजूकेशनल सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 300.
77. आई0 ए0, 19 पृष्ठ 161.
78. ध्रुव कुण्ड इन्सक्रिप्सिन — ई0 आई0 3.
79. जे0 आर0 ए0 एस0 बी0 65. पृष्ठ 331
80. नागपुर प्रशस्ति
81. लेलेकृत धर के परमार
82. एस0 के0 दास—वही. .301.
83. वही पृष्ठ 302.

विद्वान राजकुमार था[84] तथा उसने वाणी भूषण की उपाधि अर्जित की।[85] बंगाल–नरेश अपरादिव्य द्वितीय ने याज्ञवल्क्य संहिता की टीका के रूप में अपराक ग्रन्थ की रचना की।[86] धार–नरेश अर्जुन वर्मदेव परमार कवि और लेखक दोनों ही था।[87] **इलाहाबाद स्तम्भ–लेख** से ज्ञात है कि समुद्रगुप्त शास्त्रों में बहुत अधिक निपुण था।[88] उसने धर्म–ग्रन्थों का ही अध्ययन नहीं किया था। वरन् वह कवियों में भी शिरोमणि था। उसके काव्य–संकलन विद्वान पुरूषों के जीविका का आधार थे।[89] इससे उसे बहुत अधिक आनन्द की अनुभूति होती थी।[90] उसी प्रखर बुद्धि ने इन्द्र के गुरू कश्यप को भी लज्जित कर दिया ।[91] काव्य के अतिरिक्त वह संगीत में भी बहुत पटु था। उसने गायन और वादन में नारद को नतमस्तक कर दिया।[92] वह संगीत का विद्वान था।

प्रस्तुत शोध–कार्य में उपरोक्त उद्धरणों का विस्तारपूर्वक देने से उन विषयों की विविधता का ज्ञान होता है, जो नव ब्राह्मण काल में पढ़ाये जाते थे। यद्यपि लगभग सभी उद्धरण राजाओं के सम्बन्ध में है किन्तु जिन विषयों में राजागण पारंगत होते बताये गये है उन विषयों को पढाने वाले शिक्षक भी होगें और शिक्षक राजाओं के अतिरिक्त अन्य लोगों को भी शिक्षा देते होगें। अतएव जन साधारण में भी लोग अपनी आवश्यकतानुसार इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करते थे। इससे इस युग के व्यापक पाठ्यक्रम का ज्ञान होता है जो जीवन के सभी पार्श्वों को स्पर्श करते थे। शिक्षा का क्षेत्र विशाल एवं गहनतम् था।

---

84. वही
85. एस0 के0 दास– एजूकेशनल सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 302.
86. वही
87. इपि ग्रैफिक इण्डिया ग्रन्थ 9 पृष्ठ 108.
88. इलाहाबाद स्तम्भ लेख, पंक्ति 5 शास्त्र तत्वार्थभर्त्तुः
89. वही, पंक्ति 27.
90. वही, पंक्ति 6. कीर्ति राज्ञम अनुक्ति
91. वही, पंक्ति 27.
92. वही, पंक्ति 27, गन्धर्व ललिताः ललितंः

विशिष्ट विषयक पाठ्यक्रम :

अतः स्पष्ट है कि नव–ब्राह्मण युग में संस्कृत भाषा अत्यन्त लोकप्रिय हो गयी। गुप्त सम्राटों ने इसके उन्नयन और उत्थान में बहुत अधिक योगदान किया।[93] संस्कृत के महत्व के कारण पाली एवं संस्कृत प्राकृत आदि लोक भाषाओं का महत्व नगण्य हो गया। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म अनुयायी भी स्वधर्मों के संस्थापकों के परामर्श की उपेक्षा करते हुये संस्कृत में ही अपनी कृतियों की रचना किया। सम्पूर्ण शिक्षित वर्ग का ध्यान संस्कृत के उन्नयन एवं संवर्धन पर केन्द्रित हो गया। इससे लोक–भाषाओं की उपेक्षा हुयी। सर्व साधारण वर्ग इन्हीं के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त कर सकता था। परिणामस्वरूप शिक्षा उच्च वर्ग तक ही सीमित हो गयी।

यही कारण था कि संस्कृत की इस लोकप्रियता के कारण ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में विशिष्टीकरण प्राप्त करने के पूर्व विद्यार्थियों को संस्कृत भाषा के प्रारम्भिक पाठ्यक्रम का अनुशीलन करना पड़ता था। आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार के सम्पन्न हो जाने पर छात्र दैनिक याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्पदानार्थ आवश्यक वैदिक मन्त्रों एवं ऋचाओं को कंठस्थ करता था। तदनन्तर चार–पाँच वर्ष तक वह प्रारम्भिक संस्कृत व्याकरण एवं साहित्य का अध्ययन करता था। इस प्रकार तेरह–चौदह वर्ष की आयु तक शिक्षार्थी संस्कृत में विरचित तर्क, दर्शन काव्य, ज्योतिष तथा अंकगणित आदि कार्यों को समझने लगता था। तत्पश्चात् इनमें से वांछित विषय का चयन करके लगभग दस वर्ष तक इसका विशिष्ट अध्ययन करता था।

यद्यपि वैदिक और बौद्ध काल में विषयों के विशिष्टकृत अध्ययन का सूत्रपात हो गया था। तथापि इस युग में साहित्य, दर्शन ज्योतिष, चिकित्सा विधि तथा काव्य आदि विषयों का पुनः संवर्धन एवं उन्नयन करके निश्चित योगदान किया गया। पूर्व युगों की भाँति इस काल में भी ज्ञान के प्रसार एवं संरक्षण हेतु मुद्रण एवं पुस्तकों की व्यवस्था न होने के कारण विषयों के विशिष्टीकरण अध्ययन पर विशेष बल दिया गया। विशिष्टीकरण की इस प्रक्रिया ने ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विकासर्थ पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था। इस युग में विशिष्टीकरण प्रमुख माना जाता था।

---

93. काव्य मीमांस, पृष्ठ 50.

स्त्री शिक्षा विषयक पाठ्यक्रम :

वैदिक युगीन भारत में स्त्री–शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया गया था। बालकों की भाँति बालिकाओं का भी उपनयन संस्कार सम्पन्न होता था। तदनन्तर वे आचार्य–कुल में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती हुयी वैदिक पाठ्यक्रम का अनुशीलन करती थी। तत्कालीन अनेक विदुषी स्त्रियों के नाम आज भी इतिहास के पृष्ठों को सुशोभित कर रहे हैं। वैदिक युग के अन्तिम चरणों में स्त्री–शिक्षा का महत्व शनैः शनैः क्षीण होने लगा। बौद्ध शिखा संगठन के अर्न्तगत स्त्री–शिक्षा की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। नव–ब्राह्मणकाल में बालिकाओं के लिये उपनयन–संस्कार निषिद्ध[94] एवं विवाह आयु न्यून[95] कर दिये जाने के कारण स्त्री–शिक्षा को बहुत अधिक आघात पहुँचा तथापि प्राचीन ग्रन्थों में सन्निहित विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर बालिकाओं की शिक्षा के लिये निर्धारित विभिन्न पाठ्यक्रम का अनुमान लगाया जा सकता है।

वैदिक और बौद्ध युग की भाँति इस काल में भी स्त्रियाँ काव्य–शास्त्र, नाट्य–शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आलोचना शास्त्र तथा चिकित्सा शास्त्र आदि में सम्बन्धित विभिन्न पाठ्यविषयों का अनुशीलन करती थी। माधवी[96], अनुलक्ष्मी[97] तथा ऋषि प्रभा[98] आदि स्त्रियाँ प्राकृत भाषा की उत्कृष्ट कवियत्रियाँ थीं। देवी, विजयांका तथा शील भट्टारिका आदि विदुषियाँ संस्कृत भाषा की ख्याति प्राप्त कवियत्रियाँ थीं।[99] विद्या नामक विदुषी ने कुमुदिनीमहोस्व नामक नाटक की रचना किया।[100] इसी नाटक के कथा प्रसंगों से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ राजनीति में भी अभिरूचि रखती थी। प्रसिद्ध विद्वान राजेश्वर की पत्नी आलोचना शास्त्र में निपुण थी।[101] अष्टम शताब्दी के लगभग अरबी भाषा में अनुवाद किये गये हिन्दू चिकित्सा शास्त्र से ज्ञात

---

94. याज्ञवल्क्य स्मृति .1.13.
95. यम. 5.1.122.
96. ए0 एस0 अल्तेकर – एजूकेशनल इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ
97. हाल गाथा सत सती .1.91.
98. वही 3.28.
99. ए0 एस0 अल्तेकर – एजूकेशनल इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 221.
100. वही 222.
102. वही.

होता है कि इसकी रचयिता हिन्दू स्त्री थी। अरबी भाषा में इसका नाम स्ला कि रूप में विख्यात है।[102] एक ब्राह्मण–स्त्री लीलावती द्वारा विरचित प्रसिद्ध बीजगणित ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है। इसकी लोकप्रियता पाश्चात्य देशों में भी थी।[103]

उपर्युक्त पाठ्यविषयों के अतिरिक्त स्त्रियों को गृह–विज्ञान, बारिका–विज्ञान, ललित–कला तथा सैन्य विज्ञान आदि का भी प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था। शुक्राचार्य के अनुसार स्त्रियों को कृषि एवं पशुओं की देखभाल में पति की सहायता करनी चाहिये।[104] मनु के अनुसार स्त्रियों को गृह–सज्जा, गृह के आय–व्यय का विवरण रखने में कुशल होना चाहिये।[105] कौटिल्य के अनुसार स्त्रियों को कताई–बुनाई तथा सिलाई में पारंगत होना चाहिये।[106] वात्सत्यायन के अनुसार स्त्रियों को अन्न–भण्डारण, पशु–पक्षियों के संवर्धन, सेवकों के वेतनादि का विवरण रखने तथा कताई–बुनाई एवं सिलाई में पटु होना चाहिये।[107]

कामसूत्र के अनुसार स्त्रियों को उद्यान एवं वाटिका विज्ञान में भी निपुण होना चाहिये। इस ग्रन्थ के अनुसार गृहिणी को कुब्जक, आमलक, मल्लिका, कुरण्डक तथा जाति पुष्प पौधों को उद्यान में पंक्ति के रूप में स्थापित करने की कला में मर्मज्ञ होना चाहिये। इसके अतिरिक्त उन्हें बालकोशिरक तथा पायलेक आदि वृक्षों की पंक्तियाँ भी उद्यानों एवं वाटिकाओं में स्थापित करने में कुशल होना चाहिये। गृहिणी को समतल, सुव्यवस्थित तथा आकर्षक उद्यान–भूमि को बनाने में दक्ष होना चाहिये।[108] तथा उसे औषधीय वनस्पतियों फलों तथा शाक आदि के बीज को प्राप्त करके उद्यान में बोना चाहिये।[109]

---

102. वही – नदवी, अरब और भारत का सम्बन्ध, पृष्ठ 122.
103. एस0 के दास– एजूकेशनल सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 232.
104. शुक्रनीति सार – अध्याय 4, खण्ड 7, पंक्तियाँ 54–55.
105. मनुस्मृति 10.11.
106. अर्थशास्त्र (आर0 श्याम शास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 140–41.
107. वात्सायन – कामसूत्र, श्लोक 33.
108. कामसूत्र, श्लोक 7.
109. वही, श्लोक 29.

सामान्यतयः शिष्यों को ललित कलाओं की शिक्षा प्रदान की जाती थी। महाभारत के सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि हे अर्जुन ने उत्तरां एवं उनकी सेविकाओं को नृत्य, गायन तथा वादन का प्रशिक्षण प्रदान किया।[110] मालविकाग्निमित्र के सन्दर्भों के अनुसार राजकुमारी मालविका ने वैयक्तिक शिक्षक गणदास से नृत्य और गायन की शिक्षा प्राप्त किया।[111] इसी तरह हर्षचरित सार से ज्ञात होता है कि हर्ष की भागिनी राज्यश्री ने दिवाकर मिश्र से संगीत का ज्ञान प्राप्त किया।[112] रघुवंश के विवरणानुसार राजकुमारी इन्दुमती ने विवाहोपरान्त अपने पति अज से ललित कलाओं में दक्षता प्राप्त की।[113] नाटक प्रियदर्शिका के अनुरानी ने दासी प्रियदर्शिका के लिये नृत्य, गायन तथा वादन का प्रबन्ध किया।[114] रत्नावली नाटक में नायिक सागरिका को चित्र फलक पर वर्तिक के द्वारा प्रेमी का चित्र निर्मित करते हुये प्रदर्शित किया गया है।[115] स्वप्रशासवस्ता में वासवदत्ता को रानी के विवाह के लिये पुष्प माला–गुन्धित करते हुये चित्रित किया गया है।[116] पेंजेर के विवरण से ज्ञात होता है कि नूग हरिवर ने रनिवास की स्त्रियों को संगीत में निर्देशन प्रदान करने के लिये मध्य देश निवासी लन्धवर को नियुक्ति किया।[117] इसी ग्रन्थ के विवरणानुसार विदिशा राजकुमारी हंसावली ने अपने पिता तथा शिक्षक दरदूर के सम्मुख अपनी नृत्य कला का प्रदर्शन किया।[118] इसी कृति के अनुसार सागर दत्ता की पुत्री कुमारी गन्धर्व दत्ता ने संगीत कला में अदभुत कौशल प्राप्त कर लिया था।[119] वात्साययान कामसूत्र की व्यवस्थानुसार स्त्रियों को गीत्म, वाद्यम, नृत्यम तथा आलेख्यम आदि चौसठ कलाओं में दक्ष होना चाहिये।[120]

---

110. विराट पर्व अध्याय 11.
111. मालविकाग्नि मित्र (एम0 आर0 काले का अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ 2,4,5,
112. हर्षचरित्र (कोवेल तथा थामस) पृष्ठ 252.
113. रघुवंश, केण्टो 8,67.
114. एस0 के0 दास – एजूकेशनल सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 348.
115. रत्नावली – ऐक 2,9
116. स्वप्न वासवदत्ता 3.25.
117. पेन्जेर 4 पृष्ठ 156.
118. वही 6.73–75
119. वही 6, पृष्ठ 41.
120. एस0 के0 दास – एजूकेशनल सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 239.

तत्कालीन समय में अभिजात वर्ग की कन्याओं के अतिरिक्त पारिवारिक, अभिनेत्रियों, गणिकाओं तथा देव दासियों आदि को भी संगीत एवं विविध ललित कलाओं की शिक्षा प्रदान की जाती थी। कौटिल्य के अनुसार शिक्षकगण परिवारिकाओं को गायन, वादन, नृत्य चित्रांकन तथा माला गुन्थन आदि का प्रशिक्षण प्रदान करते थे।[121] इसी ग्रन्थ के सन्दर्भानुसार अभिनेत्रियों को भी गायन, वादन, नृत्य, लेखन तथा चित्रांकन की ही शिक्षा दी जाती थी।[122] इसी ग्रन्थ के अनुसार विदेशी गुप्तचरों की जानकारी के लिये अभिनेताओं की पत्नियों को विविध भाषाओं तथा अनेकानेक संकेतों का मिश्रण प्रदान किया जाता था।[123]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में गणिकाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में भी उल्लेख मिलते हैं। इसी कृति के अनुसार गणिकाओं को नृत्य, गायन, वादन, माला गुन्थन, इत्र–निर्माण चित्रकला तथा लेखन आदि का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था।[124] इसी रचना के अनुसार रूपदासियों को माला गुन्थन, इत्र निर्माण तथा अन्यान्य वस्तुओं का शिक्षण प्रदान किया जाता था।[125] इसी ग्रन्थ के अनुसार गणिकाओं के शिक्षकों को रंगमंच पर रंगेसजीवी के रूप में कार्य करने के लिये गणिकाओं के पुत्रों प्रशिक्षित करना चाहिये।[126] वात्सायन ने भी वेश्या–पुत्रियों[127] तथा नट–पुत्रियों[128] की शिक्षा का उल्लेख किया है कल्हण की राजतंगिणी और वेश्याओं की भी शिक्षा का वर्णन मिलता है।[129] इस युग में शिक्षा से कोई भी अछूता नहीं छोड़ा गया था।

---

121. अर्थशास्त्र, आर0 श्याम शास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 155–56
122. वही, पृष्ठ 156
123. वही, पृष्ठ 156
124. वही, पृष्ठ 155
125. वही, पृष्ठ 155
126. वही, पृष्ठ 156
127. वात्सायन – का
128. वही, श्लोक 23–24
129. स्टीन – दि क्रानिल्स ऑफ काश्मीर, ग्रन्थ 2 पृष्ठ 12

इस प्रकार **दण्डिन** की प्रसिद्ध रचना दशकुमार चरित्र के अनुसार गणिका विशेष ने अपनी पुत्री को नृत्य, गायन, वादन, चित्रकला, लेखन वार्तालाप, माला गुन्थन, इत्र निर्माण, व्याकरण, तर्क तथा दर्शन का शिक्षण प्रदान किया।[130] कथा सरित–सागर से ज्ञात होता है कि रूपणिका की माता मकरंदपत्रा ने अनेक गणिकाओं तथा वेश्याओं को प्रशिक्षित किया था।[131]

प्रस्तुत–शोध अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि प्राचीन भारत में देवदासियों की शिक्षा का भी प्रावधान था। कौटिल्य[132], कल्हण[133] तथा कालीदास ने अपनी–अपनी कौटिल्य में देवदासियों की शिक्षा का उल्लेख किया है। इबन असीर के अनुसार सोमनाथ मन्दिर के द्वार पर तीन सौ स्त्रियाँ नृत्य तथा गायन में संलग्न रहती थी।[134] सोमदेव कृत तथा सरित सागर में आये हुये कथानकों से ज्ञात होता है कि रूपणिका, वेश्या और देवदासी के व्यवसायों का सम्मिलित स्वरूप थी।[135] मार्कोपोलो के विवरणानुसार तंजोर के मन्दिर से असंख्य देवदासियाँ सन्मद्ध थी।[136] चीनी यात्री चाव जू–चवा की पुस्तक चु–फान–वी से ज्ञात होता है कि गुजरात के अनेक बौद्ध मन्दिरों में असंख्य देवदासियाँ नृत्य गान करती थी।[137] कतिपय अभिलेखों में भी देवदासियों का विवरण प्राप्त होता है।[138] डी ब्राई, वर्नियर, फ्राइयर तथा हीलर आदि कतिपय यात्रियों ने अपने यात्रा–विवरणों में देवदासियों का उल्लेख किया।[139]

यहाँ पर विविध सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि देवदासियों को नृत्य–गायन का औपचारिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था। काश्मीर–नरेश जयपीठ ने भारत के सिद्धान्तों के अनुसार देवदासियों को नृत्य तथा गायन का प्रशिक्षण प्रदान करने पर बल दिया। तामिन अभिलेख से ज्ञात होता है। कि देवदासियों को नृत्य,

---

130. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 259
131. पेन्जेर ग्रन्थ पृष्ठ 140.
132. आर0 श्याम शास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 148.
133. स्टीन – दि क्रानिकल्स ऑफ काश्मीर, ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ 148.
134. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 248.
135. पेन्जेर ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ 139.
136. हर्ष ओर राक हिल द्वारा अनुदित मार्कोपोलो का यात्रा विवरण, पृष्ठ 53.
137. अर्थ और हाल का अंग्रेजी अनुवाद 1911, पृष्ठ 92.
138. द हुल्टसज – साउथ इण्डियन इन्सिक्रिप्सन्स, पृष्ठ 2, भाग 3, पृष्ठ 259–303
139. हाब्सन जाब्सन, यूले तथा बर्नेल –शीर्षक–डांसिंग गर्ल्स, देवदासी तथा नाच गर्ल इत्यादि
140. स्टीन – वही ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ 160.

गायन तथा वादन का प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये नृत्य–अध्यापकों, संगीतज्ञों और गायकों की नियुक्ति की जाती थी।[141] जे0 ए0 डूबोयस की पुस्तक– हिन्दू मेनर्स, कस्टम्स तथा सेरेमनीस के अनुसार भारत के महत्वपूर्ण मन्दिरों में देवदासियों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये शिक्षकों की नियुक्ति की जाती थी।[142] डा0 जान शार्ट के अनुसार देवदासियाँ पांच वर्ष की अवस्था से ही संगीत और नृत्य का त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर देती थी।[143] श्री एन0 एस0 अय्यर के अनुसार प्राचीन समय में नृत्य और गायन में पटु ट्रावन कोर की देवदासियों को रायर (समाज्ञी) की उपाधि दी जाती थी।[144] सैयद–सिराज–उल हसन के अनुसार बोगमों को (तेलगू नर्तकियों के लिये सामान्य शब्द) संगीत का विधिवत शिक्षण प्रदान किया जाता था। वे अपना प्रशिक्षण सात–आठ वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ करती थीं तथा बारह–तेरह वर्ष की आयु में ही अपनी कला का प्रदर्शन करने में सक्षम हो पाती थी।[145] कौटिल्य की व्यवस्थानुसार विभिन्न प्रकार की वेश्याओं को गुप्तचर कार्यों के लिये प्रयुक्त करना चाहिये।[146]

स्त्रियों को सैन्य कलाओं तथा विज्ञानों का भी ज्ञान प्रदान किया जाता था। ऋग्वेद के सन्दर्भानुसार अनेक अनार्य कन्याओं ने सेना में सम्मिलित होकर युद्ध में भाग लिया।[147] निःसन्देह इन्हें सैन्य प्रशिक्षण अवश्य प्रदान किया गया होगा। पंजललि में शक्ति के विवरण से भी सिद्ध होता है कि स्त्रियों को पुरूषों के समान ही सैन्य प्रशिक्षण दिया जाता था।[148] रामायण के कथानक विशेष से ज्ञात होता है कि कैकेई ने शत्रुओं के विरूद्ध युद्ध करके अपने पति दशरथ के प्राण–रक्षा

---

141. इ हुल्ट्रसज – वही, पृष्ठ 259–303.
142. हेनरी एण्ड के0 ब्यूचैम्प का अंग्रेजी अनुवाद, 1906 तृतीय संस्करण पृष्ठ 585.
143. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 261.
144. वही
145. दि ट्राइब्स एण्ड कास्ट एच0 ई0 एच0, दि–निजाम–डामिनियन, 1920, ग्रन्थ 1 पृष्ठ 94.
146. आर0 श्याम शास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 25.
147. ऋग्वेद .5.61,80,6,7.78.5
148. पाणिनि .4.1.48,63. पंतजलि .4.1.15.

की थी।[149] वात्सायन की चौसठ कलाओं की सूची में स्त्रियोचित सैन्य कलाओं का विवरण मिलता है।[150] कौटिल्य की व्यवस्थानुसार राजा के शैय्या से उठाने पर धर्मवाणों से युक्त स्त्रियों के समूह को उसका स्वागत करना चाहिये।[151] राजेश्वर की वर्मूर यमंजरी में बालिकाओं को खडग एवं कवच लिये हुये प्रदर्शित किया गया। इन आयुधों से सुसज्जिज होकर स्त्रियाँ कर्पूर मंजरी के कारागार की रखवाली करती थी।[153] पास के भारत–यात्रा के संस्मरण के अनुसार विजय नगर के राजा की सम्राज्ञियों में से कतिपय खड्ग के संचालन में कुशल थीं तथा मल्ल युद्ध एवं युद्व–बाधों में निपुण थीं।[154]

धार्मिक एवं लौकिक उपलब्धता विषयक पाठ्यक्रम :

नव–ब्राह्मणकाल प्राचीन वैदिक युग का ही परिवर्तित एवं परिवर्धित स्वरूप था। अस्तु धार्मिक पाठ्यक्रम के अर्न्तगत वैदिक विचारधारा का ही महत्व था। इस युग में महाकाव्य स्मृतियों तथा पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थ वैदिक दृष्टि गौण का द्योतक थे। पुराण और स्मृतियाँ सर्व–साधारण के मध्य अत्यन्त लोकप्रिय थीं। वे लोग इन्हीं धर्म ग्रन्थों के सिद्धान्तों के आधाार पर अपने जीवन का नियमन करते थे। अस्तु ग्राम–पुरोहित के लिये भी इनमें पण्डित्य प्राप्त करना अनिवार्य था। इस समय इन ग्रन्थों के कंठस्थीकरण की अपेक्षा इनके अर्थ को आत्मसात करने पर अधिक बल दिया जाता था। सामान्यतया शिक्षण गुण इनकी विषय–वस्तु का प्रतिपादन करते समय हस्तलिपियों का प्रयोग करते थे। इस काल में वैदिक साहित्य के संरक्षणार्थ लेखन–कला का उपयोग वर्जित नहीं था।[155]

नव–ब्राह्मणकाल में पुराणों की लोकप्रियता होते हुये भी इन्होंने वेदों की सत्ता का तिरस्करण नहीं किया। चतुर्वे अब भी धर्म के स्रोत के रूप में मान्य

---

149. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 262.
150. वही
151. वही
152. कोनोव तथा लेनमेन का संस्करण, पृष्ठ 279
153. इपि ग्रैफिक इण्डिया, ग्रन्थ 18, नं0 13.
154. सेवेल – ए फारगाटेन इम्पायर, पृष्ठ 248–49.
155. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम ऑफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 156.

थे। यद्यपि सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप में वैदिक अध्ययन केवल अल्प लोगों तक ही सीमित था। इस युग में भी वैदिक पाठ्यवस्तु का अध्ययन निश्चित नियमों के आधार पर होता था। तथा यज्ञों की प्रमुखता थी। सम्पूर्ण देश के राजागण वैदिक यज्ञों का सम्पादन करने में गर्व का अनुभव करते थे। अश्वमेघ यज्ञ का प्रचलन बहुत अधिक था। कतिपय नृप अपने जीवन काल में इसे अनेक बार सम्पादित करते थे। विविध वैदिक संस्कार भी नव ब्राह्मण, वन ब्राह्मणकालीन समाज के प्रमुख अंग थे। वस्तुतः वर्तमान समय में मान्य हिन्दू धर्म की नींव नव ब्राह्मण काल में ही पड़ी।[156]

नव–ब्राह्मणकाल में ज्ञान की अन्य लौकिक शाखाओं का पर्याप्त उन्नयन एवं विकास हुआ। दर्शन के क्षेत्र में प्राचीन षट सम्प्रदायों से सम्बन्धित प्रचुर मीमांस–साहित्य का उद्भव हुआ। सांख्य–दर्शन पर ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिकी तथा वसुबन्ध की परमार्थ सप्तति उच्चकोटि की है योग–दर्शन पर व्यास–भाष्य तथा चावसति कृत तत्वेवशारदी आदि उल्लेखनीय मीमांसायें है। न्यायदर्शन पर उद्योर कर द्वारा रचित न्यायवर्तिक तथा धर्मकीर्ति द्वारा प्रणीत न्यायबिन्दु पठनीय है। वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तमाद द्वारा सम्पादित पदार्थ धर्म संग्रह तथा चन्द्र कृत दशपदार्थ शास्त्र आदि विवेचनात्मक ग्रन्थ अवलोकनीय हैं मीमांस–दर्शन से सम्बन्धित शबर–भाष्य तथा कुमारिल भट्ट कृत क्रमशः श्लोक कर्तिक तथा तन्त्रवर्तिक आदि उच्च कोटि के आलोचनात्मक ग्रन्थ है। वेदान्त–मीमांसाकारों में गौड़ पाद तथा शंकर का नाम उल्लेखनीय है।

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इसके विभिन्न अंगों एवं उपांगों का उल्लेखनीय विकास हुआ। पद्य–साहित्य के अर्न्तगत कालिदास कृत मेघदूत एवं रघुवंश, माखी द्वारा रचित किरातार्जुनीय तथा माघ द्वारा संकलित शिशुपाल वाध अमर महाकाव्य है। गद्य साहित्य में कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तलम भवभूति द्वारा प्रणीत उदार रामचरित महावीर चरित एवं मालती–माधव आदि उच्च कोटि की रचनायें है। काव्य–शास्त्र के क्षेत्र में भामह का काव्यालंकार तथा दण्डिन का काव्यदर्श आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। शब्दकोषों के अर्न्तगत अमर कृत अमर कोष उल्लेखनीय है। व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में पणिनि कृत अष्टाध्यायी, काव्यायन–वा–तिकायें तथा मूर्तिहरि रचित का वाकापदीय आदि महत्वपूर्ण रचनायें है। कथा–साहित्य में पंचतन्त्र, हितोपदेश, कथा सरित सागर, वृहत–कथा मंजरी तथा तन्त्राख्यायिका आदि

---

156. आर0 सी0 मजूमदार – क्लेसिकल एज, ग्रन्थ 3, पृष्ठ 371.

ख्याति प्राप्त संकलन है। नीति साहित्य के अर्न्तगत काटम्बक–नीतिसार, मूर्तहरि–नीतिशवक, शुक्रीति तथा वृहस्पति नीति प्रमुख है।

नव–ब्राह्मणकाल में ज्योतिष नक्षत्र एवं गणितशास्त्र के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुयी। इन विषयों से सम्बन्धित आर्य भट्ट दशगीतिका सूत्र तथा आयष्टिशव प्रसिद्ध रचनायें है। ज्योतिष के उन्नयन एवं संसर्धन में वाराहमिहिर का योगदान भी सराहनीय है। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा रचित पंचसिद्धानितका तथा बृहत संहिता अमूल्य कृतियाँ हैं। वृह्म गुप्त द्वारा प्रणीत ब्राह्म सिद्धान्त तथा खण्ड खाड्य आदि ग्रन्थ भी ज्योतिष शास्त्र, नक्षत्र शास्त्र तथा अंकगणित शास्त्र आदि को सम्पन्न करने में प्रमुख भूमिका निभाई। इन विज्ञानों के अतिरिक्त जन्म–लगन से सम्बन्धित पारशरी, जातक–सूत्र, भृगु संहिता तथा मीन राज जातक आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना भी इस युग में हुयी।

इस युग में चिकित्साशास्त्र का भी पर्याप्त उन्नयन हुआ। चरक कृत चरक संहिता, सुश्रुत द्वारा रचित सुश्रुत संहिता, वागभट्ट द्वारा प्रणीत अंष्टांग–संग्रह तथा अष्टागं–हृदय संग्रह आदि तत्कालीन समय में रचे गये आयुर्वेद–ग्रन्थ वर्तमान समय में भी चिकित्साशास्त्रियों के लिये प्रेरणा–स्रोत हैं। प्राचीन भारत के इस अन्तिमक चरण राजनीतिशास्त्र का भी बहुत अधिक संवर्धन हुआ। इससे सम्बन्धित कौटिल्य अर्थशास्त्र शुक्रनीति, वृहस्पति नीति तथा कादम्बक नीतिसार आदि ग्रन्थों का अध्ययन राजाओं तथा मन्त्रियों के लिये अनिवार्य एवं अपरिहार्य था। इन विषयों के अतिरिक्त वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत कला आदि विषयों का भी इस काल में बहुत अधिक विकास हुआ। इस प्रकार कला और विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में चतुर्दिक विकास होने के कारण इस युग को हिन्दु ज्ञान और साहित्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

तत्कालीन पाठ्य पुस्तकें एवं हस्तलिपियाँ :

वैदिक और बौद्ध युग की भाँति नव ब्राह्मण शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत भी धार्मिक एवं लौकिक विषयों के शिक्षण के लिये पाठ्यपुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों का प्रयोग नहीं होता था। यद्यपि इस काल में लेखन कला का पर्याप्त विकास हो गया था। तथापि अध्ययन–अध्यापन मौखिक विधि एवं विभिन्न स्वरूपों के माध्यम से सम्पन्न होता था। धार्मिक विषयों का शिक्षण करते समय आचार्य प्राचीन वैदिक शिक्षण

पद्धति का ही अनुसरण करता था। वह ध्वन्यात्मक नियमों का अनुचरण करते हुये पाठ्यवस्तु का शिक्षण करता था तथा विद्यार्थी भी अनुकरण वाचन में अक्षरशः उन्हीं नियमों का पालन करते थे।

कतिपय परिवर्तनों एवं परिवर्धनों के साथ लौकिक विषयों की विभिन्न शाखाओं के शिक्षण में भी मौखिक विधि का ही प्रचलन था। इन विषयों के शिक्षण क्रम में अध्यापक पाठ्यवस्तु का सस्वर वाचन करते हुये उसके कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण कर देता था। तदनन्तर छात्र उसको कंठस्थ करते थे। इसी प्रक्रिया के आधार पर शिष्यगण पणिनी–व्याकरण, अमर–कोष, मनुस्मृति तथा मम्मः काव्यशास्त्र आदि महत्वपूर्ण पुस्तकों का अध्ययन करते थे विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्व कालों की भाँति इस युग में धार्मिक एवं लौकिक विषयों के शिक्षण के लिये मौखिक विधियाँ ही अपनाई जाती थीं।

इस युग में पाण्डुलिपियों अथवा हस्तलिपियों के लिये ताड़ अथवा भोजपत्रों का प्रयोग किया जाता था। ये स्वभावतः क्षण–भंगुर होते थे। इनमें लिखी हुयी पुस्तकें सर्वसाधारण विद्यार्थियों को उपलब्ध नहीं हो पाती थी। अस्तु विविध विषयों में दक्षता प्राप्त करने के लिये छात्रों को मौखिक विधि का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता था। प्राचीन भारत में मौखिक विधि से प्राप्त किये गये ज्ञान का बहुत अधिक महत्व था। तत्कालीन समय में विद्वान पुरूष की जिह्वा पर ज्ञान का होना अत्यावश्यक था। समस्या के हल हेतु पुस्तकों के अवलोनार्थ समय की याचना करना निन्दनीय एवं गर्हित समझा जाता था।[157] बारवीं शताब्दी तक के लेखक की यही अभिलाषा रहती थी कि उसकी रचनायें विद्धानों के पुस्तकालयों को अलंकृत करने की अपेक्षा उनके मस्तिक की शोभा बढ़ायें।[158] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शताब्दियों तक वैदिक साहित्य ही अध्ययन का प्रमुख विषय रहा। लेखन–कला के आविष्कृत हो जाने के उपरान्त भी इसके संरक्षण एवं प्रसार हेतु इसका उपयोग नहीं किया गया। छात्रों को ध्वन्यात्मक नियमों के आधार पर वैदिक साहित्य का कंठस्थीकरण

---

157. एस0 आर0 बी0 पृष्ठ 168.5.413.

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगंत धनम्।
कार्यकाले समुतत्पन्ने न सास विद्या न तद्वनम।।

158. विक्रमांक देवचरित .18.102.

तेन प्रीतस्या विरचितमिदं काव्यामव्याजकांत
कर्ण्ण टेन्छोर्जगीत विदुषा कण्टभूषात्वंमेयात्।

करके भावी सन्तति को हस्तान्तरित करना पड़ता था। निःसन्देह लौकिक साहित्य के संरक्षण हेतु लेखन–कला का प्रयोग किया जा सकता था। किन्तु लेखन–साधनों के दुर्लभ होने के कारण हस्तलिपियाँ सम्पन्न व्यक्तियों को ही सुलभ हो पाती थीं। निर्धन छात्र पाण्डुलिपि भी नहीं प्राप्त कर पाते थे।[159] उनके लिये मात्र इसकी आकांक्षा करना ही अनुशासनहीनता का द्योतक समझा जाता था।[160] इन परिस्थितियों में निर्देशन कार्यों के लिये पुस्तकालयों तथा तालिकाओं और चित्रों और दृश्य–साधनों का उपयोग सम्भव नहीं था। इस प्रकार मात्र मौखिक शिक्षण–विधि ही अत्यन्त–अध्यापन के लिये सुलभ आधार थी तथा तत्कालीन परिस्थितियों में यह अत्यन्त सुविधा पूर्ण तथा उपयुक्त थी।

मौखिक पठन–पाठन का प्रमुख आधार एवं पुरनावृत्ति थी। वर्तमान समय की भाँति विद्यार्थी का गृह कार्य लिखित अभ्यासों का द्योतक नहीं था। वरन् इसका सम्बन्ध विद्यालय में अर्जित देय ज्ञान की आवृत्ति एवं पुनरावृत्ति से होता था। विद्यालय में भी छात्रों को प्रतिदिन पढ़ाई गयी पाठ्य–वस्तु का आवर्तन तथा पुनरावर्तन करना पड़ता था। इनसे दैनिक पाठ्य सामग्री उन्हें कंठस्थ हो जाती थी तथा सामान्य विद्यार्थी की स्मरण शक्ति का बहुत अधिक विकास होता था। अनवरत अभ्यासों के परिणामस्वरूप शिक्षार्थी स्मरणीकरण सम्बन्धी ऐसे अद्भुत कार्यों का सम्पादन करता था। कि वर्तमान समय में उनकी कल्पना करना कठिन था। निःसन्देह तत्कालीन समय में पाठ्य पुस्तकों के सुलभ न होने के कारण स्मृति–विकास पर बहुत अधिक बल दिया जाता होगा।

यद्यपि अभ्यासों के फलस्वरूप सामान्य छात्र की स्मृति पूर्णतया प्रशिक्षित एवं विकसित हो जाती थी तथापि लेखकों एवं शिक्षाशास्त्रियों ने उनके भार को न्यून करने के लिये पद्य–शैली में पाठ्य पुस्तकों एवं ग्रन्थों की रचना की। इस शैली में रची गयी पुस्तकें शिष्यों के स्मरणीकरण की प्रक्रिया को सरल एवं रोचक बना देती थी। यहाँ तक की शब्दकोष एवं व्याकरण से सम्बन्धित पाठ्य–पुस्तकों की रचना भी पद्य–शैली में ही की गयी। कुछ ग्रन्थों में पद्य शैली द्वारा ही बात का उल्लेख मिलता है।

---

159. शिक्षा, 32 – गीति शीघ्री शिरः कंपी तथा लिखितः पाठकः
अनर्थज्ञो लकाण्ठका ष्ठेते पाठकाधमाः

160. नारद, एस0 सी0 एस0 पृष्ठ 52. द्युत पुस्तक शुश्रुषा नाटका सवित्तसेच।
स्त्रियस्तन्द्रो च निद्रा च विद्या विघ्न कण्ग्र षट्।।

(द) शिक्षा नीति : विकास और शिक्षा की भूमिका : नीति नियमन

डा0 सरोज शर्मा के अनुसार शिक्षा और समाज परस्पर सम्बन्धित हैं किसी समाज की उन्नति भी शिक्षा पर निर्भर करती है। शिक्षा की उत्तम व्यवस्था के लिये जहाँ समाज को साधन और सुविधायें जटानी होती हैं, उस समाज की आकांक्षाओं, आदर्शों के अनुरूप शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना होता है वहीं शिक्षा का कार्य भी समाज के व्यक्तियों को सुसंस्कृत–सुयोग्य नागरिक बनाना है। तभी समाज प्रगति करता है। इससे अर्थ निकलता है कि किसी समाज की संरचना वहाँ की शिक्षा के स्वरूप और उसकी प्रणाली को प्रभावित करती है। प्राचीन काल में समाज में धर्म का प्राधान्य था, इसलिये शिक्षा भी धार्मिक रही और उसका उद्देश्य व्यक्ति के धार्मिक और चारित्रिक विकास को दृढ़ करना था। आज समाज में प्रजातांत्रिक पद्धति को अपनाया जा रहा है तो शिक्षा में स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय और सहयोग पर जोर दिया जा रहा है। आज शिक्षा का उद्देश्य अच्छे नागरिक तैयार करना है।

शिक्षा राष्ट्रीय विकास की आधारशिला होती है। जिस राष्ट्र के नागरिक सुशिक्षित होगें वह राष्ट्र अपना विकास सुनियोजित रुप से करेगा और जिस राष्ट्र में निरक्षरों की संख्या अधिक होगी वहाँ राष्ट्रीय विकास भी बाधित होगा। शिक्षा के इसी दृष्टिकोण के आधार पर कोठारी आयोग(1964–66)में राष्ट्र–निर्माण विकास में शिक्षा की अपरिहार्य भूमिका का उल्लेख निम्न शब्दों में किया गया है। ''भारत के भाग्य का निर्माण इस समय उसकी कक्षाओं में हो रहा है। हमारा विश्वास है कि यह कोई चमत्कारोक्ति नहीं हैं। विज्ञान और शिक्षण विज्ञान पर आधारित इस दुनियाँ में शिक्षा ही लोगों को खुशहाली, कल्याण और सुरक्षा के स्तर का निर्धारण करती है। हमारे स्कूलों और कॉलेजों से निकलने वाले विद्यार्थियों की योग्यता और संख्या पर ही राष्ट्रीय पुननिर्माण के उस महत्वपूर्ण कार्य की सहायता निर्भर करेगी जिसका प्रमुख लक्ष्य हमारे रहन–सहन का स्तर ऊँचा उठाना है। यदि हमें राष्ट्रीय विकास की गति तेज करनी है तो शिक्षा सम्बन्धी एक सुलझी हुयी, दृढ़ और कल्पनापूर्ण नीति तथा शिक्षा में प्राण डालने, उसमें सुधार करने तथा विस्तार करने के लिये दृढ़ संकल्पपूर्ण एवं प्राणमय कार्यवाही करने की इस समय बड़ी आवश्यकता है।''

राष्ट्रीय विकास का अर्थ :

कोठारी आयोग के उपर्युक्त कथन से राष्ट्रीय विकास का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। आज शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्रीय विकास है इसी को ध्यान में रखकर कोठारी आयोग के प्रतिवेदन में यह कहा गया है, ''राष्ट्रीय विकास के समग्र कार्यक्रम में शिक्षा की भूमिका का हम फिर से मूल्यांकन करें। समग्र कार्यक्रम के लिये शिक्षा के निम्नलिखित लक्ष्य रखे गये हैं :–

1. शिक्षा का सम्बन्ध उत्पादकता से जोड़कर राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना।
2. शिक्षा द्वारा सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को बढ़ाबा देकर चरित्र निर्माण करने का प्रयत्न करना।
3. शिक्षा द्वारा सामाजिक और राष्ट्रीय एकीकरण करना।
4. शिक्षा का आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करना।

इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा राष्ट्रीय विकास की आधारशिला है। जॉन वी0 जी0 ने राष्ट्रीय विकास का अर्थ इस प्रकार बताया है। ''राष्ट्रीय विकास समस्त नागरिकों का सम्मिलित प्रयास है और इसके अतिरिक्त शक्ति, ज्ञान, कौशल तथा समस्त मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों का विकास है।'' सन् 1929 में यू.एन.ओ. ने अपनी एक सामान्य सभा में राष्ट्रीय विकास के निम्नलिखित तथ्य बताये थे–

1. सबके लिये सामान्य जीवन–स्तर।
2. सबको लाभ में समान भागीदारी।
3. आय व धन का समान वितरण।
4. शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, निवास एवं समाज कल्याण सम्बन्धी सुविधा का विस्तार।
5. पर्यावरण की सुरक्षा।

संयुक्त राष्ट्र संघ की दशक रिपोर्ट में विकास का अर्थ इस प्रकार बताया है। ''विकास का अर्थ है वृद्धि एवं परिवर्तन। यह परिवर्तन सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक होता है।'' सारांशतः राष्ट्रीय विकास का अर्थ–आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विकास है– आज आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, सामाजिक परिवर्तन आदि राष्ट्रीय विकास का आधार माने जा रहे हैं। ये सब तभी सम्भव हो सकते हैं जब राष्ट्रीय विकास के अनुकूल शिक्षा–व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जाये। कोठारी आयोग में 'शिक्षा और राष्ट्रीय विकास' में इसी तथ्य पर ध्यान केन्द्रित कराया

गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति का भी यही आधार है। आज शिक्षा को एक विनियोग के रूप में माना जा रहा है। इस सम्बन्ध में शिक्षाविदों का आज मानना है कि जितना अधिक हम शिक्षा के क्षेत्र में व्यय करेंगे उतने ही अच्छे परिणाम हमें मिलेंगे। यूनेस्को का भी यही मानना है कि शिक्षा एक अच्छा विनियोग है अर्थात् जितना अधिक शिक्षा के क्षेत्र में व्यय किया जायेगा, उतने ही उत्तम श्रेणी के शिक्षित जन बनेंगे और उतना ही अधिक राष्ट्र का विकास होगा। अमेरिका, सोवियत, रूस आदि के अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि विकसित देशों में अनिवार्य शिक्षा का स्तर ऊंचा है अतः प्रौद्योगिकी आदि का विकास भी वहाँ अधिक है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति सुसंस्कृत बनता है। श्रम के प्रति निष्ठा उत्पन्न होती है। इस प्रकार राष्ट्रीय विकास को एक गति मिलती है। आज शिक्षा राष्ट्रीय विकास का साधन हैं क्योंकि शिक्षा ही विकास की प्रक्रिया है। यह बात शिक्षा के सम्बन्धित सभी नीतियों, समितियों और आयोगों में स्वीकार की गई है।

राष्ट्रीय विकास : सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक :

यह बात सत्य है कि शिक्षा राष्ट्रीय विकास की आधारशिला होती है और राष्ट्रीय विकास का अर्थ सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास है। इन तीनों ही विकासों का शिक्षा से घनिष्ट सम्बन्ध है। किसी भी देश के राष्ट्रीय विकास के लिये आवश्यक है कि उसके बीच आने वाली बाधाओं को दूर किया जाये। भारतवर्ष एक विकासशील देश है। इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अनेक बाधाएँ है, जो राष्ट्रीय विकास में बाधक हैं।

राष्ट्रीय विकास की बाधाएँ :

भारत के राष्ट्रीय विकास की मुख्य बाधाएँ– अशिक्षा, निम्न बचत, स्थिर अर्थ व्यवस्था, अविकसित प्राकृतिक सम्पदा, अर्थ का अभाव, निर्यात पर निर्भरता, जनसंख्या की अधिकता एवं बेरोजगारी आदि हैं, जिनके कारण राष्ट्रीय विकास पर्याप्त गति से नहीं हो पा रहा है।

भारत में कुछ सामाजिक प्रथाएँ, परम्पराएँ आदि वर्षों से चली आ रही हैं, जो आज के विकास के अनुरूप नहीं हैं। संयुक्त परिवार प्रथा, धार्मिक संकीर्णताएँ, दहेज प्रथा, बाल विवाह जैसी सांस्कृतिक, सामाजिक परम्पराएँ संकुचित दृष्टिकोणों का विकास करती हैं, जिससे तीव्र विकास की प्रक्रिया में बाधा पहुँचती है। बढ़ती हुई जनसंख्या भी इसी का परिणाम है। अतः यदि राष्ट्रीय विकास को

त्वरित करना है तो लोगों के व्यवहारों व मूल्यों में परिवर्तन लाना पड़ेगा। आर्थिक विकास की गति भी भारत में मन्दी है। आज भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। अधिकांश लोग गरीबी रेखा से न्यूनतम स्तर पर जीवन यापन कर रहें हैं। भारत मे गाँवों में प्रति व्यक्ति 2400 कैलोरी और शहरों में 2100 कैलोरी प्रति व्यक्ति ऊर्जा का मानदण्ड भी पूरा नहीं हो पा रहा है। व्यावसायिकता की दृष्टि से देखें तो भारत की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है जो देश के विकास का प्रथम चरण माना जाता है। उद्योगों का अर्थव्यवस्था में योगदान जिन देशो में अधिक होता है वे विकसित देशों की कोटि में आते हैं। भारत की जनसंख्या प्रतिवर्ष बेतहाशा बढ़ रही है। 2001 तक कुल जनसंख्या 1,02,70,15,247 के आँकड़े को पार कर चुकी है। इसके उपरान्त भी भारत में मानवीय–पूँजी और भौतिक–पूँजी की कमी है। भौतिक–पूँजी के कारण श्रमिक शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं हो पा रहा है। मानवीय पूँजी अशिक्षा, कुपोषण, बेरोजगारी और निर्धनता से ग्रसित है। आज आवश्यकता अत्याधुनिक तकनीकी, कौशलों को प्राप्त करने की है जो व्यावसायिक शिक्षा द्वारा लाई जा सकती है। विकसित देशों में अर्थव्यवस्था इसलिये उत्तम है क्योंकि इन देशों में उत्पादन की तकनीक में निरन्तर परिवर्तन हो रहें हैं, विकास के नये प्रतिमान स्थापित किये जा रहे हैं। हमें भी अपने देश को सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक रूप से विकसित बनाने के लिये व्यावसायिक दक्षता, उत्पादन सम्बन्धी आधुनिकतम तकनीक का निर्माण करना होगा जिससे राष्ट्रीय विकास को दिशा मिल सके।

राष्ट्रीय विकास में शिक्षा की भूमिका (नीति-नियमन, तर्क सम्मत आधार, व्यूह-रचना एवं निहितार्थ) :

किसी भी देश का विकास (राष्ट्रीय विकास) उस देश के आर्थिक विकास पर निर्भर करता है। एडम स्मिथ ने अपनी कृति ''वैल्थ ऑफ नेशन्स में'' शिक्षा और आर्थिक के सम्बन्ध को सर्वप्रथम बताया। आपने कहा,''शिक्षा के द्वारा मनुष्य की उपयोगी क्षमताएँ एक स्थाई पूँजी का रूप ले लेती है।'' उत्पादन के लिये दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है– (1) स्थिर पूँजी और (2) कार्यशील पूँजी।

एडम स्मिथ ने श्रम को स्थिर पूँजी माना है और शिक्षा को कार्यशील पूँजी माना है, क्योंकि शिक्षा ही व्यक्ति को बुद्धिमत्ता और अच्छी आदतें सिखाती है। आर्थिक

क्रियाओं और उन्नति का श्रेय भी शिक्षा को ही जाता है। आर्थिक विकास में शिक्षा के महत्व के विषय में यूनेस्को का कहा है– पूँजी वह है, जो हमें बदले में लाभ देती है– शिक्षा एक पूँजी है, जिसे हम लागत के रूप में प्रयोग करके लाभ ले सकते हैं।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल–शिक्षा को अधिकतम मूल्यवान पूँजी मानते हैं। अतः शिक्षा की नीतियों का नियमन इस प्रकार किया जाना चाहिये। वह राष्ट्र का हित कर सके। मार्शल का कहना है कि होनहार और योग्यतम छात्रों की योग्यताओं की अनदेखी करना राष्ट्र के हित के विरूद्ध है– अतः शिक्षा को विभिन्न रुपों में लगाया जा सकता है– (1) वर्तमान उपयोग के लिये, (2) भविष्य के लिये, और (3) आर्थिक विकास में काम में आने वाली कुशलताओं के विकास के लिये।

रिकॉर्डो और माल्थस जैसे अर्थशास्त्री शिक्षा के महत्व को स्वीकारते हैं। उनका मानना है कि शिक्षा आर्थिक विकास में अप्रत्यक्ष रुप से सहयोग देती है, जैसे– यह मनुष्य में आदतों का विकास करती है। सीमित परिवार बनाने में योगदान देती है, जो जनसामान्य के आर्थिक कल्याण में सहयोग होता है।

नीति–नियमन की दृष्टि से विचार करें तो भारत की नीति अनुचित है। आज भी भारत में शिक्षा का 62% तक ही पहुँच पाया है। आवश्यकता है कि प्रत्येक भारतीय साक्षरता मिशन में अपनी भागीदारी निभायें। बांग्लादेश और श्री लंका इस ओर अग्रसर हैं। शिक्षित निर्धन–अशिक्षित अमीर की तुलना में अधिक विश्वास पूर्ण और संकल्पित होता है। नोबेल पुरस्कार से अलंकृत अर्थशास्त्री अमर्त्यसेन इस बात को कह चुके हैं– चीन जैसा देश साक्षरता से शिक्षा की ओर जा रहा है। जबकि भारत इसमें पिछड़ रहा है। शिक्षा और आर्थिक विकास एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। कोई भी राष्ट्र अपना सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास बिना शिक्षा के नहीं कर सकता। तर्क सम्मत आधार पर इसकी पुष्टि हो चुकी है। उदाहरण के लिये– विकसित देशों में जैसे अमेरिका में 1994 में प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद 25,880 डॉलर था, जबकि उसी समय भारत जैसे विकासशील देश में यह मात्र 320 डॉलर था।

भारत में पूँजी की न्यूनता है। योजना आयोग के अनुसार 1993–94 में देश में 16.9 करोड़ व्यक्ति गरीब माने गए हैं।

यहाँ औद्योगीकरण का अभाव है और आर्थिक विकास के लिये औद्योगीकरण आवश्यक है। भारत कृषि प्रधान देश है, उसमें भी प्रति हैक्टेयर व प्रति व्यक्ति उत्पादन का स्तर बहुत नीचा है। खेती के लिये उन्नत बीज, खाद आदि साधन उपलब्ध नहीं हैं। जनसंख्या की अधिकता है जो आर्थिक विकास को कम करके बेरोजगारी और निर्धनता बढ़ाने में ही योगदान देती है, अशिक्षा को बढ़ावा देती है।

इन सबसे भी बढ़कर तथ्य यह है कि शिक्षा पर जितनी मात्रा में व्यय किया जा रहा है उसका प्रतिफल नहीं मिल पा रहा है। स्वतंत्रता के 50 वर्ष से अधिक समय के उपरान्त भी हम प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण नहीं कर पायें है। विद्यालय छोड़ने वालों की संख्या आज भी बढ़ रहीं है। उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त व्यक्ति बेरोजगार हैं और इस रुप में शिक्षा में किया गया निवेश अनुप्रयुक्त प्रतीत हो रहा है। जबकि शिक्षा को आज विनियोग माना जा रहा है। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए एक, ऐसी व्यूह रचना बनाई जानी आवश्यक है। (1) मानसिक शक्ति के नियोजन की आवश्यकता है। इसके लिये शैक्षिक योजनाएँ बनाई जाएँ, (2) उन परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाए जो राष्ट्रीय विकास में सहायक अथवा बाधक सिद्ध होती हैं, (3) शिक्षा और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक जन शक्ति का चयन। योजना को क्रियान्वयन के लिये तैयार करना उसे अन्तिम रुप प्रदान करना, और (4) अन्त में मूल्यांकन करना चाहिए।

हारबिन्सन और मायर्स ने अपनी कृति "शिक्षा मानव शक्ति एवं आर्थिक विकास" में अनौपचारिक शिक्षा पर विशेष बल दिया है। संक्षेप में शिक्षा का निहितार्थ यह है कि यह व्यक्ति को नवीन परिस्थितियों से जूझना सिखाती है और नई परिस्थिति से सामना करके व्यक्ति कुछ सीखता ही है। अतः आर्थिक विकास की गति को त्वरित करने के लिये शिक्षा ही सर्वाधिक मूल्यवान पूँजी है। शिक्षा प्राप्त व्यक्ति सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक बाधाओं से अपनी बौद्धिक क्षमता द्वारा निपट लेता है। यद्यपि पूर्ण रूपेण यह नहीं कहा जा सकता कि केवल शिक्षा ही आर्थिक एवं राष्ट्रीय विकास का माध्यम है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार नहीं मिलेगा, मानव शक्ति का सही नियोजन नहीं किया जाएगा तब तक शिक्षा पर किया गया व्यय व्यर्थ ही जाएगा। अतः शिक्षा को विनियोग का स्वरुप प्रदान करने की अति आवश्यकता है। तभी राष्ट्रीय विकास को बढ़ावा मिल सकेगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 -

जनवरी 1995 में भारत सरकार ने संसद में एक नई शिक्षा नीति के प्रतिपादन की घोषणा की। एक वर्ष पश्चात् 1986 के संसद के बजट सत्र में विचार–विमर्श के उपरान्त राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 को पारित किया गया। संसद में राष्ट्रीय शिक्षा नीति सम्बन्धी प्रस्तुत करने से पूर्व उस पर एक वर्ष तक भारत सरकार द्वारा प्रेरित विभिन्न मंचों पर वाद–विवाद चलता रहा। इसमें शिक्षा विदों, शिक्षा प्रशासकों एवं नियोजकों, शिक्षकों, साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों, अभिभावकों और छात्रों आदि ने भाग लिया। इसके आधार पर 'नीति सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य' 1985 में प्रकाशित व प्रसारित किया गया, जिसमें पिछले 35 वर्षों में शौक्षिक संस्थाओं में पर्याप्त वृद्धि के उपरान्त भी शिक्षा में अपेक्षित सुधार न होने की बात कही गई। शिक्षा पर इस दृष्टि से और अधिक राशि व्यय करने का सुझाव भी दिया गया और मई 1986 में संसद ने इसे स्वीकार कर लिया।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 का प्रारूप एवं चुनौतियाँ -

यह शिक्षा नीति 12 भागों में विभक्त है, जो निम्नलिखित हैं –

(1) भूमिका
(2) शिक्षा का सार व भूमिका
(3) राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था
(4) समानता के लिए शिक्षा
(5) विभिन्न स्तरों पर शिक्षा का पुनर्गठन
(6) तकनीकी एवं प्रबन्ध शिक्षा
(7) शिक्षा व्यवस्था को कारगार बनाना
(8) शिक्षा की विषय वस्तु और प्रक्रिया का अभिनवीकरण
(9) शिक्षक
(10) शिक्षा का प्रबन्ध
(11) संसाधन तथा पुनरावलोकन
(12) भविष्य

(य) विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित पाठ्यक्रम एवं मूल्य : आधुनिक भारत की शैक्षिक आवश्यकताएँ एवं वर्तमान मूल्य

पुरातनकालीन भारतीय शिक्षा भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीयता, विश्व–बन्धुत्व एवं मानव कल्याण की भावनाओं से संतृप्त थी किन्तु एक लम्बी अवधि

तक विदेशियों की सत्ता के प्रभाव के कारण भारतीय शिक्षा लुप्त प्राय होने लगी। अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय समाज तथा, शिक्षा पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बढ़ता गया। इस स्थिति को देखते हुए भारतीय नेताओं, समाज–सुधारकों एवं धार्मिक प्रेरकों ने राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से शिक्षा में परिवर्तन लाने के प्रयास किये। 19 वीं शताब्दी में पाँच विशेष शौक्षिक क्रान्तियों के द्वारा धार्मिक एवं सांस्कृतिक जागृति लाने का प्रयास किया गया। ये शौक्षिक क्रान्तियाँ थीं– ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल समाज तथा रामकृष्ण मिशन की स्थापना। इन आन्दोलनों एवं शौक्षिक क्रान्तियों के जन्मदाता थे राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीमती एनी बीसेन्ट तथा स्वामी विवेकानन्द में पाँचों क्रान्तियाँ वास्तव में भारतीय संस्कृति एवं धार्मिकता पर आधारित थीं, किन्तु इनमें भारतीय राष्ट्रीयता के बीज अंकुरित थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अवधि भारत के लिये राजनीतिक संघर्ष की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी काल में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस तथा आर्य–समाज की विचारधाराओं ने जन्म लिया। गोपाल कृष्ण गोखले, तिलक, गाँधी, स्वामी दयानन्द, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, मोतीलाल नहेरू, अलीबन्धु आदि नेताओं ने शौक्षिक क्रान्तियों के द्वारा राजनीतिक संघर्ष प्रारम्भ किये तथा भारत को अंग्रेजों के शासन से मुक्त करने के प्रयास किये। इस काल में ऐसे कई शौक्षिक प्रयोग प्रारम्भ किये गये, जिनमें भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीयता, धार्मिकता, सामाजिकता, मानव कल्याण एवं व्यक्ति के सर्वागीण विकास पर बल दिया गया। इनमें कुछ प्रमुख शौक्षिक प्रयोग निम्नवत हैं–

1– टैगोर का शान्ति निकेतन (विश्व भारतीय),

2– गुरुकुल प्रणाली, दयानन्द सरस्वती

3– बुनियादी शिक्षा, महात्मा गाँधी

4– विवेकानन्द और निवेदिता

5– अरविन्द आश्रम (अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र)

6– बनस्थली विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ आदि।

विश्व भारती का पाठ्यक्रम :

विश्व भारती शान्ति निकेतन में वौदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य, पाश्चात्य

साहित्य, विभिन्न भारतीय एवं विदेशी भाषाएँ, संगीत, नृत्य, चित्रकला, शिल्प, समाज शिक्षा, श्रम, कृषि आदि शौक्षिक व्यवस्थाओं के पाठ्यक्रम संचालित किये जाते हैं।

गुरुकुल प्रणाली के पाठ्यक्रम :

गुरुकुल शिक्षा–प्रणाली में निम्नलिखित विषय समाविष्ट किये गये हैं–

(अ) प्राचीन वैदिक शिक्षा एवं साहित्य :

1– पाणिनी–व्याकरण –सूत्र, भाषा, वर्णोच्चारण

2– व्याकरण तथा व्याकरण विज्ञान–सूत्र, घातु, उपनिषद (3 वर्षीय अवधि)

3– निघण्टु एवं निरूक्त (वैदिक शब्द कोष का ज्ञान) – (8 माह की अवधि)

4– छन्दशास्त्र एवं पिंगलशास्त्र (4–5 माह)

5– मनुस्मृति, बाल्मीकि रामायण, महाभारत एवं विदुर नीति (1वर्षीय)

6– छः शास्त्र तथा ऋषि टीकाएँ (2 वर्षीय)

7– चार ब्राह्मण ग्रन्थ–एतरेय, शतपथ, साम तथा गोपकर

8– ज्योतिष शास्त्र (खगोल विज्ञान), अंकगणित, बीजगणित, बीजगणित, भूगोल, भूगर्भ–विज्ञान (2 वर्षीय)

9– चार उपवेद (2 वर्षीय)

(i) आयुर्वेद (चिकित्सा एवं शल्य विज्ञान)

(ii) धनुर्वेद (राजनीति एवं शासन विज्ञान)

(iii) गन्धर्ववेद (कला, नृत्य एवं संगीत का विज्ञान)

(iv) अर्थर्ववेद (औद्यौगिक, व्यावसायिक एवं तकनीकि विज्ञान)

(ब) आधुनिक ज्ञान–विज्ञान एवं साहित्य :

1– भारतीय एवं विदेशी भाषाएँ एवं साहित्य तथा कलाएँ

2– भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र एवं जीव विज्ञान तथा गणित

3– प्राचीन एवं आधुनिक इतिहास (भारतीय एवं पाश्चात्य)

4– राजनीतिशास्त्र

5– वाणिज्य एवं व्यापार

6– आधुनिक तकनीकि एवं चिकित्सा।

बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम :

सात वर्षीय बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में निम्नांकित विषयों को समाविष्ट किया गया है–

1. आधारभूत हस्तकला,

2. मातृभाषा,

3. गणित,

4. सामाजिक विज्ञान (इतिहास, भूगोल एवं नागरिकशास्त्र)

5. सामान्य विज्ञान (प्राकृतिक अध्ययन, वनस्पति विज्ञान, प्राणि विज्ञान, शरीर विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, रसायन विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान आदि),

6. चित्रकला,

7. संगीत,

8. हिन्दुस्तानी।

इस पाठ्यक्रम की कुछ विशिष्टताएँ इस प्रकार हैं –

1– अंग्रेजी का पूर्णतः निकाल दिया गया है।

2– हिन्दुस्तानी को राष्ट्रीय भाषा के रुप में स्वीकारा गया है। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में स्कूली शिक्षा के पाँचवे एवं छठे वर्ष में इसे अनिवार्य रुप से पढ़ाने को कहा गया है।

3– पाँचवीं कक्षा तक सह–शिक्षा की स्वीकृति दी गई है तथा अन्तिम दो वर्षों की बालिकाओं की शिक्षा में सामान्य विज्ञान के साथ गृह–विज्ञान को भी सम्मिलित किया गया है।

4– धार्मिक शिक्षा को इससे अलग रखा गया है, क्योंकि व्यवहार में देखने में आता है कि यह शिक्षा संघर्ष को जन्म देती है। गाँधी जी सभी धर्मों के सत्य को शब्दों एवं पुस्तकों के द्वारा पढ़ाने अपेक्षा शिक्षकों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से बतलाना चाहते थे।

विवेकानन्द और भगिनी निवेदिता द्वारा संचालित पाठ्यक्रम :

भाषा, विज्ञान, मनोविज्ञान, गृहविज्ञान, प्रावधिक विषय, कला, कृषि, व्यावसायिक विषय, इतिहास, भूगोल, गणित, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, खेलकूद, व्यायाम, समाज व राष्ट्र सेवा धार्मिक शिक्षा पुस्तकों से न होकर आचरण व्यवहार संस्कारों द्वारा।

अरविन्द आश्रम (अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र) द्वारा पाठ्यक्रम :

श्री अरविन्द ने बालक का नैतिक, भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास करने के लिये शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर पाठ्यक्रम के जो विषय निर्धारित कियें है, वे इस प्रकार है–

(1) प्राथमिक शिक्षा :

मातृभाषा, अंगेजी, फ्रेंच, सामान्य विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, गणित और चित्रकला।

(2) माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा :

मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, गणित, सामाजिक अध्ययन, भौतिक–शास्त्र, रसायन–शास्त्र, जीव–विज्ञान, वनस्पति–विज्ञान, स्वास्थ्य–विज्ञान, भूगर्भ–विज्ञान, और चित्रकला।

(3) विश्वविद्यालय शिक्षा :

भारतीय व पाश्चात्य दर्शन, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, सभ्यता का इतिहास, अंग्रेजी साहित्य, गणित, भौतिक–शास्त्र, रसायन–शास्त्र, विज्ञान का इतिहास, फ्रेंच, साहित्य, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, जीवन का विज्ञान और विश्व–एकीकरण।

पाठ्यचर्या

पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम के लिये प्रचलित शब्दों में अपेक्षाकृत नया शब्द है। इसका प्रयोग पाठ्यक्रम के क्रमबद्ध स्पष्ट, विषयवार एवं विस्तृत स्वरुप के लिये किया जाता है।

पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम के उस पक्ष को कहा जाता है। जिसे कक्षा में प्रयोग हेतु व्यवस्थित किया जाता है। इसमें अन्तर्वस्तु के अतिरिक्त शिक्षकों, छात्रों तथा प्रकाशकों के उपयोगार्थ सहायक सामग्री एवं कार्य–विधि आदि के निर्देश भी सम्मिलित होते है। गुड के शिक्षा–शब्द कोष के अनुसार पाठ्यचर्या एक कार्यालयी संदर्शिका होती है, जो किसी कक्षा को ~~किसी कक्षा को~~ किसी विषय के शिक्षण में सहायता के लिये किसी विद्यालय विशेष अथवा व्यवस्था के लिये तैयार की जाती है। इसके अन्तर्गत पाठ्यक्रम के लक्ष्य, अपेक्षित परिणाम, अध्ययन सामग्री की प्रकृति एवं विस्तार तथा उपयुक्त सहायक सामग्री एवं पाठ्य–पुस्तकों के साथ–साथ अनुपूरक पुस्तकों, शिक्षण विधियों, सहगामी क्रियाओं तथा उपलब्धि मापन के सुझाव भी सम्मिलित किये जाते हैं। कुछ विद्वानों द्वारा पाठ्य–वस्तु एवं पाठ्यचर्या को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। वर्तमान समय में 'सिलेबस' के स्थान पर 'कोर्स ऑफ स्टडी' का प्रयोग अधिक किया जाने लगा है।

पाठ्यक्रम से सम्बन्धित आधुनिक पदावली :

वर्तमान समय में पाठ्यक्रम से सम्बन्धित नवीन पदों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। इन नवीन पदों में प्रमुख पद इस प्रकार हैं–

1. कोर करीक्युलम या केन्द्रीयभूत सामान्य पाठ्यक्रम,
2. कोरिलेशन या सुसम्बद्धता,
3. फ्यूजन या सम्मिश्रण,
4. इन्टीग्रेशन या एकीकरण,
5. इकाई,
6. क्रियात्मक अनुसंधान।

सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत एवं पाठ्यक्रम :

शिक्षा का एक प्रमुख लक्ष्य सामाजिक–सांस्कृतिक विरासत को आगे बढ़ाते जाना है। पाठ्यक्रम, सामाजिक अनुभवों के संचित कोष पर आधारित होता है। तथा परम्पराएँ संस्कृति का एक विशेष अंग होती हैं। अतः कोई भी पाठ्यक्रम नियोजन उन्हें भावी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने की आवश्यकता से असहमत नहीं हो सकता। तीव्रगामी परिवर्तन के युग में परम्पराओं का महत्व थोड़ा कम अवश्य हो जाता है, किन्तु उसकी पूर्णतया उपेक्षा नहीं की जा सकती। परम्पराओं के अन्तर्गत केवल भूतकालीन ज्ञान ही नहीं बल्कि अभिवृत्तियाँ भी सम्मिलित रहती हैं। जिनमें से अनेक उपयोगी भी होती हैं। अतः केवल पुराने के नाम पर उनको वहिष्कृत कर देना उचित नहीं होता है। वास्तव में आवश्यकता परम्परा को अनुपयोगी मानने की नहीं, बल्कि अच्छी या बुरी परम्पराओं में भेद करने की है। उदाहरणस्वरुप, पाठ्यक्रम के क्षेत्र में क्या? क्यों? और कैसे? का दृष्टिकोण वस्तुतः वैज्ञानिक है। जो प्राचीन काल से चला आ रहा है तथा भविष्य में भी चलता रहेगा।

दूसरी तरफ यह भी एक तथ्य है कि नवीन कही जाने वाली प्रवृत्तियों में भी परम्परा का अपना स्थान होता है, क्योंकि कोई भी प्रवृत्ति पूर्णतया नवीन नहीं होती है। किसी भी नवीन बात में परम्परागत बात का कुछ न कुछ अंश अवश्यक होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है। कि नवीनता अथवा परिवर्तन परम्पराओं के ही विकसित रुप होते हैं।

पाठ्यक्रम में सामाजिक–सांस्कृति विरासत के जो अंश विद्यमान वे भैतिक और मानसिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। भौतिक के उदाहरण पाठ्य–पुस्तकें, विद्यालय भवन, शिक्षण –सामग्री आदि हैं, तथा मानसिक के उदाहरण अभिवृत्तियाँ, मूल्य, विश्वास, आदर्श एवं परम्पराएँ है। मूल्यों, विश्वासों, आदर्शों एवं परम्पराओं का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शिक्षा की अन्तर्वस्तु तथा व्यवस्था सदैव किसी न किसी प्रकार की मूल्य व्यवस्था से संचालित होती है। पाठ्यक्रम संस्कृति से अनेक बातें ग्रहण करता है। उसके सभी घोषित एवं निहित उद्देश्य उसकी संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों, मान्यताओं, मूल्यों विश्वासों, आदर्शों एवं परम्पराओं को परिलक्षित करते हैं। उसकी पाठ्य–वस्तु के अन्तर्गत उन कौशलों, विचारों एवं मूल्यों का समावेश है, जो समाज द्वारा बहुमूल्य माने जाते हैं। सामाजिक मूल्य, सामाजिक संरचना और सामाजिक परिवर्तन दोंनों के ही अभिन्न अंग होते हैं। अतः उन्हें पाठ्यक्रम की परिधि से दूर रखना न तो सम्भव है और न ही उचित। इसलिये पाठ्यक्रम नियोजकों को पाठ्यक्रम निर्माण के समय समाज के मूल्यों विश्वासों, आदर्शों एवं परम्पराओं पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता रहती है।

प्राचीन धार्मिक मूल्य और उभरते भारत के मूल्य :

धार्मिक मूल्य :

भारतीय समाज अत्याधिक प्राचीन उसके परम्परागत मूल्यों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. **पुरूषार्थ :** ये मनवोचित जीवन के चार लक्ष्य है–

(i) **अर्थ,** आर्थिक

(ii) **काम,** मूल, प्रवृत्यात्मक एवं संवेगात्मक

(iii) **धर्म–** बौद्धिक एवं नैतिक

(iv) **मोक्ष–** आध्यात्मिक

2. **आश्रम व्यवस्था :** चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास)

3. **वर्ण व्यवस्था :** चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र)

4. **धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय–निग्रह, घी, विद्या, सत्य एवं आक्रोध**

उभरते भारत के मूल्य :

वर्तमान भारतीय समाज की चर्चा कर रहे हैं। जिसका निर्माण

19वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ है। यह निर्माण कई स्तरों पर प्रतिपादित किया गया जिसमें पाँच प्रमुख स्तर अग्रांकित प्रकार हैं :–

(1) पहला स्तर आध्यात्मिक पुनरूत्थान का था जिसका सूत्रपात राजा रामोहन राय ने किया तथा रामकृष्ण परम हंस, स्वामी विवेकानन्द आदि मनीषियों ने इसे निश्चित दिशा प्रदान की।

(2) दूसरा स्तर साहित्यिक विकास का था जिसका प्रतिनिधित्व महान कवि एवं दार्शनिक रवीन्द्रनाथ टैगोर ने किया।

(3) तीसरा स्तर सामाजिक विकास का था जिसके लिये भारतीय शिक्षित युवकों ने अथक प्रयास किये।

(4) चौथा स्तर राजनीतिक चेतना एवं जागृति का था। जिसे उत्पन्न करने का श्रेय बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, सर सैय्यद अहमद खाँ, महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस आदिमहान विभूतियों को हैं।

(5) पाँचवा स्तर आर्थिक एवं तकनीकि विकास का था जिसने भारतीयों के समक्ष धन भौतिक समृद्धि की प्राप्ति का उद्देश्य प्रस्तुत किया ।

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ ही आज के नवीन जीवन मूल्य हैं। ये जीवन मूल्य निम्नलिखित हैं–

1. स्वतन्त्रता एवं व्यक्तिवाद,
2. समानता,
3. सामाजिक न्याय,
4. धर्म–निरपेक्षता,
5. भ्रातृत्व भाव,
6. भौतिक समृद्धिकी बढ़ती इच्छा,
7. वैज्ञानिक दृष्टि कोण।

आधुनिक भारत की शैक्षिक आवश्यकताएँ :

प्रत्येक समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की अपनी–अपनी आवश्यकताएँ होती हैं तथा उनकी पूर्ति के लिये वह तदनुरुप शिक्षा की व्यवस्था करता है। आधुनिक लोक तान्त्रिक भारत की भी अपनी कुछ विशिष्ट आवश्यताएँ है। भारतीय शिक्षाविदों एवं पाठ्यक्रम आयोजकों को इन आवश्यकताओं को जानना और समझना

अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि आवश्यकताओं के सन्दर्भ में ही शैक्षिक उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। वर्तमान समय में हमारे देश की विभिन्न शैक्षिक आवश्यकताएँ इस प्रकार की हैं –

1. शिक्षा द्वारा नागरिकों का चारित्रिक विकास करने की आवश्यकता जिससे वे ईमानदार, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं परिश्रमी नागरिक बन सकें।
2. व्यक्तियों में उन प्रवृत्तियों को समाप्त करने की आवश्यकता जो राष्ट्रीय एकता, धर्म–निरपेक्षता तथा लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के विकास में बाधक है।
3. आज विश्व के समस्त राष्ट्रों में वैज्ञानिक प्रगति की होड़ लगी है। भारत इस होड़ की पंक्ति में तभी खड़ा हो सकता है जब उसके नागरिकों में वैज्ञानिक चिन्तन एवं दृष्टिकोण विकसित किया जाये।
4. भारत एक साधन सम्पन्न देश है किन्तु फिर भी वह एक निर्धन राष्ट्र है। इसकी अधिकांश जनसंख्या दरिद्रता की स्थिति में रह रही है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा द्वारा नागरिकों की कार्य–कुशलता में वृद्धि की जाये, उत्पादन क्षमता का विकास किया जाये तथा प्राकृतिक संसाधनों में अधिकतम उपयोग किया जाये।
5. शारीरिक दृष्टि से भारतीय नागरिक अन्य देशों से पिछड़े हुए हैं। इसका आभास अन्तर्राष्ट्रीय खेलों एवं प्रतियोगिताओं में हमारे नवयुवकों के प्रदर्शन से स्पष्ट रूप से होता है। आम नागरिक का स्वास्थ्य भी स्तरीय नहीं है। अतः भारतीय नागरिकों के स्वास्थ्य सुधार पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है।
6. प्राचीन समय में भारत अपनी उच्च एवं महान संस्कृति के लिये विख्यात था किन्तु आज उसमें निरन्तर गिरावट आ रही है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि भारतीय संस्कृति का संरक्षण, परिमार्जन एवं संवर्धन किया जाये तथा उसके सही रूप को विश्व के सम्मुख रखा जाये।
7. हमारे देश में अभी भी जनता अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता एवं भाग्यवादिता से ग्रसित है जिससे उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। शिक्षा द्वारा भारतीय नागरिकों को इन बुराइयों से दूर करके उनमें आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने की आवश्यकता है।
8. भारत की सबसे महत्वपूर्ण शैक्षिक आवश्यकता, शिक्षा द्वारा स्वयं शिक्षा में परिमार्जन करने की है। वर्तमान शिक्षा अधिक सैद्धान्तिक, अव्यावहारिक तथा

जीवन से असम्बन्धित है। अतः आज भारत में ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो व्यावहारिक ज्ञान प्रदान कर सके, जीवन से सम्बन्धित हो तथा नागरिकों की कार्य–कुशलता में वृद्धि कर सके।

विभिन्न शिक्षा आयोगों के अनुसार भारत की शैक्षिक आवश्यकताएँ:

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में शैक्षिक विकास के उद्देश्य से कई शिक्षा आयोग नियुक्त किये गये हैं। इन आयोगों ने लोकतन्त्रीय भारत में शिक्षा की आवश्यकताओं का उल्लेख करते हुये इसके उद्देश्य निर्धारित किये हैं। इसका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया गया है–

1. **विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग** (1948) के अनुसार "स्वयं प्रजातन्त्र का जीवन सामान्य व्यावसायिक एवं जीवकोपार्जन सम्बन्धी शिक्षा के सर्वोच्च स्तर पर निर्भर है। अतः हमारे समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विश्वविद्यालयों का कार्य होना चाहिये– विवेक का विस्तार, नये ज्ञान के लिये अधिक इच्छा, जीवन के अर्थ को जानने के लिए अधिक प्रयास तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था।"
2. **माध्यमिक शिक्षा आयोग** (1952–53) के अनुसार "शिक्षा व्यवस्था को आदतों, दृष्टिकोणों और चरित्र के गुणों के विकास में योग देना होगा जिससे नागरिक, लोकतन्त्रीय नागरिकता के दायित्वों का योग्यता से निर्वाह कर सकें तथा उन विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का विरोध कर सकें जो व्यापक और राष्ट्रीय धर्म–निरपेक्ष दृष्टिकोण के विकास में बाधक हों।"
3. **भारतीय शिक्षा आयोग (कोठारी आयोग)** (1964–66) के अनुसार "लोकतन्त्र में व्यक्ति स्वयं साध्य है और इसलिए शिक्षा का प्रमुख कार्य उसको अपनी शक्तियों के पूर्ण विकास के लिए अधिक से अधिक अवसर प्रदान करना है।"

आधुनिक जनतन्त्रीय भारत के शैक्षिक उद्देश्य :

पूर्व–उल्लिखित आवश्यकताओं, आकांक्षाओं एवं मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों को निम्नांकित रूप में निर्धारित किया जा सकता है–

1. व्यक्ति सम्बन्धी शैक्षिक उद्देश्य,
2. समाज सम्बन्धी शैक्षिक उद्देश्य,
3. राष्ट्र सम्बन्धी शैक्षिक उद्देश्य,

इन उद्देश्यों के विभिन्न स्तर इस प्रकार के हो सकते हैं –

1. व्यक्ति सम्बन्धी शैक्षिक उद्देश्य :

1.1 शारीरिक विकास,

1.2 चारित्रिक विकास,

1.3 मानसिक विकास,

1.4 सांस्कृतिक विकास,

1.5 आधुनिकीकरण,

1.6 उत्पादन का विकास,

2. समाज सम्बन्धी शैक्षिक उद्देश्य :

2.1 सामाजिक बुराइयों का निराकरण,

2.2 समाजवादी समाज की स्थापना,

2.3 लोकतन्त्रीय नागरिकता का विकास,

2.4 सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का समावेश,

3. राष्ट्र सम्बन्धी शैक्षिक उद्देश्य :

3.1 राष्ट्रीय एकता का विकास,

3.2 भावात्मक एकता की प्राप्ति,

3.3 मानवीय मूल्यों का विकास,

3.4 आर्थिक उन्नति,

3.5 आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करना,

3.6 अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का विकास,

हुमायूँ कबीर के शब्दों में "भारत में शिक्षा द्वारा लोकतन्त्रीय चेतना, वैज्ञानिक खोज और दार्शनिक सहिष्णुता का निर्माण किया जाना चाहिये। केवल तभी हम उन परम्पराओं के सही उत्तराधिकारी होगें जिनका निर्माण इस देश में अतीत में हुआ है। केवल तभी हम उस आधुनिक विरासत में अपना भाग पाने के अधिकारी होगें, जो विश्व के समस्त राष्ट्रों की विरासतों को एक करने का प्रयत्न करती है।"

वर्तमान राष्ट्रीय मूल्य एवं पाठ्यक्रम :

राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था सम्पूर्ण देश के लिये एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम के ढाँचे पर आधारित होगी। इसमें एक समान कोर पाठ्यक्रम होगा किन्तु आवश्यकतानुसार इसमें समय–समय पर परिवर्तन किया जा सकेगें। इसके अर्न्तगत :–

1. हमारी संस्कृति के प्रति चेतना का जागरण
2. राष्ट्रीय एकता का विकास
3. भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास
4. महान पुरूषों के जीवन सन्देश व सांस्कृतिक पोषण
5. धर्म–निपेक्षता या सर्व धर्म सद्भाव
6. समाजवाद
7. पर्यावरण का महत्व
8. सीमित परिवार की आवश्यकता
9. लोकतन्त्र
10. वैज्ञानिक मनाकृति का विकास
11. संवधिान के प्रति कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व

भारत का संविधान (भाग 4 अ अनुच्छेद 51 अ)

नागरिकों के मूल कर्त्तव्य–भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह :–

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिये हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ड़) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेद भावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरूद्ध हो,

(च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करें और उसका संवर्धन करें तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखें,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखें और हिंसा से दूर रहें, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके।

सन्दर्भ :

व्यास, हशिचन्द्र : *हम और हमारी शिक्षा* – पंचशील प्रकाशन–जयपुर, 2001

व्यास, हशिचन्द्र : *शिक्षा की संस्कृति* – श्याम प्रकाशन–जयपुर, 2004

डा0 शर्मा, सरोज : *उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा* – श्याम प्रकाशन जयपुर, 2003

अग्रवाल जे0 सी0 : *राष्ट्रीय शिक्षा नीति* – प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2003

डा0 पाण्डेय, राम शकल : (सम्पादक) *नई शिक्षा नीति* – विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा–2 (1997)

अब्दुल कलाम, ए.पी.जे. वाइ, सुन्दर, राजन : *भारत 2020* – राजपाल एण्ड सन्स , कश्मीरी गेट, दिल्ली (2002)

अध्याय - पंचम

(अ) वैदिककालीन शिक्षण-विधियाँ

(ब) बौद्धकालीन शिक्षण-विधियाँ

(स) नव ब्राह्मणकालीन शिक्षण-विधियाँ

(द) राष्ट्रीय शिक्षा नीति : शिक्षण विज्ञान

(य) विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरित शिक्षण-विधियाँ

(अ) वैदिककालीन शिक्षण-विधियाँ :

शिक्षण विधियों से तात्पर्य छात्रों के मस्तिष्क को बाह्य सामग्री से अनुकूलन करना होता है। ये दृश्य अथवा मौखिक प्राविधियाँ होती है। इनके प्रयोग से विषय वस्तु विद्यार्थियों के लिये ग्राह्य, आकर्षक एवं रूचिपूर्ण हो जाती है। शिक्षण—संस्थाओं में विभिन्न आयु—वर्ग एवं क्षमताओं वाले शिक्षार्थी ज्ञानार्जन करते हैं। अतएव तदनुसार ही इनके विभिन्न स्वरूपों का प्रयोग किया जाता है।

वर्तमान समय में शिक्षण—प्रक्रिया को सफल बनाने हेतु मनोवैज्ञानिक विधियों के अपनाये जाने पर विशेष बल दिया गया है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के प्रयोगों एवं अनुसन्धानों के परिणाम स्वरूप विभिन्न स्तर के छात्रों के लिये अनेकानेक बाल—सुलभ शिक्षण—विधियाँ प्रकाश में आई हैं तथा इनका प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया जा रहा है। **प्रो0 सी0 पी0 हिल, के0 डी0 घोष तथा एम0 पी0 मोफाट आदि विद्वानों का मत है कि** रूचिपूर्ण शिक्षण—विधियों को अपनाये जाने से ज्ञानार्जन—प्रक्रिया सफल होती है।

वैदिक युगीन भारत में भी पाठ्यक्रम में सन्निहित विषयों के सफल शिक्षण के हेतु अनेक मौखिक विधियों एवं उनके विभिन्न स्वरूपों का प्रयोग किया जाता था। दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तथ्यों को स्पष्ट करने के लिये यदा—कदा प्रायोगिक विधियाँ भी अपनाई जाती थीं। तत्कालीन शैक्षिक परिवेश के लिये पूर्णतया उपर्युक्त थीं। छात्र इन्हीं सशक्त विधियों के माध्यम से विशाल वैदिक ज्ञान—राशि का अपने मस्तिष्क में भण्डारण करते हुए भावी सन्तति को इसका हस्तान्तरण अनवरत् करते रहते थे। प्राचीन शिक्षा में अपनाई जाने वाली प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित थीं—

मौलिक पाठ्यक्रम विधि :

वर्तमान शिक्षा—व्यवस्था के अन्तर्गत विधियों में विविधता होते हुये भी इस विधि का यदा—कदा करना आवश्यक एवं अनिवार्य हो जाता है। वैदिककालीन शिक्षा में इस पद्धति का प्रयोग वैदिक पाठ्यवस्तु के शिक्षण हेतु किया जाता था। इस विधि का व्यवहरण करते समय आचार्य प्रस्तुत पाठ्यवस्तु को निश्चित इकाइयों में विभक्त कर देता था। तदनन्तर अक्षर अथवा संयुक्ताक्षर का ध्वन्यात्मक नियमों के अनुसार उच्चारण करना था। पाठ्यवस्तु का स्वर्णद नियमों के आधार पर वाचन न

करने पर अनिष्ठ होने की सम्भावना रहती थी।[1] छात्र पाठ्यवस्तु का सर्वप्रथम वैयक्तिक रूप से तत्पश्चात् सामूहिक रूप से आचार्य के आदर्श वचन का अनुकरण करते हुये आरोह, अवरोह तथा लय के साथ पाठ्यवस्तु का उच्चारण करके आवृत्ति एवं पुनरावृत्ति करते थे।

शिक्षण–अवधि में पाठ्य–वस्तु के कठिन स्थलों को स्पष्ट करने के लिये आचार्य पदच्छेद, अन्वय, सन्धि–विग्रह तथा समास–विग्रह आदि अनेक व्याकरण सम्बन्धी युक्तियों को अपनाता था।[2] कक्षा में उपस्थित सम्पूर्ण छात्रों द्वारा निर्धारित पाठ्य–वस्तु का भली–भाँति कंठस्थीकरण कर लेने के उपरान्त ही अध्यापक दैनिक शिक्षण कार्य के समाप्ति की घोषणा करता था।

संभवतः शिक्षण–कार्य के प्रारम्भ अथवा अन्त में छात्रों को विषय–वस्तु से सम्बन्धित सामान्य तथ्यों की जानकारी दे देता था। यह बात वेदव्यास की शिक्षण–पद्धति से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने वेशाम्पायन, सुमन्त, पेल तथा जैमिनी आदि अपने चार शिष्यों को वेदो का शिक्षण करने के पूर्व पाठ्यवस्तु के सामान्य तथ्यों से उन्हें भिज्ञ करा दिया था।[3]

व्याख्या विधि :

पाठ्यवस्तु के शिक्षण के उपरान्त उसके स्पष्टीकरण हेतु व्याख्या–विधि का प्रयोग किया जाता था। प्रारम्भिक काल में इसके अर्न्तगत विधि[4] और अर्थवाद[5] का व्यवहरण किया जाता था। विधि में अध्यापक याज्ञिक क्रियाओं के सम्पादनार्थ पाठ्यवस्तु में वर्णित निर्देशों के अक्षरशः क्रियान्वयन का प्रदर्शन करता था। अर्थवाद में विधि–प्रक्रिया को स्पष्ट किया जाता था। कालान्तर में अन्य विषयों एवं विज्ञानों के विकास के साथ ही व्याख्या का महत्व बहुत अधिक हो गया। उगना संहिता[6] के अनुसार वेदों के विधिवत् आत्मीकरण हेतु उनका वाचन तथा विवेचन अत्यावश्यक है। दक्ष संहिता[7] के मत में वेदानुरक्ति, विवेचन, स्वाध्याय, वाचन तथा शिक्षण आदि वेदाध्ययन के पाँच प्रमुख उदाहरण हैं।

---

1. पणिनि सूत्र .5 .5 मन्तहीनः स्वरतौ वर्णातो वा मिथ्या प्रयुक्ता न तमर्थमाह।
   स बाग्वजो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।
2. के0 एस0 वकील – एजूकेशन इन इण्डिया, पृष्ठ 19–20.
3. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 126.
4. ताण्डय ब्रा0 .6.7.
5. वही0 6.8.5
6. अशना सं0 श्लोक .81.82
7. दक्ष सं0 2.27.

कालान्तर में वैदिक पाठ्य–वस्तु के पूर्ण, अभिज्ञान हेतु दर्शन–शास्त्र के अभ्युदय हो जाने के कारण पद, वाक्य तथा प्रमाण आदि तीन व्याख्या के चरण प्रकाश में आये। छात्रों को पद का अवबोधन कराने के लिये व्याकरण सम्बन्धी टिप्पणियाँ दी जाती थीं। वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये तर्कसंगत प्रमाण प्रस्तुत किये जाते थे। इस विधि से पाठ्य–वस्तु में मर्मज्ञ व्यक्ति को "पद वाक्य प्रमाण" की संज्ञा प्रदान की जाती थी।[8]

कंठस्थीकरण विधि :

तत्कालीन शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत पाठ्य–पुस्तकों अथवा हस्तलिपियों का प्रचलन न होने के कारण पाठ्यवस्तु का कंठस्थीकरण अनिवार्य एवं अपरिहार्य था। वैदिककालीन शिक्षाशास्त्रीयों ने विषय–सामग्री के स्मरणीकरण को सरल एवं रोचक बनाने के लिये संहिता पाठ[9], पद पाठ[10], क्रम पाठ[11], जदा पाठ[12], शिक्षा पाठ[13] तथा धन पाठ[14] आदि अनेक यान्त्रिक युक्तियों की संरचना की।

मन्त्रों का प्रकृत उपलब्ध पाठ संहिता पाठ कहलाता है। संहिता पाठ के प्रत्येक पद का विच्छेद कर देने पर वद पाठ संहिता पाठ कहलाता है। संहिता पाठ के प्रत्येक पद का विच्छेद कर देने पर पद पाठ नाम धारण कर लेता है। पद तो वही रहते है परन्तु स्वरों में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। क्रम से दो पदों का पाठक्रम पाठ कहलाता है। अनुलोम तथा विलोम से जहाँ क्रम तीन बार पढ़ा जाता है उसे जदा पाठ कहते है। जदा पाठ में जब पृथक पद जोड़ दिया जाता है तभी इसका नाम शिक्षा हो जाता है। धन पाठ में पदों की आवृत्ति अनुलोम तथा विलोम क्रम से अनेक बार होती है।

संबोध विधि :

वर्तमान शिक्षाशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि छात्रों को विभिन्न विषयक प्रत्यय–निर्माण में प्रशिक्षित करना आवश्यक है इससे उनमें निर्णय,

---

8. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम ऑफ ऐन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 127.
9. संहिता पाठ – औषधयः संवदन्ते सोमेन सह राजा।
10. पद पाठ – औषध्यः[1], सं[2], वदन्ते[3], सोमेन[4], सह[5], राज्ञा[6],
11. क्रम पाठ – औषध्यः[1], सं[2], सं[2], वदन्ते[3], वदन्ते[3], सोमेन[4], सोमेन[4], सह[5], सह[5], राज्ञा[6],
12. जय पाठ – औषधये सं[2], समोषधय[2], औषध[1] यस् सम[2]।
    सं[2], वदन्ते[3], वदन्ते[3], सं[2], सं[2], वदन्ते[3],
13. शिखा पाठ – औषधेयः सं[2], समोषधय[2], औषध[1], सं[2], वदन्ते[3]।
    सं वदन्ते, वदन्ते, सं, सं, वदन्ते, – सोमेन।।
14. धन पाठ – औषधयः सं, समोषधय, औषधः, सं, वदन्ते;
    सोमेन वदन्ते, सं, सं, वदन्ते, सोमेन।।

कल्पना तथा तर्क आदि मानसिक शक्तियों का विकास होता है। वे प्रत्येक तथ्य अथवा वस्तु को आलोचनात्मक ढंग से परखने एवं समझने में समर्थ हो जाते हैं। प्राचीन शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्म–प्राप्ति से सम्बन्धित था। इसका अवलोकन श्रवण मननादि आदि मानसिक अभ्यासों द्वारा ही सम्भव था। बृहदारण्यक उपनिषद के सन्दर्भानुसार याज्ञवल्क्य ने श्रवण–मनन–निदिध्यासन की प्रक्रिया द्वारा आत्मन् की प्राप्ति का उपदेश अपनी पत्नी मैत्रीयी को दिया।[15]

श्रवण से मन्तव्य गुरू के वचनों को एकाग्र भाव से सुनकर उसके अर्थ को आत्मसात् करना था। श्रवण में उपाकर्म, अभ्यास, अपूखात पल, अर्थवाद तथा उत्पत्ति आदि छह प्रक्रियायें सन्निहित हैं। उपकर्म श्रवण पूर्णिमा के दिन सम्पन्न होता था। यह दिन नवीन शिक्षा–सत्र के प्रारम्भ का प्रतीक था। अभ्यास से तात्पर्य अध्ययन की गयी पाठ्यवस्तु के आवृत्ति तथा पुनरावृत्ति से था। अपूरवात से भाव अर्थ ग्रहण से था। फल–परिणामों के आत्मीकरण का द्योतक था। अर्थवाद पाठ्य–वस्तु के व्याख्यात्मक पहलू से सम्बन्धित था। उत्पत्ति निष्कर्ष की प्राप्ति का सूचक था। श्रवण के इन छह स्वरों के सन्तरण के उपरान्त छात्र पाठ्य–वस्तु को भली–भाँति आत्मसात् कर सकते थे।

मनन सोपान पर श्रवण स्तर की आत्मसात् की गयी सामग्री के विभिन्न पहलुओं पर शिष्य निरन्तर चिन्तन करता था। तदनन्तर निदिध्यासन सोपान पर मनन स्तर पर अनुभव किये गये प्रत्ययों पर वह एकाग्र भाव से विचार करता हुआ सत्य का अवबोधन करता था।

विचार विमर्श विधि :

इस विधि का प्रयोग दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषयों के गूढ़ तथ्यों को स्पष्ट करने हेतु किया जाता था। मुण्डक उपनिषद के अनुसार राजा प्रवहन जेवलि की राज–सभा में सिलवसल्वत्य, चैकितायन दलभ्य तथा प्रवहन जेवलि आदि ने पारस्परिक रूप से उदगीध पर विचार विमर्श करके राजा से उपदेश ग्रहण कर किया।[16] छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार रेक्व ने राजा जनश्रुति पौत्रायन से विचार–विमर्श करके उनसे ब्राह्म विषयक उपदेश ग्रहण किया।[17] इसी ग्रन्थ के एक अन्य सन्दर्भानुसार

---

15. बृह0 उप0 आत्मा व अरे द्रष्टव्यो मन्तव्यों निदिध्यास्तिव्यां मैत्रेय्यात्मिनि सत्चरे दृष्ट, श्रुते मते विज्ञात इति सर्व विदितम।
16. मुण्ड0 उप0 1.2.12. तदिवनार्थ व
17. छान्दो0 उप0 .1.8.

श्वेतकेतु अपने पिता सहित राजा प्रवहन जेवलि से विचार—विमर्श करके आध्यात्मिक उपदेश ग्रहण किया।[18] इसी ग्रन्थ के एक प्रसंगानुसार पाँच गृहस्थों तथा धर्मवेत्ताओं ने उद्दालक आरूणि सहित अश्वपति कैकेय से विचार—विमर्श करके उनसे आत्मन् विषयक ज्ञान प्राप्त किया।[19] ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी के साथ विचार—विमर्श करके उन्हें ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान प्रदान किया।[20] राजा जनक आध्यात्मिक विषयों पर विचार—विमर्श हेतु विद्वानों को अपनी राज—सभा में आमंत्रित करते थे।[21] इस प्रकार ब्रह्म विद्या के मर्मज्ञ राज—सभा अथवा निश्चित स्थान पर एकत्रित होकर विचार—विमर्श के द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करते थे।

प्रश्नोत्तर तालिका विधि :

इस विधि के अन्तर्गत शिष्य द्वारा ब्रह्म विषयक सम्बन्धी श्रृंखलाबद्ध प्रश्न उठाये जाते थे तथा आचार्य उनके सन्तोषजनक उत्तर देकर उनकी आध्यापिका ज्ञान—पिपासा को शान्त करता था। इस विधि के प्रयोग से छात्रों की पाठ्यवस्तु सम्बन्धी शंकाओं का समाधान हो जाता था तथा विषय—वस्तु उन्हें पूर्णतया स्पष्ट हो जाती थी। प्रश्नोपिनिषद के अनुसार पिप्पलद ऋषि ने सुकेश, सत्यकाम, कौसल्य, भार्गव तथा कवन्धी आदि अपने पाँच शिष्यों के ब्रह्म विषयक श्रृंखलाबद्ध प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देकर उनकी पिपासा को शान्त किया।[22] उसके उपनिषद के एक सन्दर्भानुसार शरीर के विविध अंगों के सूत्रधार के सम्बन्ध में क्रमिक प्रश्न पूछे जाने पर ब्रह्मनिष्ठ ऋषि ने उनका सन्तोषजनक उत्तर दिया।[23]

निर्देशन विधि :

वैदिक शिक्षान्तर्गत विचार—विमर्श, वाद—विवाद तथा वार्तालाप आदि विधियों को स्पष्ट एवं ग्राहण बनाने के लिये आचार्यों ने कथा, कल्प, आख्या, विकासों तथा अन्य उदाहरणों का भी प्रयोग किया। कठोपनिषद के एक कथा—प्रसंगों के अनुसार नचिकेता ने यम से सत् सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया।[24] केशोपनिषद के सन्दर्भानुसार ब्रह्म ने आख्यायिका के माध्यम से देवताओं को ब्रह्म ज्ञान प्रदान किया।[25]

---

18. वही .4.2—3.
19. वही .5.3.
20. वही .5.2.
21. बृह0 उप0 .2—4.4.5
22. वही0 .4.
23. प्रश्नोपनिषद .1.1. तथा 3.2.
24. केनोपनिषद .1.
25. उप0 1.1.4.

प्रश्नोपनिषद के कथा–प्रसंग के द्वारा जीवधारियों के मूलतत्व प्राण की विवेचना की गयी।[26] इसी प्रकार शुष्क, अमूर्त तथा कठिन स्थलों के स्पष्टीकरण हेतु उपनिषदों में अनेक मूर्त एवं ग्राह्य उदाहरणों का प्रयोग किया गया।

अन्वेषण विधि :

इस विधि के अन्तर्गत विद्यार्थी को स्वतः चिन्तन एवं मनन द्वारा आत्मन का साक्षात्कार करना पड़ता था। अध्यापक मात्र पथ–प्रदर्शन का कार्य करता था। इस पद्धति का प्रयोग करते समय शिक्षो पाठ्यवस्तु के सम्बन्ध में विद्यार्थियों को सामान्य जानकारी प्रदान करके उन्हें उसके हल हेतु उत्प्रेरित करता था।[27] तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार वरूण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म के सम्बन्ध में सामान्य निर्देश प्रदान करने के पश्चात उसके स्वरूप को स्वतः जानने के लिये उसे प्रेरित किया।

वह प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रयासों में क्रमशः अन्न, मन, बुद्धि तथा प्राण के रूप में ब्रह्म को जानने के उपरान्त पंचम परात्न में ही ब्रह्म के वास्तविक रूप से भिज्ञ हो सका।

आगमन विधि :

वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था में इस विधि का विशेष स्थान है। इसका प्रयोग मुख्यतया विज्ञान, व्याकरण तथा ज्यामिति आदि के शिक्षण हेतु किया जाता है। प्राचीन शिक्षण व्यवस्था में ब्रह्म विषयक लक्ष्यों के अभिज्ञान हेतु इस विधि का प्रयोग किया जाता था। छान्दोग्य उपनिषद के प्रसंगानुसार श्वेतकेतु के पिता ने उसे बताया कि मस्तिष्क एवं उसकी शक्तियाँ अपने कार्यों के लिये शरीर पर निर्भर करती है। इस सामान्य सत्य के परीक्षक हेतु उन्होंने अपने पुत्र से एक निश्चित अवधि तक व्रत करने के उपरान्त वेदाध्ययन के लिये आदेश दिया। उसे अनुभव हुआ कि वेद उसके मस्तिष्क से विलीन हो गये। तदनन्तर एक निश्चित अवधि तक भोजन ग्रहण करके वेदोच्चारण के लिये उन्होंने उससे कहा ऐसा करने पर उसे अनुभव हुआ कि ज्ञान का अभ्युदय उसके मस्तिष्क में होने लगा। इस प्रकार वह स्वयं प्रयोग करके सत्य का अनुभव कर सका। इस विधि का प्रयोग करते समय छात्र "अंश से पूर्ण की ओर", "पूर्ण से अंश की ओर" तथा "करके सीखो" आदि सूत्रों प्रयोग करता था।

---

26. केनोपनिषद .3 और .5

27. प्रश्नोपनिषद .2.1.

परावर्तन विधि :

वर्तमान शिक्षण–व्यवस्था में इस विधि का प्रयोग मुख्यता इतिहास–अध्यापन हेतु किया जाता है। इसके द्वारा शिक्षक विद्यमान समस्या के क्रमिक कारणों का प्रत्यावर्तन करता हुआ इसके उद्‌गम स्थल पर पहुँचता है। इससे छात्रों को समस्या के क्रमिक कारणों का ज्ञान हो जाता है। प्राचीन शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत ब्रह्म विषयक समस्याओं के हल हेतु इस विधि का प्रयोग किया जाता था। छान्दोग्य उपनिषद के एक सन्दर्भानुसार उदगीथ का मूल स्रोत जानने के लिये क्रमिक परावर्तन किया गया। इसी ग्रन्थ के अनुसार सभी जीवधारियों का तत्व पृथ्वी, पृथ्वी का जल, जल का पौधा : पौधे का मनुष्य, मनुष्य की वाणी का ऋग्वेद, ऋग्वेद का सामवेद तथा सामवेद का तत्व उदगीथ है।[28] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य से जनक द्वारा मनुष्य की ज्योतिष का आधार पूछे जाने पर यह क्रमिक प्रत्यावर्तनों के आधार पर मानव ज्योति के आधार पर ले गये उन्हीं के अनुसार ''मानव ज्योति का आधार सूर्य, सूर्य की ज्योति का आधार चन्द्रमा, चन्द्रमा की ज्योति का आधार अग्नि तथा अग्नि की ज्योति का आधार आत्मन है।''

रहस्यात्मक विधि :

इस विधि के प्रयोग से शुष्क एवं नीरस दार्शनिक विषय ग्राह्य एवं रोचक हो जाते थे। इसके द्वारा विरोधार्थी को संश्लेषण की ओर संकेत करते हुये अमूर्त विचारों को स्पष्ट किया जाता था। ईशावास्योपनिषद में विद्या–अविद्या : सम्भूति–असम्भूति आदि विरोधार्थक युग्मों द्वारा अमूर्त तथ्यों को स्पष्ट किया गया है।[29]

सूत्र विधि :

तत्कालीन शिक्षा–व्यवस्था में इस विधि का भी प्रयोग किया जाता था। इस पद्धति के प्रयोग का सर्वाधिक लाभ यह था कि इसके द्वारा विचार–सामग्री को संक्षिप्त करके लघु तथा सारगर्भित वाक्यों में प्रस्तुत किया जाता था तथा आचार्यों

---

28. तैत्ति0 उप0 .11.9. — जन्न ब्रह्म इति व्यजानात। प्राणं ब्रह्मं गति व्यजानाद् मनो ब्रह्मइति व्यजानात् मेघा ब्रह्म इति व्यजानात्। आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्।

29. छान्दो0 उप0 .1.1.2.

को इसके स्पष्टीकरण में पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता था।[30] माण्डुक उपनिषद में इस प्रकार के वाक्यों का बाहुल्य है।

व्युत्पत्ति विधि :

प्राचीन शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत इस विधि का प्रयोग आध्यात्मिक रहस्यों को स्पष्ट करने के लिये किया जाता था।

छान्दोग्य उपनिषद में आत्मन् अभिज्ञान के लिये ''स्वमपितु भवति'' (स्व में लीन) होता है। उद्दालक अरूणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को निद्रा (रूप्न) की वास्तविक प्रकृति बताते हुये कहा है कि निद्रावस्था में मनुष्य सत्र अथवा रूप में निमज्जित रहता है। सर्वसाधारण लोग इसे निद्रा (स्वपिति) करते हैं।[31]

साम्य विधि :

इस विधि के माध्यम से प्रतीकों के द्वारा उन गूढ़ तथ्यों को स्पष्ट किया जाता है जिनका स्पष्टीकरण तर्क–शक्ति से सम्भव नहीं था। याज्ञवल्क्य ने आत्मन् की व्याख्या करने के लिये शंख आदि विभिन्न वाद्यों की साम्यता का प्रयोग किया। अरूणि ने इसके लिये शहद के निर्माण क्षदक पुष्प–रसों की साम्यता प्रस्तुत की। एक अन्य स्थान पर इसके लिये समुद्र में विभिन्न सरिताओं के विलयन की साम्यता का व्यवहरण किया गया।[32]

संश्लेषण विधि :

इस विधि के माध्यम से विपरीतार्थक विचारों की अभिव्यक्ति की जाती थी। वाह्य एवं आन्तरिक क्षेत्रों में किसी प्रकार का प्रथकत्व नहीं किया जाता था। वाह्य रूप से हृदय जीवधारियों का केन्द्र बिन्दु माना जाता था। प्राण भी शरीर धारियों का

---

30. ईश0 उप0 .11.12. विद्यां चा विद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रतः।

31. आर0 डी0 – एक कन्स्ट्रविन्टव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी (वर्ष) पृष्ठ

32. छान्दो0 उप0 6.81. उद्दाका हारूणि श्वेतकेतु पुलमुवाच स्वप्रान्तं में सौम्य। विजानीहित यत्रैतत्पुरूषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा सम्पत्रो भवति स्वमपीतो भवति स्वपितीव्याच्क्षतग स्व हूव्यपीत भवति।

मूल तत्व था। सूर्य भी सौर्यमण्डल में केन्द्रीय स्थान ग्रहण किये हुए था। इस प्रकार तत्कालीन आचार्यों के लिये हृदय प्राण तथा सूर्य आन्तरिक रूप से एक समान थे।[33] तत्कालीन मनीषियों ने इनके अध्ययन के लिये धर विद्या, उदगीय विद्या तथा मधु विद्या का प्रतिपादन किया। धर विद्या के द्वारा हृदय की गहराई के आंकलन का प्रयास किया जाता था। उदगीथ विद्या, प्राण के समवेतलय को उत्पन्न करने का प्रयास करती थी तथा मधु विद्या ने सूर्य किरणों के माध्यम से अमर–लत्य के मार्ग का अन्वेषण किया। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार अश्वपति कैकेय ने छः विद्यार्थियों द्वारा सौर्यमण्डल के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट किया।[34] इसी प्रकार ऋषि पिम्पलय ने छह मनो आधिमोतिक प्रश्नों के उत्तर दिये।[35] याज्ञवल्क्य ने जनक द्वारा पूछे गये छह अधिमोतिक प्रश्नों का समुचित हल प्रस्तुत किया।[36]

स्वगत कथन विधि :

इस विधि के अन्तर्गत आचार्यगण छात्रों के प्रश्नों का उत्तर देने के उपरान्त भी अत्यधिक अभिव्यंजना करते थे तथा स्वगत कथन में लीन हो जाते थे। वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार उद्दानक अरूणि ने याज्ञवल्क्य से लोक–परलोक तथा जीवधारियों के आवद्धन सूत्र के विषय में ज्ञान प्रदान करने हेतु याचना किया।[37] उन्होंने लोक–परलोक तथा जीवधारियों का आबद्ध करने वाले वायु रूपी सूत्र के विषय में बताते हुये इसके पृष्ठ में विद्यमान सूत्रधार के विषय में भी व्याख्या की। इसका विवेचन करते समय पर्याप्त गहराई में चले गये।[38] उन्होंने जनक से आत्मन् पर वार्तालाप करते हुये पुनः प्रचुर अभिव्यक्ति किया।[39] इसी प्रकार यम सम्भाषण–अवधि में दार्शनिक स्वगत कथनों में ही स्व विचारों को व्यक्त करते थे। वह सदैव मौलिक प्रश्नों की सीमाओं का उल्लंघन कर जाते थे।

---

33. आर0 डी0 रनाडे – ए कन्सट्रविटव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी (वर्ष 1926) पृष्ठ 35
34. प्रश्न0 उप0 .4.8. आदित्यो हा वे वाह्य प्राणः
35. छान्दो0 उप0 .5.2.1–5.
36. प्रश्न0 उप0 .1.1.2.
37. बृह0 उप0 4.3.1.
38. बृह0 उप0 .3.7.1.
39. वही0 .3.7.3. से 7.23 तक

प्रयोग विधि :

वैदिक युगीन शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत "सत्" आदि गूढ़ दार्शनिक विषयों का विवेचन करने के लिये प्रायोगिक विधि प्रयोग का किया जाता था।

उपनिषदों के अनुसार आरूणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को "सत्" का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान करने के लिये वट–फल को लाकर उसके विखण्डन हेतु आदेश दिया। उसके पिता की आज्ञा का पालन करते हुये फल को खण्ड–खण्ड कर दी। इस क्रिया के परिणामस्वरूप असंख्य बीज–कण पृथ्वी पर बिखर गये। पिता ने पुनः उसमें उससे एक बीज कण को विभाजित करके अन्दर देखने के लिये आज्ञा दिया। उसे इसके अन्दर कुछ भी दिखार्द नहीं दिया। अस्तु पिता ने उपदेश देते हुये कहा कि अदृश्य में ही दृश्य व्याप्त है। वह सर्व–साधारण की दृष्टि से परे है। वह अत्यन्त सूक्ष्म तत्व होने के स्थूल की सामर्थ्य के बाहर है। इसी प्रकार उन्होंने जल में लवण का विलयन करके अदृश्य मूल तत्व सत् की सर्वव्यापकता का उपदेश दिया।[40]

प्रयोजन विधि :

प्राचीन भारतीय शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत ज्ञान की अधिकांश शाखायें याज्ञिक योजनाओं का प्रतिफल थीं। छात्रों को इन योजनाओं पर कार्य करना पड़ता था। उन्हें यज्ञ के सम्पादनार्थ वेदियों के निर्माण के सामग्री संग्रह, मापन–प्रमापन, प्रस्तर–कर्तन, चित्रांकन तथा गणन आदि अनेक स्थानीय क्रिया–कलापों को करना पड़ता था। क्षत्रिय शिष्यों को युद्ध सम्बन्धी व्यावहारिक योजनाओं पर कार्य करना अनिवार्य था तथा वैश्यों को औद्योगिक कलाओं से सम्बन्धी योजनाओं पर कार्य करने हेतु उत्प्रेरित किया जाता था।[41]

योग एवं सन्यास विधि :

वैदिक शिक्षा–व्यवस्था प्रमुखता ब्रह्म–साक्षात्कार से सम्बन्धित थी। इसके लिये तत्कालीन आचार्यों ने योग एवं वैराग्य आदि विधियों का अनुमोदन किया।

---

40. वही 4.3–4

41. श्री वियोगी हरि – हमारी परम्परा, पृष्ठ 184.

योग के अन्तर्गत छात्र अपनी चित्त तथा वृत्तियों का विग्रह करके ब्रह्म के साक्षात्कार हेतु मस्तिष्क को केन्द्रित करता था।[42] वैराग्य में वह सांसारिक विषय–वासनाओं तथा माया–मोह से विरक्त होकर ब्रह्म का ध्यान करता था।[43]

नायक विधि :

प्राचीन समय में शिक्षा–प्रक्रियान्तर्गत निरीक्षण कार्य को प्रभावपूर्ण बनाने के लिये मेधावी छात्रों का सहयोग प्राप्त किया जाता था। इससे कार्य–क्षमता का विकास होता था तथा विद्यालय का व्यय कम हो जाता था। बेल तथा लंकास्टर की नायक–व्यवस्था प्राचीन भारतीयों की शिक्षा–प्रणाली पर आधारित थी।

सामान्यतया प्रतिभाशाली छात्र स्व गुरूजनों के निरीक्षण में निम्न कक्षा में छात्रों को उनके अध्ययन–कार्य में उनका मार्ग–दर्शन करते थे। आपस्तम्ब की व्यवस्थानुसार इन मेधावी छात्रों का सम्मान गुरूजनों की भाँति ही किया जाना चाहिये।[44]

(i) उक्त शिक्षण विधियों के मनोवैज्ञानिक आधार :

प्राचीन भारत में मुद्रित और हस्तलिखित पुस्तकों के सुलभ न होने के कारण शिक्षण–प्रणाली प्रधानतः मौखिक थी। तत्कालीन शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत इस पद्धति का प्रयोग किये जाने के अन्य तर्क सम्भव कारण भी थे। पुरातन हिन्दु विश्वास के अनुसार ऋषियों के अन्तः प्रेरणा के द्वारा वैदिक ऋचाओं का अवबोध किया अतः दैनिक जीवन में यज्ञादि का सम्पादनार्थ उनका उपर्युक्त ज्ञान उन्हीं के मुख से सम्भव था। वैदिक मन्त्रों के विशुद्ध उच्चारण के लिये प्रातिशाख्य में विविध स्वर–नियम सन्निहित है।[45] वर्तमान समय में कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने मौखिक शिक्षण–विधि का अनुमोदन किया है। एक फ्रांसीसी विद्वान के अनुसार पाठ्य–पुस्तकों के द्वारा शिक्षण–कार्य नहीं करना चाहिये तथा वार्तालाप आदि के द्वारा ही विद्यार्थियों की मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहिये। पेस्टालॉजी और फ्रोबेल ने भी मौखिक

---

42. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 135.
43. पंतजलि योगशास्त्र : योगश्चित्त वृत्ति निरोध : ।।2।।
44. वही – दृष्टानु – श्रविक विषय वितृषणस्थ वशीकार संज्ञा। पेराम्यम।। 5।।
45. आर0 ध0 सू0 .2.7.28.। तथा समाविष्टे व्यध्यापर्यात। वृद्धतरे सब्रह्मचारिरण आचार्य–वद् वृत्तिः।

विधि द्वारा शिक्षण प्रदान किये जाने पर बल दिया है। लॉक ने अपनी शिक्षण–पद्धति में पुस्तक से ज्ञान प्रदान किये जाने का अन्तिम स्थान दिया है तथा रूसो ने सम्पूर्ण शिक्षा–स्तरों की शिक्षण पद्धति पुस्तकों के बहिष्करण का परामर्श दिया है।

मौखिक पाठ्यवस्तु विधि के अन्तर्गत वैयक्तिक भेदों पर पर्याप्त बल दिया जाता था। इसीलिये आचार्य विशेष की कथा में शिष्यों की संख्या अत्याधिक नहीं होती थी। वह कक्षा में व्यक्तिशः छात्र के आधार पर शिक्षण–कार्य करता था। शिक्षक पाठ्यवस्तु की प्रकृति के अनुसार ही एक अथवा दो शब्दों का उच्चारण करता था। तदनन्तर छात्र से उसकी आवृत्ति करवाता था। जब तक विद्यार्थी उन्हें भली–भाँति समझकर उच्चारण नहीं कर लेता था तब तक आवर्तन और पुनरावर्तन की प्रक्रिया चलती रहती थी। तत्पश्चात् उस शिष्य को अवकाश प्रदान करके अन्य शिक्षार्थी को शिक्षण प्रदान करता था। इस प्रकार से अध्यापन करने पर प्रत्येक छात्र की वैयक्तिक कठिनाइयों का निराकरण हो जाता था और उसे अपनी गति से अध्ययन करने का सुअवसर मिलता था। यदि शिष्य मेधावी होता था तो वह अपनी शिक्षा शीघ्र ही समाप्त कर लेता था। मन्द छात्रों की मेधावी विद्यार्थियों के साथ शीघ्रता नहीं करनी पड़ती थी। इस प्रकार छात्रों के व्यक्तिगत भेदों की समस्या वैदिक शिक्षण–प्रणालियों द्वारा हल हो जाती थी।

मौखिक शिक्षण–प्रणालियों में कंठस्थीकरण का भी बहुत अधिक महत्व था। यह कंठस्थीकरण सतत् आवर्तन द्वारा सम्भव होता था। इसमें केवल स्मृति के विकास का ही प्रयत्न नहीं किया जाता था वरन् अन्य मानसिक शक्तियों का भी प्रशिक्षण होता था। स्मरण करने के साथ–साथ प्रेरणा विचार–विमर्श तथा प्रश्नादि पूछने की क्रिया भी चलती रहती थी। जब तक वह उसको कंठस्थ नहीं करता था। पाठ्य सामग्री में दृष्टान्त, उपमायें तथा अन्यान्य गूढ़ तत्व सन्निहित रहते थे तथा विश्लेषण और व्याख्या के अभाव में उन्हें नहीं समझा जा सकता था। अतएव कंठस्थीकरण के साथ अन्य मानसिक शक्तियाँ भी उन्नत हो जाती थीं।

कंठस्थीकरण पर बल दिये जाने के कारण यह आवश्यक था कि पाठ्य–सामग्री रूचिपूर्ण और ग्राह्य हो। इसीलिये तत्कालीन समय में उसे पद्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता था। इसमें लय और तुकान्त होने के कारण विषय–वस्तु मनोरम हो जाती थी तथा कंठस्थीकरण में सुगमता हो जाती थी। संहिता पाठ–जयपाठ तथा धनपाठ आदि इसी निमित्त अविष्कृत किये गये थे। कालान्तर में कंठस्थीकरण

की सुविधा के लिये विषय–सामग्री सूत्र वाक्यों में प्रस्तुत की गयी। इन सूत्रों में गागर में सागर भरने का प्रयास होता था। ये लघु आकार में होने के कारण संख्या में याद रखे जा सकते थे।

संबोध–विधि के माध्यम से प्रत्यय–निर्माण कराया जाता था। श्रवण–मनन–निदि–ध्यान आदि इसके तीन चरण होते थे। सर्वप्रथम छात्र नये प्रत्यय के सम्बन्ध में शिक्षक से श्रवण कराता था। प्रत्यय के स्पष्ट हो जाने के उपरान्त वह उस पर निदिध्यासन अथवा मन को केन्द्रित करता था इस प्रकार वह प्रत्यय के अर्थ–आकार को आत्मसात् कर लेता था। ऐसी प्रत्यय निर्माण की विधि आजकल कहीं सुनने में नहीं आती।

वैदिक युगीन व्याख्या विधियाँ भी मनोविज्ञान सम्मत थी। पाठ्यवस्तु की प्रकृति के अनुसार ही इनका विकास शनैः शनैः हुआ। आदि वैदिक में विषय–वस्तु के स्पष्टीकरण हेतु विधि एवं अर्थवाद आदि प्रणालियाँ अपनाई जाती थी। कालान्तर में पाठ्य–सामग्री के दर्शनोन्मुखी हो जाने के कारण विधि और अर्थवाद के साथ विचार–विमर्श तथा प्रमाण आदि दो चरण और सम्बद्ध कर दिये गये। ये व्याख्या के चरण आन्तरिक रूप से पूर्णतया आबद्ध तथा तर्कसंगत थे। इन सोपानों के माध्यम से छात्रों को विषय–वस्तु का आद्योपान्त ज्ञान हो जाता था। पाठ्य–वस्तु के स्पष्टीकरण सम्बन्धी ये व्याख्या के चरण हरबार्ड तथा डीवी आदि द्वारा प्रतिपादित व्याख्या के सोपानों से पर्याप्त साम्य रखते हैं।[46]

वैदिक युग में यद्यपि आधुनिक काल की भाँति व्याख्यान विधि का प्रयोग नहीं किया जाता था परन्तु विषय–वस्तु को रोचक ग्राह्य तथा आकर्षक बनाने के लिये वार्तालाप, वाद–विवाद, साम्य विश्लेषण, प्रत्यावर्तन, कथा तथा प्रश्नोत्तर आदि विधियों का प्रयोग बहुत अधिक किया जाता था। इससे विद्यार्थी और अध्यापक दोनों ही इन्द्रिय रहते थे तथा शिक्षण–प्रक्रिया में गत्यात्मकता विद्यमान रखती थी। शिक्षण–कार्य द्विमुखी प्रक्रिया का रूप धारण किये रहती थी तथा कक्षा में बैठे हुये छात्र सतत् चैतन्य एवं जागरूक बने रहते थे। वैदिक काल में शिष्य की क्रियाशीलता पर भी बल दिया जाता था। इसके लिये, प्रयोग अन्वेषण आगमन तथा आदि योजना विधियाँ अपनाई जाती थी। आचार्यगण तत्कालीन समय में गूढ़ तत्वों को स्पष्ट करके

---

46. प्रातिसाख्य – अध्याय 15.

छात्रों की रचनात्मक शक्तियों अध्यापक, पाठ्यवस्तु अथवा प्रकरण के सम्बन्ध में छात्र को सामान्य निर्देश प्रदान कर देता था। तदनन्तर विद्यार्थी स्व प्रयासों के द्वारा प्रकरण सम्बन्धी ज्ञान का अर्जन करता था। इसके अन्तर्गत छात्र विभिन्न उदाहरणों का प्रयोग करके सामान्यीकरण की प्राप्ति करता था। यज्ञादि के सम्पादनार्थ शिष्यों को विशिष्ट योजना पर कार्य करना पड़ता था। इससे बालकों की रचनात्मक, कल्पनात्मक तथा मानसिक शक्तियों का विकास होता था।

वैदिक कालीन शिक्षा–संगठन के अन्तर्गत अध्ययन–अध्यापन के लिये नायक–विधि का भी प्रचलन था। इस प्रणाली में शिक्षक की अनुपस्थिति में शिष्ट एवं मेधावी शिष्य शिक्षण कार्य करते थे। यह विधि भी अत्यधिक लाभप्रद तथा बालोपयोगी थी। नायक–विधि अध्ययन–व्यवसाय के लिये मेधावी विद्यार्थियों को प्रशिक्षित करती थी तथा निर्भीक बनने एवं श्रेष्ठ व्यवहार करने के लिये उन्हें उत्प्रेरित करती थी यह पद्धति असंख्य छात्रों के मध्य नेतृत्व की क्षमता रखने वाले विद्यार्थियों का निश्चय करती थी यह प्रणाली जन–सेवा तथा आत्म–बलिदान के लिये शिक्षार्थियों को तैयार करती थी। इस प्रविधि के अन्तर्गत विद्यार्थियों द्वारा विद्यार्थियों को पढ़ाये जाने के कारण प्रजातान्त्रिक अनुशासन की स्थापना होती थी।

(ii) तक्षशिला विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियाँ :

तक्षशिला वर्तमान पाकिस्तान में मुजफ्फराबाद के उत्तर में सिन्धु तट के निकट स्थित है। यह प्राचीन भारत का सर्वाधिक प्रसिद्ध शिक्षा–केन्द्र था तथा विख्यात गन्धार प्राप्त का मुख्यालय था। इसका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। रामायण के सन्दर्भानुसार भरत ने अपने पुत्र तक्षक के नाम पर इसका नामकरण करके उसे जहाँ का शासक बना दिया।[47] महाभारत के अनुसार इसी स्थान पर जनमेजय–यज्ञ का सम्पादन हुआ था।[48] उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर सातवीं शताब्दी ई0 पू0 में यह शिक्षा का सुविख्यात केन्द्र बन गया था। सिकन्दर के आक्रमण के समय वह अपने दार्शनिकों के लिये अत्यधिक लोकप्रिय था। इसकी शैक्षणिक गतिविधियों के प्रमुख स्रोत जातक ग्रन्थ है।

---

47. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 128.

48. रामायण .7.101.–10–16.

प्राचीन समय में तक्षशिला बाह्य आक्रमणों की लीलास्थली रहा। छठवीं शताब्दी ई0 पू0 में पर्शिया ने, द्वितीय शताब्दी ई0 पू0 में बैक्ट्रिया ने, प्रथम ई0 पू0 में शकों ने, प्रथम शताब्दी ई0 में कुशाणों ने तथा पाँचवीं शताब्दी ई0 में हूणों ने इस पर आक्रमण करके अपनी सत्ता स्थापित की। इन विभिन्न विदेशी अभियानों का शैक्षणिक गतिविधियों पर हुये प्रभाव के सम्बन्ध में हमें जानकारी उपलब्ध नहीं होती। यह सम्भव है इन आक्रमणों से नगर की अर्थ–व्यवस्था प्रभावित हुयी ब्हो तथा प्रत्युत्तर में शिक्षा। इन सभी साम्राज्यवादियों द्वारा तक्षशिला को प्रान्तीय मुख्यालय बनाये जाने के कारण संभवतः युद्ध के दुष्परिणाम शीघ्र ही विनष्ट हो जाते होंगे।

तक्षशिला में कोई संगठित अथवा सुव्यवस्थित अथवा विश्वविद्यालय होने का उल्लेख नहीं मिलता। यह मात्र शिक्षा का केन्द्र था। यहाँ प्रसिद्ध विद्वान आचार्यों द्वारा शिक्षण करने के कारण उत्तरी भारत के विभिन्न भागों से असंख्य उच्च शिक्षा के लिये इनके पास आते थे। इन विद्यार्थियों में अधिकांश क्षत्रिय और ब्राह्मण शिष्य होते थे।[49] वैश्यों तथा उच्च कर्मचारियों के पुत्रों की संख्या बहुत कम होती थी।[50] चाण्डालों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध था।[51] यहाँ पर अध्यापन कार्य में संलग्न आचार्यगण आधुनिक शिक्षकों की भाँति संस्था विशेष के सदस्य नहीं होते थे तथा आधुनिक विश्वविद्यालयों की भाँति केन्द्रीय समितियों द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम का भी अनुशीलन नहीं करते थे। शिक्षण–गण वरिष्ठ शिष्यों की सहायता से अपने कार्य का सम्पादन करते थे। उपाध्याय स्वच्छन्दतानुसार ही विद्यार्थियों को प्रवेश प्रदान करते तथा उनकी इच्छानुसार विषयों का शिक्षण करते थे। विद्यार्थियों की वैयक्तिक परिस्थितियों के अनुसार ही उनकी अध्ययन–अवधि होती थी। उपाधि परीक्षायें नहीं होती थी अतएव इनके प्रदान करने का प्रश्न ही नहीं होता था।

तक्षशिला में वैयक्तिक शिक्षक के अन्तर्गत अध्ययनरत् छात्रों की संख्या के सम्बन्ध में निश्चित सन्दर्भ प्राप्त नहीं होते। जातकों में विश्व प्रसिद्ध आचार्य के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त कर रहे सामान्यतया पाँच सौ शिष्यों का उल्लेख मिलता है। इनके ये कथन अतिश्योक्ति पूर्ण प्रतीत हैं। निःसन्देह सुतलोम जातक के मात्र एक उद्धरण से आचार्य विशेष के निकट ज्ञान प्राप्त कर रहे शिक्षार्थियों की निश्चित संख्या

---

49. महाभारत .1.3.20.

50. जातक 1463.2.100.3.122.158.

51. जातक .2.99.4.38.237.5.226.

का बोध होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार तक्षशिला शिक्षा केन्द्र में अध्यापक विशेष के निर्देशन में देश के विभिन्न प्रान्तों के एक सौ तीन राजकुमार धनुर्वेद की शिक्षा प्रापत कर रहे थे। यह अध्यापक अपने शिक्षण–कार्य की सहायता के लिये अनेक सहायक शिक्षक रखता होगा। सामान्यतया उपाध्याय विशेष से ज्ञार्नाजन करने वाले शिष्यों की संख्या बीस से अधिक प्रतीत नहीं होती।

छठवी शताब्दी ई0 पू0 में तक्षशिला को कीर्ति शिक्षा के रूप में अपनी पराकाष्ठा पर थी। तत्कालीन समय में आवागमन के साधन कठिन और दुरूह थे। तथापि बनारस[52], राजगृह[53], मिथिला[54], उज्जैन[55], कुरू[56] तथा कौशल[57] आदि प्रान्तों के छात्र तक्षशिला में ज्ञार्नाजन हेतु आते थे। कौशन नरेश प्रसेनजित की शिक्षा–दीक्षा तक्षशिला में हुयी थी।[58] बिम्बसार के राजकीय चिकित्सक जीवक ने शल्य विज्ञान में यहीं से उपाधि प्राप्त की थी।[59] प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनी तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के आमात्य चाणक्य ने भी यहीं रहकर ज्ञार्नाजन किया था। इस शिक्षा केन्द्र में प्रवेश के लिये विद्यार्थियों की आयु सोलह वर्ष निर्धारित की गयी थी।[60] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह माध्यमिक और उच्च शिक्षा का केन्द्र था।

शिक्षण–अवधि में शिष्यगण सामान्यतया गुरू–गृह में ही निवास करते थे। सम्पन्न परिवारों के बालक कभी–कभी सत्र के आरम्भ में शिक्षण शुल्क के साथ ही भोजन तथा आवास व्यय आचार्य को समर्पित कर देते थे। बनारस के राजकुमार जुन्ह की तरह कतिपय ऐश्वर्यशाली शिक्षार्थी अपने आवास के लिये विशिष्ट गृहों की व्यवस्था करते थे।[61] अधिकाशतः निर्धन विद्यार्थी शुल्क नहीं दे सकते थे। अतएव दिन में वे गुरू–गृह में कार्य करते थे तथा रात्रि में उनके लिये विशेष कक्षाओं का आयोजन किया जाता था।

52. जातक .4.301–2.
53. जातक 1.262.285.409.
54. जातक .3.238.
55. जातक .4.316.
56. जातक .4.398.
57. जातक 3.115.
58. जातक .5.210.
59. महावाग, अध्याय– 8.
60. जातक नं0 4.98.
61. जातक 1.285.

तक्षशिला विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम बहुमुखी तथा व्यापक था। अध्यापन किये जाने वाले विषयों में तीन वेदों तथा अठारह शिल्पों का उल्लेख बहुधा प्राप्त होता है तथा भीमसेन जातक के सन्दर्भानुसार बोधिसत्व ने तीन वेदों अठारह शिल्पों का ज्ञान अल्प अवधि में प्राप्त कर लिया।[62] कौसिय जातक से हमें ज्ञात होता है कि ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण बोधिसत्वों ने तीन वेदों तथा अठारह शिल्पों का अध्ययन किया।[63] धुम्मेध जातक के अनुसार बोधिसत्वों ने सोलह वर्ष की आयु में तक्षशिला जाकर अठारह शिल्पों का आत्मसात् किया।[64] उस दिन जातक के विवरणानुसार बोधिसत्व ने तीन वेदों तथा अठारह शिल्पों की शिक्षा प्राप्त की।[65] अन्य जातकों से भी हमें ज्ञात होता है कि बोधिसत्व ने तीन वेदों तथा अठारह शिल्पों का दक्षता प्राप्त की।[66] तीन वेदों के बारम्बार उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि पाठ्यक्रम में अथर्ववेद को सम्मिलित नहीं किया गया था।

अठारह नियमों में धनुर्वेद एक प्रमुख विषय था। भीमसेन जातक से हमें ज्ञात होता है कि बोधिसत्व ने तक्षशिला में धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया।[67] असदिस जातक के अनुसार बोधिसत्व ने तक्षशिला शिक्षा–केन्द्र पर धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की तथा तदन्तर नृप विशेष के यहाँ धनुर्धारी के रूप में नियुक्ति प्राप्त की तथा राजा के आदेश पर इन्होंने धनुष वाण के द्वारा वृष के शिखर से आम फल को धरती पर गिरा दिया।[68] सरभंग नामक जातक के सन्दर्भानुसार बोधिसत्व ने तक्षशिला केन्द्र पर धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया तथा अपने देश के राजा के सम्मुख इस कला का प्रदर्शन किया।[69] इस शिक्षा–केन्द्र में सर्व–विद्या का भी शिक्षण प्रदान किया जाता था। कम्पेय्य जातक में आये हुए विवरण से हमें ज्ञात होता है कि युवा ब्राह्मण ने तक्षशिला अलम्बन मन्तम (सर्प विद्या) की शिक्षा पायी।[70]

---

62. जातक नं0 456
63. जातक .1.336.
64. जातक .1.463.
65. जातक .1.285.
66. जातक 2.87.
67. जातक .1.505. डा0 : 3.115.
68. जातक .1356.
69. जातक .2.87.
70. जातक .5.126.

बौद्ध–ग्रन्थों से ज्ञात होता है तक्षशिला विश्वविद्यालय में धार्मिक अनुष्ठानों की भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। सुसीम जातक के विवरणात्मक बोधिसत्व हटिक मंगल कारकों के पुत्र रूप में पैदा हुये। इस पुनीत अवसर पर राजा हट्ठि मंगल संस्कार का सम्पादन करवाना चाहते थे। उनके मन्त्रियों ने इस कार्य के लिये उनसे वशिष्ठ ब्राह्मणों में से पुरोहितों के चयन हेतु निवेदन किया। यह सुनते ही बोधिसत्व की माँ दुःखी हो गयी। माँ के दुःख से द्रवित होकर उन्होंने इस धार्मिक संस्कार की शिक्षा प्राप्त की।[71]

तक्षशिला शिक्षा केन्द्र में कतिपय अतेन्द्रिय विज्ञानों का शिक्षण भी प्रदान किया जाता था। बृहाचट्ट जातक से ज्ञात होता है कि कौशल नरेश के पुत्र ने तक्षशिला पर निधि उद्धारण मन्तम का ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर उसने अपने पिता की छुपी हुयी निधि का पता लगाया तथा इसके द्वारा सैन्य शक्ति का वर्ध करके अपने पिता के खोये हुये राज्य को पुनः प्राप्त किया।[72] मृतकों को जीवन–दान प्रदान करने, पशुओं की ध्वनियों को आत्मसात् करने बुद्धिसम्मत वस्तुओं को नियन्त्रित करने, भविष्यवाणी की कला में पारंगत होने तथा शरीर अंगों के लक्षणों से शुभ–अशुभ का बोधन करने के लिये अनेक शिष्य तक्षशिला पर सम्मोहन तथा आचार–संहिता विद्या का ज्ञान करते थे।[73]

तक्षशिला विश्वविद्यालय में विधि का भी शिक्षण प्रदान किया जाता था। रामायण के अनुसार तक्षशिला केन्द्र में व्यवहार (विधि) विशिष्ट अध्ययन के रूप में मान्य था।[74] चित्त समभूति जातक से भी यह तथ्य पूर्णता स्पष्ट हो जाता है। इसके अनुसार दो चाण्डाल बालक ब्राह्मण शिष्यों के भेष में उज्जैन से विधि के अध्ययन हेतु तक्षशिला विश्वविद्यालय में आये।[75] तक्षशिला वस्तुतः आयुर्वेद के लिये अधिक विख्यात था।[76] बिम्बसार के राजचिकित्सक जीवक[77] ने तक्षशिला केन्द्र पर ही आचार्य अत्रेय[78] के निर्देशन में चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। आयुर्वेद के अध्ययन

---

71. जातक .4.456.
72. जातक 2.47.
73. जातक .3.115.116.
74. जातक .2.100:1 1.510:3. 122.4.465:200
75. रामायण, उत्तरकाण्ड .101.11.
76. जातक नं0 498.4.391.
77. जातक .4.171.1
78. महावग्ग (ओन्डेन वर्ग द्वारा सम्पादित विमय पिटक) .8.3.

में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पाठ्यक्रम सम्मिलित थे। सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम में छात्रों को चिकित्सा और शल्य से सम्बन्धित पाठ्य–वस्तु का अध्ययन करना पड़ता था तथा व्यवहारिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत उन्हें औषधीय मूल्यों को जानने के लिये पौधों का प्रत्यक्ष निरीक्षण करना पड़ता था।[79]

तक्षशिला विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम में सन्निहित विषयों के अनुसार ही शिक्षण–विधियाँ अपनाई जाती थीं। अनेकानेक प्रयुक्त की गयी विधियों में मौखिक पाठ्यवस्तु विधि, विचार–विमर्श विधि, प्रयोग विधि तथा परिभ्रमण विधि सर्वाधिक लोकप्रिय थी। मौखिक पाठ्यवस्तु विधि के अन्तर्गत उपाध्याय रूचिपूर्ण ढ़ंग से विषय–वस्तु का शिक्षण करता था। शिष्यगण गुरू द्वारा प्रदान किये गये ज्ञान को कंठस्थ तथा वार्तालाप, श्रवण–श्रावण एवं विचार–विमर्श के माध्यम से इसकी पुष्टि करते थे। तक्षशिला–शिक्षा–केन्द्र अपने दार्शनिकों के लिये विख्यात था। देश–देशान्तर के शिष्य एवं शिक्षार्थी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर इनके साथ विचार–विमर्श करके उनका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करते थे। प्रयोग विधि का व्यवहरण कला एवं विज्ञान दोनों ही प्रकार के विषयों के लिये किया जाता था। औषधि शास्त्र आदि वैज्ञानिक विषयों का प्रायोगिक प्रशिक्षण अध्यापक के निर्देशन में प्रदान किया जाता था तथा कला एवं साहित्यिक विषयों का व्यवहारिक प्रशिक्षण विद्यार्थी स्वतः वास्तविक परिस्थितियों में प्राप्त करने के लिये देश के विभिन्न जनपदों की यात्रायें करते थे।

अतः प्रस्तुत अध्याय में शोधकर्त्ता ने कुल[79] सन्दर्भों को प्रस्तुत किया है, जो यथासम्भव शोधकर्त्ता को विभिन्न पुस्तकालयों से प्राप्त हो सके हैं।

---

79. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .313.

(ब) बौद्धकालीन शिक्षण-विधियाँ :

प्राचीन काल में वैदिक युगीन भारत की भाँति बौद्ध कालीन शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत भी मौखिक शिक्षण–विधियों एवं उनके विभिन्न स्वरूपों को परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ अपनाया गया। विषय–वस्तु के अनुसार ही आवश्यकतानुसार इनका व्यवहरण किया जाता था। कतिपय दार्शनिक एवं समाजोपयोगी विषयों के लिये उपलब्ध साधनो के अनुसार प्रायोगिक विधियों का उपयोग भी यथार्थ वातावरण में किया जाता था।

अतः वैदिककालीन शिक्षा–संगठन की तरह इस युग में भी उपाध्याय के समीप विद्यार्थियों के रहने के कारण वह उनकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं से विधिवत् भिज्ञ हो जाता था तथा तदनुसार ही मौखिक एवं प्रायोगिक पद्धतियों का प्रयोग करता था। इससे पाठ्यवस्तु भिक्षुओं के लिये ग्राह्य, आकर्षक एवं रूचिपूर्ण हो जाती थी।

तत्कालीन समय में पाठ्यक्रम में सन्निहित विषयों के प्रकृति के अनुसार ही पृथक पृथक विधियाँ अपनाई जाती थी। यद्यपि तत्कालीन आचार्यों एवं उपाध्यायों ने वर्तमान समय की भाँति प्रशिक्षण विद्यालयों में विधियों से सम्बन्धी प्रशिक्षण नहीं प्राप्त किया था। तथापि उन्होंने अपने अनुभवों के आधार पर विभिन्न आयु–वर्ग के बालक एवं बालिकाओं की मनोदशाओं का सूक्ष्म अध्ययन करने के उपरान्त ही शिक्षण युक्तियों का सृजन किया था। ये विधियाँ इतनी सशक्त एवं सार्थक थी कि शिक्षकों को इसके माध्यम से सफल शिक्षण करने एवं कला–अनुशासन स्थापित करने में किंचित मात्र भी कठिनाई नहीं होती थी। तत्कालीन समय में अपनाई जाने वाली विधियाँ एवं प्रविधियाँ निम्नलिखित है, जिनका विवरण उपयुक्तता के अनुसार शोधकर्त्ता ने निम्न रूप में किया है :–

मौखिक पाठ्यवस्तु विधि :

वैदिक काल की भाँति इस युग में भी पाठ्यवस्तु का शिक्षण विभिन्न मौखिक पद्धतियों के आधार पर प्रदान किया जाता था। प्राचीन आचार्यों की भाँति भगवान बुद्ध ने भी अपनी शिक्षाओं को लिपिबद्ध नहीं किया। उन्होंने भावी सन्ताति को इसका

हस्तान्तरण मौखिक आधार पर ही किया।[80] परन्तु वैदिक युग की भाँति इस काल में मौखिक पाठ्यवस्तु के अध्ययन–अध्ययनान्तर्गत ध्वन्यात्मक नियमों का कोई महत्त्व नहीं था। उपाध्यायगण धार्मिक एवं लौकिक विषयों का शिक्षण करते समय विषय–वस्तु को छात्रों के लिये सुलभ बनाने हेतु प्रायः सभी उपलब्ध मौखिक उपकरणों का प्रयोग करते थे। पाठ्यवस्तु के कठिन स्थलों की विस्तृत व्याख्या करते थे। शिक्षण अवधि में विद्यार्थियों के मस्तिष्क में उठी हुयी समस्याओं का समाधान करते थे। इस प्रकार छात्रों द्वारा पाठ्यवस्तु का विधिवत् आत्मीकरण कर लेने पर ही अध्यापक आगे बढ़ता था। दूसरे शब्दों में शोधकर्त्ता कह सकता है कि बौद्ध युग में भी 'टयूटोरियल' शिक्षण पद्धति का भी प्रयोग पाठ्यवस्तु की विधि के अन्तर्गत किया जाता है।

कंठस्थीकरण विधि :

आचार्य द्वारा पाठ्यवस्तु कर दिये जाने पर शिष्यगण आवृत्ति और पुनरावृत्ति के द्वारा इसका कंठस्थीकरण करते थे। तदनन्तर छात्र श्रवण–श्रावण, विचार–विमर्श तथा वातावरण एवं वार्तालाप आदि के द्वारा भी छुपी विषय–सामग्री की पुष्टि करते थे।[81] वैदिक युग की तरह इस समय कंठस्थीकरण के लिये निश्चित उपकरण नहीं थे तथापि विद्यार्थियों के स्मरणीकरण के विकास के लिये कतिपय प्रविधियाँ अवश्य विद्यमान रही होगी। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार इन प्रविधियों का दस दिन तक अभ्यास कर लेने के उपरान्त शिष्य फब्बारा के समान अपने विचारों को ऊपर उठता हुआ अनुभव करता था तथा श्रवण किये हुये किसी तथ्य को तत्क्षण ही कंठस्थ कर सकता था। उसके अनुसार यह मात्र कल्पना नहीं थी। वह स्वयं व्यक्तिगत रूप से ऐसे व्यक्तियों से मिल–जुल चुका था।[82] इत्सिंग के इन अनुभवों से ज्ञात होता है कि बौद्धकाल में कंठस्थीकरण द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की प्रथा थी तथा शिष्यों को इसके लिये कुछ सुविधायें भी उपलब्ध थी।

---

80. एस० के० दास – एजूकेशन सिस्टम आफ ऐन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .175.

81. महावग्ग .415.4.

82. वककस अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ 182–183.

परन्तु कंठस्थीकरण के लिये कंठस्थीकरण पर्याप्त नहीं था। पाठ्यवस्तु के अन्तर्निहित तथ्यों पर मनन करना भी अत्यावश्यक था। **इत्सिंग** बौद्धकालीन ज्ञानार्जन–प्रक्रिया की विवेचना करते हुये कहता है कि विद्यार्थी कंठस्थ किये हुये धर्मग्रन्थों के अंश विशेष को पुनः अध्ययन करके उस पर चिन्तन करता था। परिणामस्वरूप वह नित्य प्रति नवीन ज्ञान प्राप्त करता था तथा अनवरत् प्राचीन विषयों को मनन करता था।[83] इस प्रकार श्रुत, चिन्ता तथा भावना आदि मानसिक विकास के लिये प्रमुख चरण थे।[84] **मिलिन्द प्रश्न** के अनुसार स्मरण की हुयी पाठ्य–सामग्री पर चिन्तन तथा प्रश्नादि करना अनिवार्य था।[85]

विचार विमर्श विधि :

प्रस्तुत शोध कार्य से स्पष्ट होता है कि बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत उच्च कक्षाओं में विचार–विमर्श तथा वाद–विवाद का अत्याधिक महत्व था। नालन्दा विश्वविद्यालय की शिक्षा–पद्धति का विवेचन करते हुये **युवान–चुवांग** स्पष्ट करता है कि विद्यार्थी बन्धु मानसिक क्षमता के परीक्षण के लिये व्यर्थ के तथ्यों के तिरस्करण करने के लिये तथा बुद्धि का उन्नयन करने के लिये स्थान विशेष पर एकत्रित होकर विचार–विमर्श करते थे।[86] पुनः अपना मत व्यक्त करते हुये स्पष्ट करता है कि विल्दान बन्धु प्रातः काल से लेकर रात्रि तक विचार–विमर्श में व्यस्त रहते थे। वृद्ध तथा युवा वाद–विवाद में एक–दूसरे की सहायता करते थे, जो व्यक्ति त्रिपिटक के प्रश्नों पर विचार विमर्श नहीं कर सकते थे उन्हें सम्मान नहीं प्राप्त था। वे लोग लज्जा के कारण इधर–उधर छिप जाते थे। विचार–विमर्श में ख्याति की इच्छा रखने वाले विभिन्न नगरों के विद्वान यहाँ अपनी शंकाओं का निराकरण करते थे। तदनन्तर उनकी बुद्धि का प्रवाह सर्व व्याप्त हो जाता था।[87]

---

83. वककुस अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 117.
84. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ ऐन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .178.
85. मिलिन्द प्रश्न .4.1.8.
86. वाटर्स – युवान–चुवांग, पृष्ठ .162.
87. बील–बुद्धिस्ट रिकार्डस आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, ग्रन्थ 2, पृष्ठ 170.

इस प्रकार **युवान–चुवांग** ने विचार–विमर्श सम्बन्धी वास्तविक घटनाओं का भी लेखबद्ध किया है। घटना विशेष का वर्णन करते हुये वह कहता है कि संघ में एक बार **सिहं रश्मि** नामक विद्वान प्रतिकूल सिद्धान्तों का विवेचन कर रहा था अतएव आचार्य **शीलभद्र** ने इनके खण्डन हेतु उसको योगशास्त्र के कतिपय स्थलों को प्रतिपादित करने के लिये आदेश दिया। **युवान–चुवांग** से पराजित होने के उपरान्त **सिंह रश्मि** गया स्थित बोधि मे रहने के लिये चला गया तथा **युवान–चुवांग** को वाद–विवाद में पराजित करने के लिये वहाँ से पूर्वीय भारत के निवासी अपने मित्र **चन्द्र सिंह** को नालन्दा लाया। **युवान–चुवांग** ने उसको भी पराजित किया।[88] इस प्रकार प्रतिस्पर्धा की भावना भी इस युग में देखने को मिलती है।

अध्ययन करने पर इत्सिंग के यात्रा–विवरणों से भी ज्ञात होता है कि बौद्ध शिक्षा–संगठन में विचार–विमर्श की अत्यधिक प्रमुखता थी। उसके अनुसार अपने आचार्यों द्वारा निर्देशन प्राप्त कर लेने पर छात्र–गण मध्य भारत में स्थित नालन्दा–बिहार तथा पश्चिमी भारत में स्थित वलभ–बिहार में कतिपय वर्ष व्यतीत करते थे। इन स्थानों में अत्याधिक संख्या में प्रसिद्ध विद्वान एकत्रित होते थे तथा दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार–विमर्श करते थे। इन विशेषताओं से अध्ययनरत छात्रों के विचारों की पुष्टि होती थी तथा उनकी प्रतिभा की ख्याति सर्वत्र फैल जाती थी। तदनन्तर वे अपनी बुद्धि के परीक्षणार्थ राज–सभाओं में जाते थे तथा यहाँ वे अपनी योजनाओं के माध्यम से राजनैतिक चातुर्य का परिचय देते हुये उच्च पदों में नियुक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते थे। वाद–विवाद सभा में अपनी अद्‌भुत कुशलता का प्रदर्शन तथा विरोधियों के सिद्धान्तों का खण्डन किये जाने के कारण उनकी अर्जित ख्याति की ध्वनि से पाँचों पर्वत कम्पायमान हो जाते थे तथा उनकी प्रसिद्धी चारों दिशाओं में प्रवाहित होती थी।[89]

प्रश्नोत्तर विधि :

इस विधि को आदिकाल से प्रचलित माना गया है। शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत प्रश्नोत्तर विधि द्वारा ज्ञान प्रदान किये जाने का सामान्य प्रचलन था। **दिग्ध निकाय**

---

88. बील लाइफ आफ युवान–चुवांग, पृष्ठ 157–58.

89. तककुलु का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 176.

में सन्निहित युद्ध के वार्तालापों तथा मिलिन्द प्रश्न में संरक्षित नाग सेन और राजा मिलिन्द के वाद–विवादों से इस विधि की पुष्टि हो जाती है।[90] महामंगल सूत्र में उचित अवसरों पर श्रमणें के साथ धार्मिक वार्तालाप के लिये अनुमोदन किया गया है।[91] पर्याप्त समय पश्चात् हिन्दु ग्रन्थों में इन वार्तालापों को वाद–संवाद, जल्प, विण्डावद तथा प्राकार्यवाद आदि की संज्ञा प्रदान की गयी।[92] इन वार्तालापों से विद्यार्थियों को विषय वस्तु पूर्ण तथा स्पष्ट हो जाती थी तथा उनकी प्रच्छन्न त्रुटियाँ प्रकाश में आ जाती थी एवं अध्यापकों को शिष्यों की जिज्ञासाओं को वांछित पथ पर निर्देशित एवं अग्रसर करने में सुविधा होती थी। गुरू तथा शिष्यों में दोनों को ज्ञान देने तथा ज्ञान ग्रहण करने की स्वतन्त्रता थी।

प्रश्न-प्रतिप्रश्न विधि :

बुद्ध युग में बुद्ध के शिक्षण एवं वाद–विवाद की सर्वाधिक विशेषता यह थी कि वह वार्तालाप के उपक्रम में प्रतिपक्षी को प्रथम अवसर प्रदान करके उसकी स्थिति का मूल्यांकन करने का प्रयास करते थे। इस प्रकार अन्य धर्मावलम्बी कुछ से प्रश्न पूछता था तथा प्रत्युत्तर में वह उससे प्रति प्रश्न करते थे। बौद्ध ग्रन्थों के सन्दर्भानुसार सम्प्रदाय विशेष का अनुयायी **निग्रोध** नामक व्यक्ति बुद्ध को एकान्त में रहने की आदत के कारण उन्हें धर्म–विशेषज्ञ नहीं मानता था। अपने इस विचार की सत्यता की पुष्टि के हेतु उसने युद्व से अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करने के लिये अनुरोध किया। उसके इस कथन का उत्तर देते हुये बुद्ध ने निग्रोध से कहा कि उनकी शिक्षाओं और सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्ति के हेतु उनके दर्शन का अवबोधन करना अत्यन्त कठिन है। तदनन्तर उन्होंने निग्रोध से ही उसके मत के सम्बन्ध में उनसे प्रश्नादि पूँछने के लिये आग्रह किया। इस प्रकार बुद्ध ने उसके सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये अपने मत को स्थापित किया।[93]

---

90. दिग्ध निकाय, सामज्ज फल्लसूत्त – बुद्ध तथा अजात शत्रु पृष्ठ 13–101 : दिग्ध निकाय बुद्ध तथा अम्बत्थ, अध्याय 1.10–28 तथा अध्याय 2.1–12 ; मिलिन्द प्रश्न – नागसेन तथा राजा मिलिन्दा .4.7.69:4.7.70,7.5.41.
91. एस0 बी0 ई0 10 पृष्ठ 43.
92. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .175.
93. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .176–77.

योजना विधि :

बौद्ध व्यवस्थान्तर्गत शिक्षण–कार्य के लिये यदा–कदा योजना–विधि भी अपनाई जाती थी। पाली ग्रन्थों के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने इस विधि का प्रयोग ब्राह्मण **बरद्वाज** के सन्दर्भ में किया। बरद्वाज कृषक था तथा अपनी जीविका के लिये खेतों को जोतता तथा बोता था। अस्तु भगवान बुद्ध ने प्रयोजनीय सम्बन्धी आख्यान उसके सम्मुख प्रस्तुत करके उसे बौद्ध धर्म में परिवर्तित किया। बुद्ध ने उपदेश देते हुये उससे कहा कि बीज विश्वास है तथा आत्मसमर्पण वर्षा है विनम्रता हल–दण्ड है तथा मस्तिष्क जुआँ–बन्धन है। चैतन्यता हल अंकुश है तथा सत्य बन्धन–साधन है। कोमलता बन्धन–मुक्ति है और ऊर्जा वृषभ–युग्म है।[94] अतः उस समय विषयवस्तु को योजनाबद्ध करके शिक्षण–कार्य प्रचलित था।

व्याख्यान विधि :

बौद्ध काल में नालन्दा विश्वविद्यालय की शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत व्याख्यान विधि के माध्यम से शिक्षण प्रदान किये जाने का प्रचलन था। यहाँ प्रतिदिन सामान्यतया रात में भाषणों का प्रबन्ध किया जाता था। छात्रगण इनमें भाग लेते हुये एकाग्र भाव से इनका श्रवण करते थे।[95] इन व्याख्यानों में भाग लेने वाले वक्ताओं को विश्वविद्यालय में बहुत अधिक सम्मान प्राप्त था। उन्हें व्याख्यान आदि देने के कारण संघ के दैनिक कार्यों से मुक्त रखा जाता था। विश्वविद्यालय से बाहर जाने की स्थिति में वे सेदन–पीठिकाओं में तो बैठ सकते थे परन्तु अश्वपीठ में नहीं।[96] इस काल में व्याख्यान का अपना विशिष्ट स्थान था।

प्रनुशिक्षण (अनुशीलन) विधि :

व्याख्यान–विधि के अन्तर्गत नालन्दा विश्वविद्यालय में 'ट्यूटोरियल' विधि द्वारा भी शिक्षण प्रदान किया जाता था। शिक्षा को गतिशील बनाये रखने के लिये इस उच्च शिक्षा केन्द्र में उपाध्यायों एवं शिष्यों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित रखता

---

94. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .176.

95. बल लाइफ आफ युवान–चुवांग, पृष्ठ 112.

96. तककुसु कृत इत्सिंग, पृष्ठ 64.

था। **इत्सिंग** के यात्रा–विवरणानुसार वह स्वयं आचार्यों के इतने घनिष्ठ सम्पर्क में था उसने इन महानुभावों से महत्वपूर्ण निर्देश प्राप्त किये।[97] कालान्तर में विश्वविद्यालय नालन्दा के संस्मरणो का पुनः स्मरण करता हुआ यह अनुभव करता है कि नालन्दा में आचार्यो के समीप में रहने के कारण वह सदैव प्रसन्न रहा तथा यदि उसे इस प्रकार का सुअवसर न मिलता तो वह इतना अधिक ज्ञानार्जन न कर पाता।[98] अतः गुरू शिष्य की समीपता इस काल में अनोखी शिक्षा की जननी थी।

बालकेन्द्रित विधि :

बौद्ध काल में भगवान बुद्ध अपनी शिक्षाओं को शिष्यों और श्रोताओं के अनुसार ही समायोजित कर लेते थे। बौद्ध ग्रन्थों को उद्धरित करते हुये वाटर्स ने भी कहा है कि बुद्ध अनुवादियों एवं शिक्षार्थियों की मानसिक क्षमताओं को ध्यान में रखते हुये ही शिक्षा का संचालन करते थे। माप–दण्ड के निम्न स्तर के छात्रों को आख्यानों, रोचक उद्धरणों, सरल आचारों एवं व्यवहारों के द्वारा सरल सत्यों का बोध कराया जाता था तथा माप–दण्ड के ऊपर आने वाले विद्यार्थियों को आत्मानुशासन तथा आत्मसंयम के माध्यम से उच्च सत्य का अभिज्ञान कराया जाता था।[99] इस समय के शिक्षण में शिष्य प्रधान बिन्दु होता था।

निदर्शन विधि :

पाली ग्रन्थों में संरक्षित बुद्ध की शिक्षाओं से ज्ञात होता है कि कभी–कभी सिद्धान्तों को प्रतिपादन करते समय बीच–बीच में निर्देशनों का व्यवहरण किया जाता था। बुद्ध मानव तथा प्रकृति जीवन के सूक्ष्मदर्शी होने के कारण इन्हीं से सम्बन्धित उपमाओं, कथानकों तथा आख्यानों का उपयोग करते थे। यदा–कदा वह उपमाओं आदि से अनायास ही आख्यानों एवं कल्पनाओं में सन्तरण कर जाते थे।

---

97. तककुसु अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ 184.

98. वही0 पृष्ठ 185.

99. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ ऐन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ .176.

अशोक ने भी **धम्म** आदि के शिक्षण के लिये मूर्त–दृश्य उदाहरण प्रयुक्त किया था।[100]

निर्देशन विधि :

प्रस्तुत समस्या के शोध अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि **अश्वघोष कालीन** कृतियों से नैतिक निर्देशन सम्बन्धी बौद्ध शिक्षा–पद्धति पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। **सूत्रालंकार** में वर्णित बौद्ध शिक्षा निर्देशन से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम शिष्यों के सम्मुख नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया जाता था। तदनन्तर क्रमशः रोचक आख्यान आवश्यकतानुसार द्वितीय नैतिक आदर्श और अन्त में निष्कर्ष स्थापित किया जाता था इसी ग्रन्थ की बीसवीं तथा तितालिसवीं कथाओं से ज्ञात होता है कि छात्रों में नैतिक शिक्षा के विकास के लिये शिक्षण कार्य के अन्त में संवेगात्मक क्रियाओं तथा अभिनयात्मक प्रभावों को भी प्रोत्साहित किया जाता था।[101] अवदान कक्षायें भी निश्चित योजना के आधार पर क्रमबद्ध की गयी हैं इनका प्रारम्भ और अन्त सूत्रालंकार में वर्णित कक्षाओं की भाँति होता है तथा इनमें भी नैतिक शिक्षा सन्निहित रहती है। इस प्रकार इस समय में नैतिक शिक्षा का महत्व था।

प्रकृति अध्ययन विधि :

प्रस्तुत अध्ययन में बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत स्वस्थ जिज्ञासा निरीक्षण तथा कौतुहल आदि में छात्रों का विकास करने के लिये प्रकृति–अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। जातक विशिष्ट के सन्दर्भानुसार वाराणसी के प्रसिद्ध शिक्षा–शास्त्री के अन्तर्गत पाँच सौ ब्राह्मण विद्यार्थी ज्ञानार्जन करते थे। इनमें से जो छात्र विशेष अपने मस्तिष्क में त्रुटिपूर्ण धारणायें रखता तथा सदैव मिथ्या भाषण करता था। वह भी अन्य शिष्यों के साथ ही धर्म शास्त्रों का अध्ययन करता था। परन्तु मूर्ख बुद्धि होने के कारण उनका आत्मीकरण नहीं कर पाता था। शिक्षक इस सर्वाधिक जड़ बुद्धि बालक को धर्म–ग्रन्थों का ज्ञान प्रदान करने के लिये अनवरत् समुचित शिक्षण–विधियों के सम्बन्ध में विचार करता रहता था। छात्र ईंधनादि के एकत्रीकारण हेतु नित्यप्रति जंगल जाता था। अतएव आचार्य ने उसके वन से प्रत्यावर्तन करने के उपरान्त उसके द्वारा वहाँ निरीक्षित एवं किये गये कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्नादि करने

---

100. बील – दि लाइफ आफ युवान–चुवांग, पृष्ठ 112.

101. वही० पृष्ठ 106.

का संकल्प किया। उपध्याय का विचार था कि इससे विद्यार्थी की तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक शक्तियों का विकास होगा। आचार्य द्वारा इस प्रक्रिया को अपनाये जाने के कारण छात्र की आलोचनात्मक शक्तियों का उन्नयन हुआ और इस प्रकार शिक्षक उसे निर्देशन प्रदान करने में सफल हुआ।[102]

प्रयोग विधि :

बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत कला एवं विज्ञान विषयों में सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करने के साथ ही इसमें प्रायोगिक प्रशिक्षण प्रदान करने की भी व्यवस्था प्रदान की गयी थी। आयुर्वेद आदि कतिपय वैज्ञानिक विषयों में प्रायोगिक अध्यापक के निर्देशन में सम्पन्न होता था। बौद्ध ग्रन्थों के सन्दर्भानुसार शिक्षार्थियों को औषधि उपयोगिता की वनस्पतियों के अवबोधन हेतु विद्यालय के परिवार में उत्पन्न सभी पौधों का अध्ययन करना पड़ता था।[103] शल्य–क्रिया के विधिवत सम्पादनार्थ तथा औषधि आदि के निर्माणार्थ उन्हें विभिन्न उपकरणों के प्रयोग का अभ्यास कराया जाता था।[104]

साहित्य आदि कुछ कला सम्बन्धी विषयों में भी प्रायोगिक पाठ्यक्रम के अनुशीलन की व्यवस्था थी। विद्यालय में विद्याध्ययन की अवधि के समाप्त हो जाने के उपरान्त छात्र स्वतः देश के विभिन्न प्रान्तों एवं जनपदों में भ्रमण करके इनमें व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। जातक विशेष के सन्दर्भानुसार उत्तरी भारत के ब्राह्मण शिष्य ने तक्षशिला में धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् इसमें व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु सुदूर आन्ध्र प्रदेश गया।[105] मगध राजकुमार ने तक्षशिला की सभी कलाओं में पारंगत होने के उपरान्त इनसे सम्बन्धित वास्तविक प्रयोगों एवं स्थानीय परम्पराओं को जानने के लिये निरन्तर ग्रामों और नगरों का भ्रमण करता रहा।[106] तक्षशिला के एक अन्य शिष्य **सेतकेतु** ने भी प्रायोगिक के ज्ञानार्जन हेतु इसी प्रकार देश के विभिन्न भागों की यात्रायें की थीं।[107] मगध के अन्य राजकुमार

102. जातक नं0 123
103. आर0 के0 मुखर्जी – ऐन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन 487.
104. जातक .5.313.
105. जातक .1.356.
106. जातक .3.238.
107. जातक .3.235.

ने तक्षशिला के सभी विज्ञानों में विशिष्टीकरण प्राप्त करने के उपरान्त इनसे सम्बन्धित व्यावहारिक प्रयोगों एवं स्थानीय परम्पराओं को आत्मसात् करने के लिये तत्क्षण ही विश्वविद्यालय छोड़ दिया।[108] पाण्डुभ्राताओं ने तक्षशिला में निर्देशन प्राप्त करने के उपरान्त व्यावहारिक प्रयोगों का आत्मीकरण करने की दृष्टि से विस्तृत यात्रायें की।[109] व्यवसायियों के दो पुत्रों ने भी तक्षशिला में विद्या प्राप्त करने के पश्चात् स्थानीय परम्पराओं के ज्ञानार्जन के लिये एक साथ भ्रमण किया।[110] इसी प्रकार बनारस के एक शिष्य ने तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त व्यापक यात्रायें की।[111] कौशल के राजकुमार ने तक्षशिला में तीन वेदों तथा अठारह शिल्पों का प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरान्त इनके व्यावहारिक प्रयोगों के उपर्जानार्थ विस्तृत भ्रमण किया था।[112]

परिभ्रमण विधि :

बौद्धकाल में कला आदि विषयों में प्रायोगिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये विद्यार्थियों को परिभ्रमण करना पड़ता था। कालान्तर में ये पर्यटन बौद्ध–कालीन शिक्षा का अंग बन गये तथा उन्हें शिक्षण–विधियों के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा। इन यात्राओं में सैद्धान्तिक ज्ञान प्रयोगोन्मुख बन जाता था तथा देश विभिन्न भागों में प्रचलित परम्पराओं एवं प्रथाओं के सम्पर्क में आ जाने के कारण छात्रों के अनुभवों का विस्तार होता था एवं विभिन्न मानवीय क्रिया–कलापों में उन्हें गहन अर्न्तदृष्टि प्राप्त होती थी। ये सभी अनुभव भावी जीवन–यापन करने में उनके लिये सहायक सिद्ध होते थे। इन पर्यटनों से सुखद जीवन में चले हुये सम्पन्न परिवारों के विद्यार्थी भी परोक्षतः लाभान्वित होते थे। यात्रा अवधि में विभिन्न जलवायु वाले प्रान्तों एवं जनपदों में आवागमन के कारण उनका शरीर सुगठित होता था तथा विभिन्न परिस्थितियों में रहने की क्षमता का उनमें विकास होता था। इन यात्राओं से समायोजन एवं सामंजस्य करने की आदत का भी निर्माण होता था।[113] अतः यह विधि अत्याधिक समाजोपयोगी थी।

108. जातक .5.247.
109. जातक .5.426.
110. जातक .4.38.
111. जातक .4.208.
112. जातक .3.115.
113. जातक नं0 .252.

क्रिया-अभ्यास विधि :

सामान्यतः शिल्प (कौशल) आदि के सिखाने हेतु प्रायः इस विधि का प्रयोग किया जाता था। निर्देशनार्थ – कताई, बुनाई, सिलाई, मापन–प्रमापन, गणना तथा चित्रांकन आदि में सर्वप्रथम उपाध्याय स्वयं उन क्रियाओं को प्रदर्शित करता था और छात्र ध्यानपूर्वक उनका अवलोकन करते थे। पर्याप्त अवलोकन के उपरान्त उन्हें अनुकरण करने के लिये उत्प्रेरित किया जाता था। इसमें छात्र स्वयं उन क्रियाओं का यथावत् करते थे। अध्यापक शिष्यों की त्रुटियों को सुधारता था तथा इनसे सम्बन्धित सिद्धान्तों की व्याख्या करता था। इसमें सिद्धान्तों पर बल दिये जाने की अपेक्षा क्रिया–अभ्यास द्वारा शिल्प–कौशल प्राप्त करने पर अधिक बल दिया जाता था। कौशल में पारंगत हो जाने पर ही सिद्धान्तों की व्याख्या समीचीन समझी जाती थी।

वर्गीकरण विधि :

वर्तमान समय की आधुनिक शिक्षण–संस्थाओं में वैयक्तिक आधार पर छात्रों को वर्गीकृत करके शिक्षण प्रदान किये जाने पर बल दिया जाता है। वर्तमान शिक्षा–शास्त्रियों का विचार है कि इस प्रक्रिया के अपनाये जाने से अध्ययन प्रक्रिया सरल हो जाती है तथा विद्यार्थी पाठ्यक्रम को भली–भाँति समझ लेते थे। बौद्ध शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत भी भिक्षु–शिष्यों को उनकी शैक्षिक प्रगति के अनुसार ही विभिन्न कक्षाओं में उन्हें वर्गीकृत किया जाता था। सुत्तन्त की आवृत्ति करने वाले छात्रों की निम्नतम कक्षा होती थी। श्रवण–श्रावण विधि के द्वारा इसमें दक्षता प्राप्त करने का परामर्श दिया गया है। विनय का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को द्वितीय उच्चतर शिक्षा होती थी। विचार–विमर्श के माध्यम से इसमें पारंगत होने की अनुशंसा की जाती थी। धम्म में दीक्षा प्राप्त करने वाले शिष्यों को उच्चतम शिक्षा क्या होती थी। वार्तालाप विधि के द्वारा इसमें कुशल होने का परामर्श दिया गया था।[114] अन्तिम कोटि अथवा वर्ग के विद्यार्थियों को चतुर्ज्ञानों का मनन अथवा अभ्यास करना पड़ता था।[115] इन भिन्न–भिन्न कोटि के विद्यार्थियों को पृथक–पृथक छात्रावासों में रखा जाता था।

---

114. महावग्ग .4.15.4 तथा चुल्ल वाग .7.7.4

115. रीज डेविड्स – बुद्धिस्ट पृष्ठ 176.

इससे विभिन्न अध्ययनों में बाधा उपस्थिति नहीं होती थी।[116] इसी कारण से अमुख विधि का विशेष महत्व था।

पिट्ठी आचरिया विधि :

प्रस्तुत अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि बौद्ध शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत अध्यापक विशेष के अर्न्तगत असंख्य छात्र ज्ञानार्जन करते थे। कतिपय स्थितियों में इनकी संख्या पाँच सौ तक हो जाती थी।[117] ऐसी स्थिति में वैयक्तिक शिक्षक के लिये इनका नियंत्रण करना कठिन कार्य था। अतएव अपने शैक्षणिक कार्य में सहायतार्थ वह सहायक अध्यापक–मण्डल (पिट्ठी आचरियाओं) की नियुक्ति करता था। इसमें वरिष्ठतम विद्यार्थियों को ही स्थान प्राप्त होता था।[118] जातक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उपध्याय विशेष ने अपने स्थान पर शैक्षणिक कार्य करने के लिये वरिष्ठ शिष्य की नियुक्ति की थी।[119] एक अन्य सन्दर्भानुसार तक्षशिला के आचार्य को अपने कार्य विशेष के कारण वाराणसी जाना अनिवार्य हो गया। अस्तु उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में अध्यापन कार्य के लिये प्रमुख शिष्य को निर्देश दिया।[120] जातक विशेष के अनुसार कुरू राजकुमार वरिष्ठ शिष्य होने के कारण शिक्षण कार्य में बहुत शीघ्र ही दक्ष हो गया तथा विद्यालय में अपने मित्र का व्यक्तिगत शिक्षक बन गया। उसके प्रयासों के फलस्वरूप अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा उसका मित्र अतिशीघ्र ही ज्ञान में पारंगत हो गया।[121]

(i) उपरोक्त शिक्षण–विधियों के मनोवैज्ञानिक आधार :

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि प्राचीन समय की भाँति बौद्ध युग में भी लेखन कला का सामान्य प्रचलन नहीं था। अस्तु शिक्षण–विधियाँ प्रमुखतः मौखिक थी। शिक्षण प्रक्रिया को सफल बनाने के लिये इनके विभिन्न स्वरूपों को प्रयुक्त किया जाता था। पाठ्यवस्तु के अनुरूप ही इनमें परिवर्धन होता रहता था। परिणामस्वरूप विषयवस्तु विद्यार्थियों के लिये ग्राह्य और आकर्षक हो जाती थी तथा

116. चुल्लवाग .4.4.

117. जातक .1.239.317.402.

118. जातक .2.100 तथा 5.457.

119. जातक .1.141.

120. जातक .4.51.

121. जातक .2.100.

वे इसे भली–भाँति आत्मसात् कर लेते थे। वर्तमान समय में **पेस्टालॉजी, फ्रॉबेल, लॉक** तथा **रूसो** आदि शिक्षाशास्त्रियों ने भी अपनी–अपनी शिक्षण पद्धतियों में मौखिक विधि से शिक्षण प्रदान किये जाने पर बल दिया है। इन सभी विद्वानों ने शिक्षण–प्रक्रिया पुस्तकों को बहिस्कृत करने का परामर्श दिया है।

प्राचीनकाल में तथा वैदिककाल की तरह इस युग में भी मौखिक पाठ्यवस्तु विधि अपरिहार्य थी। तत्कालीन समय की भाँति बौद्ध संघों में उपाध्याय विशेष के पास अधिक शिष्य नहीं रहते थे। अस्तु शिक्षक वैयक्तिक भेदों के आधार पर ज्ञान प्रदान करने में सफल होता था। इससे सभी छात्रों की कठिनाइयों का निराकरण हो जाता था तथा वे विषय–वस्तु को भली–भाँति समझ लेते थे। वैयक्तिक भेदों के अनुसार शिक्षण प्रदान करने से विद्यार्थियों में हीन भावना का विकास नहीं हो पाता था। आधुनिक समय में **महात्मा गाँधी, टैगोर** तथा **टी0 पी0 नन** आदि शिक्षाशास्त्रियों ने वैयक्तिक आधार पर शिक्षण प्रदान करने पर बल दिया है।

प्राचीनकाल की भाँति इस समय भी मौखिक पाठ्यविधि के अन्तर्गत कंठस्थीकरण प्रणाली का विशेष महत्व था। कंठस्थीकरण की प्रकृति को आकर्षक बनाने के लिये पाठ्यवस्तु की संचरना सामान्यतया पद्यात्मक शैली में की जाती थी इससे विद्यार्थियों को विषय–वस्तु के स्मरणीकरण में सुविधा होती थी। इसके अतिरिक्त इत्सिंग के यात्रा विवरणों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आचार्यों ने स्मरण के विकास हेतु सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया था। इनका अनुसरण में विषय–वस्तु छात्रों को तत्क्षण कंठस्थ हो जाती थी। आधुनिक शिक्षण मनोविज्ञान में भी छात्रों की स्मृति के उन्नयन हेतु अनेक प्रयोग किये हैं। अधिकांश शिक्षण–संस्थाओं में विद्यार्थियों की स्मृति शक्ति को विकसित करने में इनका उपयोग किया है।

अतः बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत विचार–विमर्श, प्रश्नोत्तर तथा प्रश्न–प्रतिप्रश्न आदि विधियों का प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय था। अध्ययन–अध्यापन में इनके सतत् व्यवहरण से छात्रों की कल्पना, निर्णय, विभेदीकरण तथा स्मरण आदि मानसिक शक्तियों का विकास होता था। छात्रगण प्रत्येक वस्तु को आलोचनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने के उपरान्त ही उसे स्वीकार करते थे। वर्तमान शिक्षण में

भी विद्यार्थियों की मानसिक शक्तियों के विकास पर पर्याप्त बल दिया जाता है। इस सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग करके मानसिक शक्तियों के विकास के लिये अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

अनेक अध्ययनों से ज्ञात होता है बौद्ध शिक्षा–प्रणाली में प्रयोग परिभ्रमण तथा प्रकृति अध्ययन आदि प्रणालियों का सामान्य प्रचलन था। इन पद्धतियों के उपयोग से शिक्षार्थियों को सैद्धान्तिक विषयों का तथ्यात्मक ज्ञान उपलब्ध हो जाता था। इसके अतिरिक्त उनकी रचनात्मक, कल्पनात्मक, तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक शक्तियों का विकास होता था। उनमें समायोजन करने की आदत का भी विकास होता था। वर्तमान शिक्षाशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने शिक्षण के सभी स्तरों में प्रयोग तथा परिभ्रमण आदि विधियों के व्यवहरण हेतु परामर्श दिया है। प्रायः सभी शिक्षण संस्थायें इनका प्रयोग करती है। बौद्ध शिक्षा संगठन में मौखिक शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत निर्देशनों एवं उदाहरणों का विशेष महत्व था। इनके प्रयोग से पाठ्यवस्तु के कठिन एवं अमूर्त स्थल छात्रों को पूर्णतया स्पष्ट हो जाते थे तथा विषय–वस्तु उनके लिये रूचिकर, आकर्षक एवं ग्राह्य हो जाती थी। सामान्यतया आचार्यगण प्रकृति और मानव जीवन से सम्बन्धित उपमाओं, कथानकों, दृष्टान्तों एवं आख्यानों का प्रयोग करते थे। वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था में भी अध्यापकगण विषय–वस्तु को रोचक ग्राह्य एवं आकर्षक बनाने के लिये मौखिक एवं दृश्य उदाहरणों का प्रयोग करते है। यह प्रथा एक प्रकार की शिक्षण कला के रूप में प्रचलित थी।

इस तरह प्रयोजन, बालकेन्द्रित, वर्गीकरण, अनुशिक्षण, क्रिया–अभ्यास तथा नायक आदि विधियाँ भी मनोविज्ञान में सम्मत थीं। बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत किसी विषय का आद्योपान्त एवं क्रमबद्ध ज्ञान प्रदान करने के लिये प्रयोजन विधि का प्रयोग किया जाता था। इससे छात्रों की रचनात्मक, मानसिक तथा कलात्मक शक्तियों का विकास होता था। उनमें सहयोग और समायोजन की भावना का भी विकास होता था। बालकेन्द्रित विधि के अन्तर्गत छात्रों की मानसिक क्षमताओं को ध्यान में रखते हुये शिक्षण प्रदान किया जाता था। इससे पाठ्यवस्तु पर रूचि बनी रहती थी तथा अनुशासन की समस्या उत्पन्न नहीं होती थी। वर्गीकरण विधि में विभिन्न मानसिक क्षमता वाले विद्यार्थियों को पृथक–पृथक समूहों में विभक्त कर शिक्षण प्रदान किया जाता था। अध्यापक इन भिन्न–भिन्न वर्गों के अनुकूल ही अपनी

शिक्षण–प्रक्रिया को संचालित करता था। इससे विद्यार्थियों को ज्ञार्नाजन करने में कठिनाई नहीं होती थी तथा पाठ्यवस्तु पर इनका अवधान केन्द्रित रहता था।

अनुशिक्षण विधि का प्रयोग नालन्दा विश्वविद्यालय में बहुत अधिक लोकप्रिय था। इस विधि के माध्यम से शिक्षण कार्य करने पर छात्र को गुरू के समीप जाने का सुअवसर उपलब्ध होता था उसे ज्ञानार्जन सम्बन्धी कठिनाईयों के समाधान की सुविधा हो जाती थी। अध्यापक भी व्यक्तिशः शिष्यों के अनुकूल ही अपनी शिक्षण पद्धति को सुव्यवस्थित कर लेता था। क्रिया–अभ्यास विधि के अन्तर्गत शिक्षार्थियों को क्रिया–कलापों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। इससे उनकी रचनात्मक शक्तियों का विकास होता था। बौद्ध शिक्षा–संगठन में भी नायक विधि का भी बहुत अधिक प्रचलन था। इस विधि के प्रयोग से मेधावी एवं प्रतिभावान छात्रों को अध्यापकीय व्यवसाय के लिये स्वतः प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता था। उसमें नेतृत्व अनुशासन तथा त्याग एवं बलिदान आदि की भावनाओं आदि का भी विकास होता था।

(ii) नालन्दा विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियाँ :

मूलतः बिहार प्रान्त मे पाटलिपुत्र नगर के दक्षिण–पूर्व दिशा में नालन्दा नामक प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षा–केन्द्र था। बुद्ध के परम शिष्य सारिपुत्र के जन्म एवं मरण का स्थल होने के कारण प्रारम्भिक समय से ही यह बौद्ध तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध था। शिक्षाविदों के मतानुसार शिक्षा केन्द्र के रूप में इसका अभ्युदय लगभग 450 ई0 में हुआ।[122] अपने मत की पुष्टि में इनका कहना है कि फाह्यान लगभग 410 ई0 में यहाँ आया था परन्तु अपने शैक्षिक केन्द्र के रूप में इस स्थान का उल्लेख नहीं किया।[123] तदनन्तर गुप्ट सम्राटों के द्वारा संरक्षण प्रदान किये जाने के कारण नालन्दा की कीर्ति चतुर्दिक व्याप्त हो गयी। शुक्रादित्य तथा गुप्त नरसिंह गुप्त, बालादित्य तथा बुद्धगुप्त आदि राजाओं ने यहाँ पृथक–पृथक रूप से बौद्ध बिहारों का निर्माण करवाया तथा इसके संवर्धन और विकास के लिये विविध प्रकार के आर्थिक अनुदान दिये।[124] हिन्दु और बौद्ध श्रद्धालु ग्यारवीं शताब्दी पर्यन्त नालन्दा में भवनों आदि का निर्माण करवाते रहे हैं।

---

122. डा0 एम0 एस0 अल्तेकर – एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 116.

123. बोस इण्डियन टीचर्स, पृष्ठ 148–49.

124. वाट्स .2. पृष्ठ 164.

नालन्दा विश्वविद्यालय पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र में स्थित था। इसमें मठों और स्तूपों का निर्माण पूर्व योजना के आधार पर करवाया गया था। केन्द्रीय महाविद्यालय में सात विशाल कक्ष थे। इसके अतिरिक्त व्याख्यान आदि देने के लिये तीन सौ लघु कक्ष थे। विश्वविद्यालय में निर्मित सभी भवन श्रेष्ठ एवं बहुखण्डीय थे। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि नालन्दा के भवन गगन शिखर गगन–चुम्बी थे।[125] इससे स्पष्ट होता है कि नालन्दा में निर्मित महाविद्यालयों, मठों तथा मन्दिरों आदि के शिखर पर्याप्त उच्च थे। यहाँ नील कमलों से आच्छादित सरोवरों की भी व्यवस्था की गयी थी। ये जलाशय विश्वविद्यालय की शोभा का वर्णन करते हुये उपनिवेश के लिये जल एवं पुष्पों की आपूर्ति करते थे। विश्वविद्यालय के चतुर्दिक भित्ति का निर्माण करवाया था तथा द्वार दक्षिण दिशा में स्थित था।[126]

नालन्दा विश्वविद्यालय में भिक्षु–शिष्यों को आवासीय सुविधायें उपलब्ध थीं। उनके रहने के लिये विशिष्ट प्रकार के विहारों का निर्माण करवाया गया। उत्खनन् कार्य की अवधि में अभी तक तेरह बिहार प्राप्त हुये हैं। इनके अवलोकन से ज्ञात होता है कि द्विखण्डीय आवास थे तथा ज्ञानार्जन हेतु छात्रों को इनमें सभी सुविधायें उपलब्ध थीं। वरिष्ठता के आधार पर भिक्षु–शिष्यों को कक्ष प्रदान किये जाते थे तथा प्रतिवर्ष इनका पुनः आवंटन किया जाता था। उत्खनन् कार्य में पाक–शाला तथा भोजन–कक्ष की उपलब्धि न होने के कारण इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विश्वविद्यालय के अनुदान के परिणामस्वरूप दो सौ सम्पन्न ग्राम प्राप्त किये थे। अतः यह अपने विद्यार्थियों को निःशुल्क भोजन, आवास तथा परिधान आदि प्रदान कर सकता था। शिक्षा केन्द्रो में सामान्यतया बौद्धेतर शिष्यों को ये सुविधायें कुछ श्रम करने के उपरान्त ही प्राप्त होती थी।[127] अनेक हिन्दु संरक्षकों द्वारा इस शिक्षा केन्द्र को अनुदान आदि दिये जाने के कारण यह भी सम्भव है कि यह शिक्षा केन्द्र हिन्दु शिष्यों को निःशुल्क भोजन तथा आवास प्रदान करता रहा हो।

इस विश्वविद्यालय में अध्ययनरत् विद्यार्थियों की संख्या के सम्बन्ध में निश्चित प्रदत्त उपलब्ध नहीं होते। **इत्सिंग** के विवरण से ज्ञात होता है कि उसके निवास अवधि में यहाँ तीन सहस्र विद्यार्थियों से अधिक नहीं थे।[128] वाटर्स युवान–चुवांग

125. डा0 एम0 एस0 अल्तेकर – एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 117.
126. इत्सिंग– यात्रा विवरण, पृष्ठ 30.
127. ग्रेब्स – ए हिस्ट्री, पृष्ठ 31.
128. इत्सिंग यात्रा–विवरण, पृष्ठ 154.

को उद्धरित करता हुआ कहता है कि छात्रों की संख्या दस सहस्र थी।[129] युवान–चुवांग द्वारा स्वतः इस शिक्षा–केन्द्र में कतिपय सहस्र शिष्यों की संख्या बताये जाने के कारण वाटर्स द्वारा बताई गयी छात्रों की संख्या अति रंजनापूर्ण प्रतीत होती है। निःसन्देह सातवीं शताब्दी के मध्य तक इस शिक्षा–केन्द्र में अध्ययन कर रहे भिक्षुओं की संख्या पाँच सहस्र रहीं होगी।

नालन्दा विश्वविद्यालय शीघ्र अपनी विद्वत्ता तथा पवित्रता के लिये प्रख्यात था। इसमें धर्मपाल, चन्द्रपाल, प्रभामित्र, जिन मित्र, ज्ञान मित्र तथा शीलभद्र आदि क्रमशः अपने तर्क, विचार–विमर्श, वाद–विवाद, प्रखर बुद्धि कार्य तथा चरित्र के लिये अत्याधिक सम्मान के पात्र थे। ये विद्वान मात्र अध्यापकीय कार्य से ही सन्तुष्ट नहीं थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की। इनके समकालीन विद्वान इन रचनाओं को सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इन विद्वानों का प्रादुर्भाव एवं विकास सातवीं शताब्दी के पूर्वाध में हुआ। लगभग सात सौ वर्षों के इतिहास में नालन्दा विश्वविद्यालय ने पर्याप्त संख्या में उच्च कोटि के विद्वान उत्पन्न किये होगें। **युवान–चुवांग** के आगमन के समय इन शिक्षा–केन्द्रों की सामान्य विद्वत्ता अत्यधिक उच्च थी। इसके अनुसार पाँच सहस्र शिष्यों में से लगभग एक सहस्र भिक्षु सूत्रों के तीस संग्रहों की तथा दस छात्र पचास संकलनों की विवेचना कर सकते थे।[130]

नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए पर्याप्त संख्या में छात्र इच्छुक थे। देश–विदेश के विद्यार्थी यहाँ आकर ज्ञानार्जन करते थे। **फाह्यान, युवान–चुवांग** तथा **इत्सिंग** आदि चीनी यात्रियों के अतिरिक्त कोरिया, तिब्बत, इण्डोनेशिया तथा श्रीलंका आदि के शिष्यों ने यहाँ रहकर अध्ययन किया था। इस उच्च शिक्षा केन्द्र में प्रवेश स्तर बहुत उच्च था। **युवान–चुवांग** के अनुसार विश्वविद्यालय में ज्ञानार्जन के अभिलाषी छात्रों के द्वारा पण्डित कतिपय प्रश्नादि पूँछकर उनके सामान्य ज्ञान का परीक्षण करता था। इन प्रश्नों का वांछित उत्तर न देने वाले अभ्यर्थी प्रवेश से वंचित हो जाते थे।[131] अस्तु इस शिक्षा–केन्द्र पर प्रवेश के लिये जाने से पूर्व प्रवेशार्थियों को प्राचीन एवं नवीन ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता था। द्वार पर परीक्षण इतना कठिन होता था कि सफलता पाने वाले शिष्यों की संख्या बहुत नगण्य होती थी।[132]

---

129. वार्टस .2. पृष्ठ 112.
130. बील – दि लाइफ आफ युवान–चुवांग, पृष्ठ 112.
131. वार्टस .2. पृष्ठ 112.
132. इत्सिंग, पृष्ठ .1.

नालन्दा विश्वविद्यालय के अधिकारीगण पुस्तकालय के महत्व से भली–भाँति भिज्ञ थे। इसीलिये उन्होंने शिक्षकों और छात्रों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये विशाल पुस्तालय की व्यवस्था की थी। पुस्तकालय धर्मगंज के नाम से विख्यात था[133] तथा यह रत्न–सागर रत्नादधि तथा रत्न रंजक आदि तीन भवनों में स्थापित था।[134] इस केन्द्र की पुस्तकालीय सुविधाओं को ही ध्यान में रखते हुये, चीनी यात्री यहाँ पर्याप्त अवधि तक रहकर पवित्र ग्रन्थों की हस्तलिपियाँ तैयार करते थे। **इत्सिंग** ने यहाँ रहते हुये चार सौ संस्कृत ग्रन्थों की सत्य पाण्डुलिपियाँ तैयार की थीं।

हमारे पूर्व विवरण के अनुसार पाँच सहस्र भिक्षुओं की संख्या में से एक सहस्र आचार्य सूत्रों के बीस संकलनों की विधिवत् व्याख्या कर सकते थे। अस्तु शिष्यों की शिक्षा का भार अपने ऊपर लिये हुये थे। इस प्रकार अध्यापक विशेष के अन्तर्गत नव–दस शिष्यों से अधिक नहीं होते थे। इस व्यवस्था के माध्यम से छात्रों को वैयक्तिक शिक्षण उपलब्ध हो जाता था तथा शिक्षण–प्रक्रिया प्रभावपूर्ण हो जाती थी। शिक्षण–कार्य हेतु इस केन्द्र के पास आठ विशाल कक्ष तथा तीन सौ लघु कक्ष थे। यहाँ प्रतिदिन सौ व्याख्यानों की व्यवस्था की जाती थी। आचार्यगण अध्यापकीय कार्य में बहुत कुशल एवं निपुण थे।

इस शिक्षा–केन्द्र का शैक्षिक प्रशासन बहुत ही सुव्यवस्थित एवं उच्च कोटि का था। सम्पूर्ण व्यवस्था का दायित्व प्रमुख भिक्षु पर होता था। संघ के ही सदस्य इसका चयन करते थे। संस्था के भावी प्रधान का निर्वाचन करते समय उसकी चारित्रिकता विद्वप्ता तथा वरीयता का विशेष ध्यान रखा जाता था। चयन प्रक्रिया में स्थानीय द्वेषों एवं पूर्वग्रहों का कोई स्थान नहीं था। निर्वाचित प्रमुख भिक्षु शैक्षिक समिति एवं प्रशासनिक परिषद के माध्यम से अपने दैनिक कार्यों का निष्पादन करता था। शैक्षिक समिति प्रवेश पाठ्यक्रम तथा परीक्षा आदि का नियमन करती थी तथा प्रशासनिक परिषद भवन–निर्माण, कक्ष–आवंटन, खाद्य वितरण तथा वित्त व्यवस्था आदि सामान्य कार्यों का प्रबन्ध करती थी। नालन्दा विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम अत्यन्त व्यापक विस्तृत उदार तथा असम्प्रदायिक था। यहाँ विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों के सहित जैन तथा हिन्दु धर्म से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान प्रदान किया जाता था। **युवान–चुवांग** के अनुसार इस शिक्षा केन्द्र पर वेद, हेतु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, तन्त्र विद्या, सांख्य विद्या तथा अन्य मिश्रित विषयों को शिक्षण प्रदान

133. विद्या भूषण – हिस्ट्री आफ इण्डिया लाजिक, पृष्ठ 516.

134. बील – दि लाइफ आफ युवान–चुवांग, पृष्ठ 112.

किया जाता था।[135] इस चीनी यात्री ने स्वयं यहाँ रहते हुये योगशास्त्र, न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र, कोषशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, हिन्दु धर्म शास्त्र, बौद्ध धर्म शास्त्र तथा विभाग शास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया।[136] इस केन्द्र में लौकिक विषयों के शिक्षण का विशेष महत्व नहीं था। अध्ययन अवधि में भिक्षुओं को निःशुल्क आवास, भोजन तथा परिधानादि की सुविधायें उपलब्ध होने के कारण उन्होंने अपना सम्पूर्ण ध्यान मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन से सम्बन्धित विषयों के अनुशीलन में ही किया। सामान्यतया छात्रगण व्यावसायिक एवं यान्त्रिक विषयों की ओर से उदासीन थे। इस दृष्टि से तक्षशिला का पाठ्यक्रम नालन्दा विश्वविद्यालय की अपेक्षा अधिक बहुमुखी एवं सम्पन्न था। इस शिक्षा–केन्द्र में विविध शास्त्र, गणित शास्त्र तथा ज्योतिष शास्त्र आदि का शिक्षण प्रदान किये जाने के सम्बन्ध में प्रमाण नहीं मिलते। विधि–शास्त्र हिन्दु सम्प्रदाय की परिधि में आने के कारण बौद्ध आचार्यों ने इसमें हस्तक्षेप नहीं किया। ब्राह्मण मतावलम्बियों की भाँति बौद्ध अनुयायियों को यान्त्रिक अनुष्ठानों में विश्वास नहीं था। अतः इनके सम्पादन हेतु शुभ मुहुर्त आदि देखने के लिये ज्योतिष शास्त्र का भी महत्व इनके लिये नहीं था। संभवतः इसीलिये बौद्ध आचार्यों ने नालन्दा विश्वविद्यालय में इसके शिक्षण की व्यवस्था नहीं की होगी।

उपर्युक्त विषयों के अनुकूल ही इस केन्द्र में शिक्षण–विधियाँ भी अपनाई जाती थी। नालन्दा में आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विषयों की प्रमुखता होने के कारण व्याख्यान, 'ट्यूटोरियल', विचार–विमर्श तथा वाद–विवाद आदि विषयों का विशेष महत्व था। व्याख्यान विधि के माध्यम से शिक्षण प्रदान किये जाने के लिये इस केन्द्र पर समुचित व्यवस्था की जाती थी। एतदर्थ यहाँ नित्य प्रति सौ मंच तैयार किये जाते थे। प्रसिद्ध विद्वान इनमें भाग लेते हुये कीर्ति अर्जन करते थे तथा छात्रगण इन भाषणों की अवहेलना किसी भी स्थिति में नहीं करते थे। ट्यूटोरियल विधि के माध्यम से अध्ययन–अध्यापन किये जाने का भी यहाँ सामान्य प्रचलन था। इस विधि के माध्यम से ज्ञान प्रदान किये जाने के कारण विद्यार्थियों का वैयक्तिक शिक्षण सम्भव होता था उनकी अनेक शंकाओं का निवारण हो जाता था। विचार–विमर्श विधि भी इस केन्द्र पर बहुत लोकप्रिय थी। कनिष्ठ एवं वरिष्ठ भिक्षुगण पारस्परिक विचार–विमर्श के माध्यम से दार्शनिक एवं आध्यात्मिक शंकाओं के निवारणार्थ अहिर्निश संलग्न रहते थे। शिक्षण–कार्य के लिये वाद–विवाद विधि की उपयोगिता भी इस केन्द्र पर बहुत अधिक थी। यहाँ तक की द्वार–पण्डित इस विधि के द्वारा प्रवेशार्थियों की सामान्य बुद्धि का आंकलन करते थे।

---

135. वही0 पृष्ठ .115.

136. एस0 के0 दास – एजूकेशन सिस्टम आफ ऐन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 169.

(स) नव ब्राह्मणकालीन शिक्षण-विधियाँ :

सामान्यतः प्रत्येक शिक्षण काल में शिक्षण–विधियों में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य मिलती है। अतः शोधकर्त्ता का विचार है कि इस काल में भी शिक्षण–विधियाँ भिन्न होगी। नव ब्राह्मण काल में शिक्षा–व्यवस्था की संरचना वैदिक आदर्शों और मूल्यों पर हुयी थीं। अतएव धार्मिक विषयों के पठन–पाठन हेतु तत्कालीन समय की भाँति ही पाठ्यवस्तु, कंठस्थीकरण तथा विश्लेषण आदि विधियाँ अपनाई जाती थी। इस युग में मीमांस साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुयी। उसके अध्ययन–अध्यापन के लिये विचार–विमर्श, वार्तालाप, वाद–विवाद तथा शास्त्रार्थ आदि पद्धतियाँ अपनाई गयीं। सामान्य बुद्धि के छात्रों को ज्ञान प्रदान करने के लिये आख्यान विधि का आश्रय ग्रहण किया जाता था। इस प्रकार नव ब्राह्मणकाल में भी पूर्वकालीन युगों की भाँति शिक्षण व्यवस्था के अन्तर्गत पाठ्यवस्तु के अनुसार ही शिक्षण–पद्धतियाँ अपनाई जाती थीं। इस युग में अपनाई जाने वाली शिक्षण–विधियाँ अधोलिखित है :–

मौखिक पाठ्यवस्तु विधि :

वैदिक और बौद्ध युग की भाँति नव ब्राह्मण में भी धार्मिक एवं लौकिक विषयों का शिक्षण मौखिक विधि के माध्यम से ही प्रदान किया जाता था। इस युग में भी शिक्षक, पद, मन्त्र, अथवा ऋचा के दो अक्षरों का उच्चारण निश्चित ध्वन्यात्मक नियमों के अनुसार करता था। तदन्तर निश्चित स्वर्णादि नियमों के आधार पर अक्षरों की आवृत्ति हेतु शिक्षार्थी विशेष को आदेश देता था। यदि मन्त्र की अभिव्यक्ति संयुक्त अक्षरों में होती थी तो उच्चारण एकत्र अक्षर में परिवर्तित कर दिया जाता था।[137] शिक्षण अवधि में आये हुये कठिन स्थलों के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य अनेक युक्तियों का प्रयोग करता था। इससे शिष्य विशेष निर्धारित पाठ्यवस्तु को भली–भाँति आत्मसात् कर लेता था। इस प्रकार छात्र विशेष को सम्पूर्ण ऋच का स्पष्टीकरण कर देने के उपरान्त कक्षा में उसे अवकाश प्रदान कर दिया जाता था तथा इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति क्रमशः अन्य विद्यार्थियों के साथ की जाती थी। निश्चय इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक शिष्य को अध्यापक का वैयक्तिक अवधान उपलब्ध हो जाता था।

---

137. ऋक प्रातिशाख्य, पाठल 15.

शिक्षण विधि पूर्णतया वैयक्तिक एवं प्रत्या थी। यहाँ तक कि पाठ्यवस्तु भी आचार्य और शिष्य के मध्य बाधा स्थापित नहीं करती थी।

कंठस्थीकरण विधि :

पूर्वकालीन युगों की भाँति नव ब्राह्मणकाल में भी वैदिक ग्रन्थों को लिपिबद्ध करना अवांछनीय समझा जाता था।[138] अस्तु लेखन–कला का प्रचलन होने के उपरान्त भी एतदर्थ इसका उपयोग नहीं किया जाता था। परिणामस्वरूप गुरू द्वारा मौखिक विधि से प्रदत्त ज्ञान का कंठस्थीकरण करना छात्रों के लिये अनिवार्य हो जाता था। इस प्रक्रिया की अवधि में शिक्षार्थियों के वैदिक पाठ्यक्रम में आये हुये शब्दों का उच्चारण अत्यधिक सावधानी से करना पड़ता था। उच्चारण किंचित त्रुटि होने पर अध्ययनकर्त्ता को वांछित फलों की प्राप्ति नहीं होती थी।[139] तत्कालीन आचार्यों ने वैदिक पाठ्यवस्तु की विशुद्धता को यथावत् बनाये रखने के लिये पद–पाठ, क्रम पाठ, जय पाठ तथा धन पाठ आदि विभिन्न प्रकार की युक्तियों का अविष्कार किया था। वैदिक पाठ्यवस्तु में निण्णात होने के लिये प्रत्येक छात्र को इन नियमों को जानना अत्यावश्यक था।

व्याख्या विधि :

वैदिक युग की अपेक्षा नव ब्राह्मण काल में दर्शन सम्बन्धी विषयों में पर्याप्त विस्तार हुआ। इनसे सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदायों का उद्भव एवं विकास हुआ। विभिन्न आचार्यों ने इन पर अनेक टीकाओं और मीमांसाओं की रचना की। फलस्वरूप इनकी व्याख्या एवं विवेचना के लिये अनेकानेक विधियों एवं पद्धतियों का सूत्रपात हुआ। वाचस्पति मिश्र ने पाठ्यवस्तु की व्याख्या के लिये अध्ययन (शब्द–श्रवण) शब्द (अर्थ ग्रहण) ऊहा (तर्क) सुहत्प्राप्ति (मिश्र द्वारा पुष्टि) तथा दान (प्रयोग) पाँच पदों का अनुमोदन किया है।[140] संयोगवश ये व्याख्या के पद जान डी० वी० कृत पुस्तक, हाउ टु थिन्क में वर्णित समस्या एवं उसकी खोज (अध्ययन एवं शब्द) संसूचित सुझाव एवं हल का चयन, (ऊहा तथा सुहत्प्राप्ति) तथा प्रयोग (दान) आदि

---

138. महाभारत 14.105.92.

वेदानां लेखकार्श्चव सर्वे निग्यशामिनः।

139. पाणिनि शिक्षा पद 52.

मन्त्रो हीनः स्वरसो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थनाह।
स वान्तजों यजमान हिनस्ति यथेन्द्राश्युः स्वरतो पराधात्।।

140. महामहोपाध्याय सी० के० तरकलंकार – लेक्चर्स आन हिन्दू फिलासफी (प्रथम वर्ष) पृष्ठ 299–301.

चरणों में पूर्ण साम्यता रखते है।[141] धीगुण के अनुसार शुश्रुषा (सीखने की उत्सुकता) श्रवणम् (श्रवण–प्रक्रिया) गृहणम् (आत्मीकरण), धारणम् (स्थिरीकरण), ऊहापोह (विचार–विमर्श), अर्थ विज्ञानम् (यथार्थ भाव का ग्रहण) तत्वज्ञानम् (सारभूत ज्ञान) आदि सात सोपानों के माध्यम से पाठ्यवस्तु की विवेचना करनी चाहिये।[142] दो पद हरबार्ट के व्याख्या चरणों से पर्याप्त अनुरूपता रखते है।[143] मनु विचारानुसार विद्यार्थी का ज्ञान चतुर्थांश आचार्य से चतुर्थश स्वाध्ययन से, चतुर्थांश सहपाठियों से तथा अन्तिम अनुभाव से प्राप्त करना चाहिये।[144]

अधिकारवाद - विधि :

नव ब्राह्मण युग में अधिकार वाद विधि के प्रचलन से यह सिद्ध हो जाता है कि तत्कालीन शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत आधुनिक समय की भाँति ही छात्रों की मानसिक क्षमताओं को ध्यान में ही रखकर उनकी शिक्षा–दीक्षा का प्रबन्ध किया जाता था। प्राचीन सन्दर्भों के अनुसार **विष्णु शर्मा** नामक ब्राह्मण ने पाटिली पुत्र **नरेश सुदर्शन शर्मा** के मूर्ख पुत्रों की शिक्षा का भार ग्रहण किया। इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करने की अवधि में उन्होंने कपोत–संवर्धन में राज–पुत्रों की अभिरूचि का अनुभव किया। अस्तु इस शिक्षक ने कपोतों के माध्यम से ही इन्हें ज्ञान प्रदान करने का निश्चय किया उन्होंने कपोत–आवासों का निर्माण कराकर इनका संवर्धन प्रारम्भ कर दिया। तदनन्तर उनके पैरों में विशिष्ट रक्त चिन्ह अंकित करके उन्हें क, ख, ग, आदि नामों से पुकारने लगे थे। इस प्रकार राजकुमार ने अक्षर, संयुक्ताक्षर तथा शब्द का ज्ञान प्राप्त किया था। अनवरत कपोतों आदि की गणना करने आदि से उन्हें अंकगणित का भी शिक्षण प्राप्त हुआ। उनके आवासों के निर्माण में अभिरूचि रखने के कारण उन्हें ड्राइंग, यान्त्रिकी तथा गृह निर्माण का सामान्य शिक्षण प्राप्त हुआ था। अतः दैनिक जीवन उपयोगी सामान्य विज्ञान का ज्ञान देना तत्कालिक शिक्षा का लक्ष्य था।

---

141. एस० के० दास – एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 128.
142. कामन्दक नीतिशास्त्र पृष्ठ 14–22.

    शुश्रुषा श्रवणं ग्रहणम्, धारणम् तथा।
    उहपोहार्थ विज्ञानम् तत्वज्ञानं सप्त धी गुणाः।।

143. एस० के० दास – वही
144. मनुस्मृति –

    आचार्यत्पादमादत्ते पादं शिष्यं स्वमेधया।
    पादं सब्रहमचारितभ्यः पादं काल क्रमेण तु।।

कथा विधि :

भारत अनादि काल से ही कथा एवं कहानियों का देश रहा है। सामान्यतया आचार्यगण ही सम्पन्न परिवार के बालकों को शिक्षित करने के लिये रोचक कथाओं की संरचना करते थे। अस्तु वैदिक एवं बौद्ध युग की भाँति नव ब्राह्मण–काल में था। इनके छात्रों का नैतिक, चारित्रिक, सामाजिक तथा नैतिक विकास होता था। इसके अतिरिक्त कंठस्थीकरण प्रक्रिया की नीरसता को समाप्त करने में यह पद्धति अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होती थी। इस सन्दर्भ में यहाँ **फ्रोबेल** का कथन अंकित करना आवश्यक है। उन्हीं के शब्दों में "शिशुगण विविध प्रकार की कथाओं एवं आख्यायिकाओं के लिये तीव्र उत्कंठा रखते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि बालक–गण वैयक्तिक अथवा पदार्थों के सापेक्ष में करना चाहते है। तुलना निकटस्थ वस्तुओं की अपेक्षा दूरस्थ पदार्थों से अधिक प्रभावपूर्ण होती है।" नव ब्राह्मणकाल में अत्यन्त शिक्षाप्रद कथाओं का संकलन पंचतन्त्र और हितोपदेश में किया गया था। शिक्षण में रोचक कहानियों का अलग महत्व था।

योजना विधि :

सामान्यतः वैदिक एवं बौद्ध शिक्षा पद्धति की भाँति नव ब्राह्मणकाल में भी शिक्षा प्रदान करने के लिये योजना–विधि का प्रयोग किया जाता था। इस समय इस प्रणाली का प्रयोग सामान्यतया राजपूतों के सन्दर्भ में किया जाता था। प्रचुर वैभव के मध्य पालन–पोषण होने के कारण ये लोग अधिकांशतः अनुशासनहीन होते थे तथा अध्ययन–अध्यापन में इनकी किंचित मात्र भी रूचि नहीं रहती थी। तत्कालीन व्यवस्थानुसार राज–कार्य का संचालन करने के लिये इन्हें राजनीतिशास्त्र, दण्डनीति शास्त्र, तथा नीतिशास्त्र आदि का जानना आवश्यक था। अस्तु तत्कालीन आचार्यों ने कथा–योजनाओं के माध्यम से राजकुमारों को वांछनीय विषयों का ज्ञान प्रदान करने का निश्चय किया। ये अत्यन्त रूचिपूर्ण एवं कौतुहल युक्त होती थीं। इस प्रकार राज–परिवार के व्यक्तियों को इनके माध्यम से प्रदत्त ज्ञान उनके मस्तिष्क में स्थायी हो जाता था। ये कथायें पंचतंत्र, हितोपदेश तथा कथा सरित–सागर आदि में सन्निहित है। कुछ कथानक आचार्यगण स्वयं रचते थे जो रोचक होते थे।

नायक विधि :

वैदिक और बौद्ध शिक्षा–व्यवस्था की भाँति नव–ब्रह्मण शिक्षा–संगठन के अन्तर्गत भी पठन–पाठन हेतु इस विधि का प्रयोग किया जाता था। इस काल के ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के इस अन्तिम चरण

में नायक का पद अधिकांशतः आचार्य–पुत्र को ही उपलब्ध होता था। विष्णु–संहिता के अनुसार आचार्य–पुत्र विद्यार्थियों से आयु में वरिष्ठ अथवा कनिष्ठ होते हुये भी शिक्षकीय कार्य करने के कारण आचार्य के समान ही उनके द्वारा वन्दनीय एवं सम्मानीय है।[145] मनु की इसी मत का अनुमोदन करते हुये कहते हैं। ''आचार्य पुत्र सहपाठियों को वेदों का शिक्षण प्रदान करने के कारण आयु में उनसे कनिष्ठ अथवा उनके सम्मान होते हुये भी उनके कनिष्ठ अथवा उनके सम्मान होते हुये भी उनके सम्मान का अधिकारी है।''[146] इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि नव ब्राह्मणकाल में शिक्षक पुत्र आवश्यकता पड़ने पर शिक्षण कार्य में अपने पिता की सहायता करता था। यह एक परम्परा थी।

शास्त्रार्थ विधि :

प्राचीन भारतीय शिक्षा–जगत में छात्रों के साहित्यिक प्रशिक्षण में प्रतिद्वन्तिाओं का विशेष महत्व था। वैदिक ग्रन्थों में साहित्यिक प्रतिस्पर्धाओं से सम्बन्धित अनेक सन्दर्भ एवं उदाहरण सन्निहित है। इन द्वन्द्वों में विजेताओ को पुरस्कार आदि दिये जाते थे।[147] नव ब्राह्मणकाल में इन्हें शास्त्रार्थ की संज्ञा प्रदान की गयी।शिक्षण–संस्थाओं में इनका बहुधा आयोजन किया जाता था। साहित्य, दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा तर्कशास्त्र के छात्रों को अपने सिद्धान्तों की रक्षा करते हुये प्रतिपक्षियों के मतों का खण्डन मण्डन करना पड़ता था। इन शस्त्रियों से विद्यार्थियों में प्रत्युत्पन्नमति एवं भाषा शक्ति का विकास होता था। शिक्षण–संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य उपर्युक्त स्थलों में भी इनका आयोजन एक विशिष्ट साहित्यिक प्रतियोगिता का उल्लेख प्राप्त होता है।[148] चरक विरचित विमान स्थान में संघर्षरत वेद्यों के सापेक्षण गुणों के परीक्षण के लिये विद्वत–परिषद में हुये वाद–विवाद का विवरण मिलता है।[149] मीमांश, वेदान्त और साहित्य में मर्मज्ञ होने के कारण **मण्डन मिश्र** की पत्नी ने शंकर और मण्डन मिश्र में मध्य हुये शास्त्रार्थ में निर्णायिका की भूमिका का निर्वाह किया था।[150]

---

145. विष्णु संहिता – 28.31.
146. मनुस्मृति – .2.208.
147. आर० यू० – 10.71.
148. काव्य मीमांसा, पृष्ठ 55.
149. विमान स्थान – 8.
150. एम० एस० अल्तेकर – एजूकेशनल एन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 222.

विचार विमर्श विधि :

सामान्यतः वैदिक एवं बौद्ध शिक्षा–संगठन की भाँति नव ब्राह्मणकाल में भी पठन–पाठन के लिये विचार–विमर्श विधि का प्रयोग किया जाता था। इस प्रणाली के अन्तर्गत आचार्य एवं शिष्यगण पारस्परिक रूप से दार्शनिक विषयों के विभिन्न पहलुओं पर गहन विचार–विमर्श करते थे। शिक्षण में इस पद्धति के अपनाये जाने के कारण विद्यार्थियों को पाठ्यवस्तु के साथ ही उसके सकारात्मक और नकारात्मक पाशर्वो का भी विधिवत ज्ञान हो जाता था। इस विधि के माध्यम से पाठ्यवस्तु का प्रस्तुतीकरण करते समय उसके साधन एवं बेधर्म दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया जाता था तदनन्तर विवेचनात्मक एवं विशलेषणात्मक युक्तियों के द्वारा निष्कर्षों एवं सिद्धान्तों की स्थापना की जाती थी।[151] इस विधि के माध्यम से ज्ञानार्जन करने के उपरान्त ही शिष्यगण अपने प्रतिद्वन्द्वियों से शास्त्रार्थ करने में समर्थ हो पाते थे तथा अपना यश एवं कीर्ति का पताका फहराने में सक्षम होते थे।

वार्तालाप विधि :

अध्ययन से ज्ञात होता है कि उपनिषदों और बौद्ध सूत्रों की तरह नव ब्राह्मणकाल में भी कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिये वार्तालाप विधि का प्रयोग किया जाता था। इस विधि के माध्यम से विषय–वस्तु का प्रतिपादन करने में आचार्यगण प्रश्नोत्तर युक्ति का प्रयोग करते थे। ये लोग पाठ्यवस्तु से सम्बन्धित छात्रों के क्रमबद्ध प्रश्नों को वांछित उत्तर देकर अनेकानेक शंकाओं का समाधान करते थे। उन्हें अपने दृष्टि कोणों के सम्बन्ध में विद्यार्थियों के मस्तिष्क में उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का भी ज्ञान हो जाता था। इसके अतिरिक्त मन्द बुद्धि के बालकों की विवेक–शक्ति को विकसित करने के लिये शिक्षक लोग उन्हें पूर्व ज्ञान से नवीन उपलब्ध ज्ञान की तुलना हेत उत्प्रेरित करते थे। इससे शिक्षार्थियों की तुलना एवं निरीक्षण शक्तियों का उन्नयन होता था।[152] यह एक प्रचलित एवं विशिष्ठ के रूप में जानी जाती थी।

(i) उपर्युक्त शिक्षण-विधियों के मनोवैज्ञानिक आधार :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नव ब्राह्मणकाल में भी शिक्षण–कार्य हेतु प्रयुक्त की गयी पद्धतियों वैदिक एवं बौद्ध शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत प्रयोग में लाई गयी प्रणालियों के ही समान थी। अतएव इनके भी मनोवैज्ञानिक आधार न्यूनाधिक

151. वही. पृष्ठ 165.

152. एम0 एस0 अल्तेकर – एजूकेशनल इन एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 167.

उन्हीं के समान थे। पूर्वकालीन शिक्षा–संगठनों की तरह इस समय भी लेखन कला का प्रचलन होने के उपरान्त भी लेखन–साधनों एवं आधारों के सुलभ न होने के कारण अध्ययन–अध्यापन के लिये इसका प्रयोग नहीं किया जाता था। इसीलिये पाठ्यवस्तु को ग्राह्य आकर्षक तथा रोचक बनाने के लिये मौखिक विधियों के प्रायः सभी स्वरूपों का व्यवहरण किया जा सकता था। ये विधियाँ इतनी सशक्त थी कि विद्यार्थी इसके माध्यम से प्रचुरतम ज्ञान राशि को कंठस्थ करके भावी सन्तति को हस्तान्तरित कर देता था।

पूर्वकालीन शिक्षा–व्यवस्थाओं के समान नव ब्राह्मणकाल में भी मौखिक पाठ्यवस्तु विधि अपरिहार्य एवं अत्याव्य थी। इसके अन्तर्गत शिक्षण पर विशेष बल दिया जाता था। इस प्रकार के शिक्षण में अध्यापक छात्र की वैयक्तिक मानसिक क्षमताओं के अनुसार पाठ्यवस्तु का संगठन करता था। इससे शिष्य को विषयवस्तु को आत्मसात् करने में किसी भी प्रकार तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि वर्तमान शिक्षा–शास्त्रियों ने विद्यार्थियों के वैयक्तिक शिक्षण पर बल दिया है। इनका विचार है कि छात्र को वैयक्तिक आधार पर शिक्षण प्रदान करने से ही उसका सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकता है।

प्राचीन भारत में शिक्षण–कार्य के लिये पाठ्य–पुस्तकों आदि का प्रयोग नहीं किया जाता था। अस्तु भावी सन्तातिको भारतीय संस्कृति का हस्तान्तरण करने के लिये ज्ञान–राशि को कंठस्थ करने की अतिरिक्त अन्य विकल्प नहीं था। इसीलिये तत्कालीन आचार्यों ने इसकी प्रक्रिया को रोचक, ग्राह्य एवं आकर्षक बनाने के लिये भारतीय संस्कृति पद्य–शैली से संगठित किया था। इस शैली में प्रणीत पाठ्यवस्तु वद्य कंठस्थीकरण विद्यार्थियों के लिये सरल हो जाता था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेकानेक अन्य युक्तियाँ भी स्मरणीकरण को सुविधापूर्ण बनाने के लिये आविष्कृत किया था। रूसो, पेस्टालॉजी तथा लॉक आदि आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों ने पर्याप्त सीमा तक कंठस्थीकरण विधि का समर्थन किया है।

नव ब्राह्मणकाल में दार्शनिक विषयों के क्षेत्र का बहुत अधिक विस्तार हो गया। अतएव आचार्यों और मनीषियों ने इनके शिक्षण के लिये पृथक–पृथक व्याख्या के क्रमबद्ध सोपानों का सृजन किया। इन चरणों के माध्यम से विषयों का अध्ययन हो जाता था। इनमें से कतिपय आचार्यो द्वारा प्रतिपादित व्याख्या के चरण हरबार्ट तथा जान ड्यूवी के व्याख्या के पदों से पूर्ण साम्य रखते हैं।

अधिकारवाद विधि से मन्तव्य विद्यार्थियों की मानसिक क्षमताओं और अभिरूचियों के अनुसार ज्ञान प्रदान करने से था। आचार्य विष्णु शर्मा ने राजाश्रुओं के शिक्षण हेतु इस विधि की खोज की थी उन्होंने इस विधि के माध्यम से इनको राजनैतिक, चारित्रिक तथा नैतिक शिक्षा प्रदान की। वर्तमान समय में पेस्टालॉजी, रूसों लॉक तथा महात्मा गांधी आदि शिक्षाशास्त्री विद्यालयों में इस प्रणाली को अपनाये जाने पर बल देते है। माण्टेसरी तथा किण्डर गार्टेन आदि शिशु संस्थायें इस विधि पर आधारित है।

वैदिक और बौद्ध युग की भाँति नव ब्राह्मणकाल में भी कथा–विधि का प्रचलन था। इस काल में शिक्षण प्रदान करने के लिये इस विधि का बहुत अधिक प्रयोग किया गया। सामान्यतया अनुशासनहीन तथा मन्दबुद्धि के विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करने के लिये इस प्रणाली का व्यवहरण किया जाता था। आचार्यगण बालकों की मनोदिशाओं के अनुकूल श्रेष्ठ कथाओं का निर्वाचन करके इन्हीं के माध्यम से उन्हें विविध का ज्ञान प्रदान करते थे। वर्तमान समय में शिक्षाशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक कथा–विधि के माध्यम से बालकों को शिक्षण प्रदान करने पर बल देते थे। उनका विचार था कि इस पद्धति का प्रयोग करने से विषय–वस्तु पर छात्रों का अवधान केन्द्रित होता है तथा उनकी कलात्मक एवं रचनात्मक शक्तियों का विकास होता है।

वैदिक एवं बौद्ध युग की भाँति नव ब्राह्मणकाल में भी योजना पद्धति का प्रयोग किया जाता था। नव ब्राह्मणकाल में योजनाबद्ध कथाओं के माध्यम से ज्ञान प्रदान किये जाने के कारण छात्रों को विषय–वस्तु का आद्योपान्त ज्ञान हो जाता था तथा उनकी क्रिया वर्तमान समय में इस प्रणाली के माध्यम से ज्ञान प्रदान किये जाने पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। किलपैट्रिक, स्टीफेन्सन तथा जॉन ड्यूवी आदि शिक्षाशास्त्रियों ने इस विधि का सर्वाधिक समर्थन किया है। इनका विचार है कि इस विधि के अपनाये जाने से विद्यार्थियों को विषयवस्तु का क्रमबद्ध ज्ञान हो जाता है तथा उनका ध्यान इस पर केन्द्रित बना रहता है।

प्राचीन भारत के सम्पूर्ण युगों में नायक विधि का प्रचलन था। सामान्यतया आचार्यों की अनुपस्थिति में मेधावी और प्रतिभा सम्पन्न शिष्य शिक्षण–कार्य करते थे। नव ब्राह्मणकाल में अधिकाशतः यह उत्तरदायित्व आचार्य पुत्रों पर होता था। इस प्रणाली के अन्तर्गत विद्यार्थियों द्वारा छात्रों को शिक्षण प्रदान करने के कारण शिष्यगण निर्भीकतापूर्वक ज्ञानार्जन करते थे। पाठ्यवस्तु पर सतत् उनकी रूचि बनी रहती थी। वर्तमान समय में विश्व के सभी राष्ट्रों में एक पद्धति मान्य है। इंग्लैण्ड

आदि देशों में तो इस विधि का बहुत अधिक प्रयोग किया गया है। इस प्रकार शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत नायक–विधि आधुनिक समय की खोज नहीं है वरन् प्राचीन भारतीय शिक्षा में आदिकाल से ही इसका प्रयोग प्रचलित था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा में धार्मिक विषयों के साथ ही दार्शनिक विषयों का शिक्षण भी अत्याधिक लोकप्रिय था। इन विषयों के शिक्षण के लिये शास्त्रार्थ वाद–विवाद तथा वार्तालाप आदि विधियों का सामान्य प्रचलन था। इनके प्रयोग से विद्यार्थियों को विषयवस्तु का क्रमबद्ध ज्ञान हो जाता था तथा ये दर्शन विशेष के गुणदोषों से भली–भाँति परिचित हो जाते थे। उनकी चिन्तन, विवेचना तथा निर्णय आदि मानसिक शक्तियों का पर्याप्त संवर्धन होता था। वर्तमान समय मे थार्नडाइक आदि प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों ने छात्रों की मानसिक शक्तियों के विकास का समर्थन किया है।

(ii) विक्रमशिला विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण-विधियाँ :

शोधकर्त्ता द्वारा ऐतिहासिक पन्नों को पलटने से ज्ञात होता है कि पालवंश के सम्राट धर्मपाल ने अष्टम शताब्दी में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना करवाई थी। इसीलिये यह राजकीय उच्च शिक्षा–केन्द्र के रूप में सुप्रसिद्ध था।[153] धर्मपाल ने यहाँ विविध प्रकार के भवनों का निर्माण करवाया। इसके उत्तराधिकारियों ने तेरहवीं शताब्दी तक इस विश्वविद्यालय को संरक्षण प्राप्त किया।[154] इस संस्थान के आचार्य सामान्यता प्रसिद्ध विद्वान थे। इनकी ख्याति सुदूर देशों तक फैली हुयी थी। तिब्बत श्रोतों के अनुसार बुत्र, ज्ञानपाद, रक्षित रत्नवज तथा अभयंकर गुप्त आदि विक्रमशिला के विद्वानों में असंख्य पुस्तकों की रचना किया। इन सम्पूर्ण आचार्यों में आतिश नामक उपाध्याय सर्वाधिक ख्याति एवं लोकप्रिय थे। तिब्बतीय परम्पराओ के मतानुसार उन्होंने लगभग दो सौ ग्रन्थों की रचना की।[155] इन प्रतिभा सम्पन्न विद्वानों के कारण ही इस शिक्षा–केन्द्र में विद्यार्थियों की संख्या अनवरत बढ़ती रही। बारहवीं शताब्दी के लगभग तीन सहस्र छात्र यहाँ स्थाई रूप से निवास कर रहे थे।[156] इस शिक्षा–संस्था का पुस्तकालय बहुत अधिक सम्पन्न था। इसीलिये यवन विश्वंशकारी ने भी इसकी प्रशंसा की है।

---

153. एस0 सी0 दास – जर्नल ऑफ बुद्धिस्थ टेक्सट सोसायटी, ग्रन्थ प्रथम, पृष्ठ 10.
154. पी0 एन0 बोस – इण्डियन टीचर्स ऑफ बुद्धिस्थ यूनिवर्सिटीज, पृष्ठ 30.
155. वही0 पृष्ठ 32. तथा 105.
156. वही0 पृष्ठ 84.

उस समय विश्वविद्यालय की सामान्य प्रशासन समिति का अध्यक्ष प्रमुख उपाध्याय होता था। समिति के विभिन्न सदस्यों को भोजन–वितरण, जल–आपूर्ति, निर्माण–कार्य, भिक्षु–दीक्षा तथा भृत्य–परिवेक्षण आदि कार्यों से सम्बन्धित विभिन्न प्रशासकीय उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना पड़ता था। आचार्यगण सामान्य जीवन–यापन करते थे। चार सामान्य विद्यार्थियों के निर्वहन–व्यय के समान प्रत्येक उपाध्याय का निर्वहन–व्यय होता था।[157]

शैक्षिक प्रशासन का उत्तरदायित्व छह द्वार–पण्डितों की समिति के ऊपर था। इस समिति का अध्यक्ष प्रधान आचार्य होता था। द्वार–पण्डितों का प्रमुख कार्य प्रवेशार्थियों के ज्ञान की परीक्षा करना था। तारकनाथ के अनुसार राजा जनक के शासनकाल में दक्षिण द्वार पर प्रज्ञाकर–मति, पूर्वीय द्वार पर रत्नाकर शान्ति, पश्चिमी द्वार पर वागीश्वर कीर्ति, उत्तरी द्वार पर नरोपन्त, प्रथम केन्द्रीय द्वारा पर रत्न–वज्र तथा द्वितीय केन्द्रीय द्वार पर ज्ञान–श्री–मिश्र आदि द्वारपाल थे।[158]

विक्रमशिला में निर्धारित पाठ्यक्रम नालन्दा विश्वविद्यालय के समान अधिक व्यापक एवं विस्तृत नहीं था। यहाँ पर अध्ययन का प्रमुख विषय तन्त्र था। इसके पश्चात् व्याकरण अध्यात्मशास्त्र तथा तर्कशास्त्र की प्रमुखता थी।[159] नालन्दा विश्वविद्यालय की भाँति यहाँ भी शिक्षक एवं छात्र हस्तलिपियाँ तैयार करने में व्यस्त रहते थे।[160] दुर्भाग्यवश विक्रमशिला विश्वविद्यालय में शिक्षण प्रदान किये जाने वाले पाठ्यक्रम की अवधि में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता परन्तु इस शिक्षा–केन्द्र की सर्वाधिक विशेषज्ञता यह थी, कि तिब्बतीय श्रोतों से ज्ञात होता है कि जेतारी तथा रत्न वज्र ने क्रमशः राजा महिपाल तथा कनक में उपाधियाँ ग्रहण की थी।[161]

इस शिक्षा–केन्द्र में नालन्दा विश्वविद्यालय की भाँति ही शिक्षण–विधियाँ अपनाई जाती थीं। प्रायः मौखिक–विधियों के सभी स्वरूपों को अपनाया जाता था। उपर्युक्त पाठ्यक्रम की प्रकृति के अनुसार विचार–विमर्श, वाद–विवाद तथा वार्तालाप आदि विधियाँ प्रमुख रूप से अपनाई जाती थी।[162] व्याख्यान–विधि की भी यहाँ लोकप्रियता

---

157. पी० एन० बोस – इण्डियन टीचर्स आफ बुद्धिस्थ यूनिवर्सिटीज, पृष्ठ 35.
158. विद्या भूषण – हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, पृष्ठ 520.
159. वही० पृष्ठ 150.
160. जे० आर० ए० एस० 1010.
161. पी० एस० बोस – वही० पृष्ठ 47 तथा 61.
162. एस० के० दास – एजूकेशनल सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, पृष्ठ 374.

थी। छात्रगण व्याख्यानों का ध्यानस्थ एवं दत्तचित्त होकर सुनते थे। यदा–कदा अनुशिक्षण–विधि (ट्यूटोरियल) का भी प्रयोग किया जाता था। इस पद्धति में छात्र को आचार्य के समीप रहकर ज्ञानार्जन करने का सुअवसर उपलब्ध होता था। इससे उसकी कठिनाइयों का निराकरण होता था तथा उन्हें विषय–वस्तु का हृदयांगम करने में सरलता होती थी।

बख्त्यार खिलजी ने 1203 में इसे नष्ट कर दिया था तथा अनेक भिक्षुओं को मौत के घाट उतार दिया। इस संसार में यहाँ का अत्यन्त बहुमूल्य पुस्कालय भी नष्ट हो गया। खिलजी के आक्रमण के समय इस संस्थान का प्रमुख आचार्य काव्य श्रीभद्र थे।[163] नव ब्राह्मणकाल भी अन्य बौद्ध संस्थायें मिथिला, ओदन्तपुरी, जगछला तथा श्री ध्यानकरक (अमरावती) थीं। इन संस्थाओं का पाठ्यक्रम एवं शिक्षण–विधियाँ भी नालन्दा तथा विक्रमशिला आदि संस्थाओं के आदर्शो पर ही संगठित की गयी थी। मन्दिर महाविद्यालय, मठ, अग्रहार, टोल तथा विद्यापीठ आदि नव ब्राह्मणकाल की प्रमुख संस्थायें थीं। इन संस्थाओं से सम्बन्धित पाठ्यक्रम एवं विधियाँ वैदिक शिक्षा संगठन के अनुसार थीं।[164]

---

163. एम0 एस0 अल्तेकर – एजूकेशनल सिस्टम आफ एन्सियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 130.

164. डा. आत्मानन्द मिश्र – दि फाइनसिंग आफ इण्डियन एजूकेशन, पृष्ठ 128.

(द) राष्ट्रीय शिक्षा नीति : शिक्षण विज्ञान :

राष्ट्रीय शिक्षा नीति :

डॉ0 सियाराम यादव के अनुसार– शिक्षा किसी भी राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकता है। मानव इतिहास के आदिकाल से शिक्षा का विविध भाँति विकास एवं प्रसार होता रहा है। प्रत्येक देश अपनी सामाजिक–सांस्कृतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति एवं विकास तथा सामाजिक चुनौतियों का सामना करने के लिये अपनी विशिष्ट शिक्षा प्रणाली विकसित करता है तथा आवश्यकतानुसार परम्परित ढाँचे में परिवर्तन करके उसे नई दिशा प्रदान करता है। भारत में राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलने के बाद शिक्षा की प्रचलित प्रणाली को अपनाये रखा गया जिससे भारतीय आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति सही ढंग से आज तक न हो सकी। स्वतन्त्रता के बाद विभिन्न आयोगों एवं समितियों के सुझावों पर भी समुचित ध्यान नहीं दिया जा सका। परिणामस्वरूप प्रत्येक क्षेत्र एवं वर्ग से यह आवाज उठने लगी कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है, इसमें आमूलचूल परिवर्तन की जरूरत है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर हमारे युवा प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने जनवरी 1985 में नई शिक्षा नीति निर्धारित करने की घोषणा की। इस हेतु शिक्षा की तत्कालीन स्थिति का आंकलन किया गया तथा ''शिक्षा की चुनौती–नीति सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य'' नाम दस्तावेज तैयार किया गया। इस दस्तावेज तथा शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर निर्मित की गई कुछ प्रश्नावलियों के आधार पर देशव्यापी बहस की गई। यह बहस विद्यालय, जिला, प्रदेश तथा विश्वविद्यालय स्तर पर हुई जिसमें अध्यापकों, प्रधानाध्यापकों, प्रशासकों, वकीलों, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा समाज के अन्य वर्गों से जुड़े लोगों ने भाग लिया। शिक्षा के क्षेत्र में यह एक शुभ संकेत था कि उसकी नीति निर्धारण में जनसामान्य की भागीदारी को स्थान दिया गया। विभिन्न सुझावों के आधार पर भारत सरकार ने पर्याप्त चिंतन–मनन के बाद ''राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986'' की घोषणा की। इस नई शिक्षा नीति के क्रियान्वयन पर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है तथा इस कार्य में काफी प्रगति भी हो रही है, तथापि इसके कुछ बिन्दुओं पर विशेष चर्चा की आवश्यकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के भाग 1 (भूमिका) में शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुये 1968 की शिक्षा नीति के बाद की उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है। साथ ही उसके अधिकांश सुझावों के कार्यरूप में परिणत न हो सकने पर खेद भी व्यक्त किया गया है। 1968 की नीति के

क्रियान्वयन की पक्की योजना न बन पाने, स्पष्ट दायित्व निर्धारित न किये जाने, वित्तीय एवं संगठन सम्बन्धी व्यवस्था न हो पाने के कारण विभिन्न वर्गों तक शिक्षा को पहुँचाने, उसका स्तर सुधारने और विस्तार करने तथा आर्थिक साधन जुटाने जैसे महत्वपूर्ण कार्य न हो सकने से कई नई समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। प्रथम बार यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य एक बेशकीमती सम्पदा है, अमूल्य संसाधन है। गतिशील एवं संवेदनशील होने के कारण उसकी परिवरिश बहुत सावधानी से की जानी चाहिये। मनुष्य के विकास की पेचीदा एवं गतिशील प्रक्रिया में शिक्षा के उत्प्रेरक योगदान हेतु बहुत सावधानी से योजना बनाने और उसे क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। परम्परागत मूल्यों का हास हो रहा है और समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, लोकतन्त्र तथा व्यावसायिक नैतिकता के लक्ष्यों की प्राप्ति में लगातार बाधायें आ रही हैं। सामान्य सुविधाओं के अभाव में पढ़े–लिखे ग्रामीण युवकों का शहरों की ओर पलायन जारी है। महिलाओं की अशिक्षा के कारण जनसंख्या वृद्धि पर ~~जनसंख्या वृद्धि पर~~ अंकुश नहीं लग पा रहा है। इस समस्याओं के अतिरिक्त अगले दशक नये तनावों और समस्याओं के साथ इनमें वृद्धि ही करेंगे। इनसे निपटने के लिये मानव संसाधन को नये ढंग से विकसित करना होगा, नई पीढ़ी में मानवीय मूल्यों और सामाजिक न्याय के प्रति गहरी प्रतिबद्धता विकसित करनी होगी जो कि अच्छी शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। इन कमियों एवं समस्याओं के कारण नई शिक्षा नीति निर्धारित करने की बात करना बहुत ही तर्कसंगत है। वास्तव में सही शिक्षा के माध्यम से इन समान समस्याओं से निपटा जा सकता है, लेकिन पुनः प्रश्न क्रियान्वयन का ही उठता है। जब तक शिक्षा के विभिन्न अंगों से जुड़े हुये लोगों में इसके प्रति प्रतिबद्धता नहीं होगी, योजना को साकार करना आसान न होगा। विभिन्न आयोगों की संस्तुतियों के क्रियान्वयन की परिणति अपना रूप दुबारा न ले सके, बहुत ही सोच–विचार कर हमें आगे बढ़ना होगा।

नई शिक्षा नीति के द्वितीय भाग में इसके निर्माण के सिद्धान्तों के बारे में बताया गया है। इनमें ''सबके लिये शिक्षा'' हमारे भौतिक और आध्यात्मिक विकास की बुनियादी आवश्यकता है, शिक्षा सुसंस्कृत बनाने का माध्यम है, यह हमारी संवेदनशीलता और दृष्टि को प्रखर करती है जिससे राष्ट्रीय एकता विकसित होती है, इससे वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग की सम्भावना बढ़ती है, विचार एवं चिन्तन में स्वतन्त्रता आती है, यह संविधान में प्रतिष्ठित समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतन्त्र के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक है, इससे आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों की

आवश्यकतानुसार जनशक्ति का विकास होता है, यह वर्तमान तथा भविष्य के निर्माण का अनुरूप साधन है, आदि प्रमुख हैं। इन उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा नीति का निर्माण किया जाना एक स्वागत योग्य कदम है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के भाग तीन में हमारे संविधान में निहित ''राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था'' के संकल्प को दुहराया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का मूल मन्त्र है कि एक निश्चित स्तर तक प्रत्येक शिक्षार्थी को, बिना किसी जाति–पाँति, धर्म, स्थान या लिंग–भेद के लगभग एक जैसी शिक्षा उपलब्ध हो। इसके लिये 1968 की नीति में अनुशंसित सामान्य स्कूल प्रणाली, सम्पूर्ण देश में 10+2+3 की समान शैक्षिक संरचना तथा लगभग समान पाठ्यक्रम लागू करने की नीति वास्तव में सराहनीय है। समान पाठ्यक्रम के अन्तर्गत एक सामान्य केन्द्रित पाठ्यक्रम होगा जिसमें भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, संवैधानिक उत्तरदायित्व तथा राष्ट्रीय अस्मिता से सम्बन्धित अनिवार्य तत्व शामिल होंगे। इन बिन्दुओं को प्रत्येक विषय में पिरोकर राष्ट्रीय मूल्यों को प्रत्येक व्यक्ति के चिन्तन एवं जीवन का हिस्सा बनाने का प्रयास किया जायेगा, जिनकी आज नितान्त आवश्यकता है। इन राष्ट्रीय मूल्यों में हमारी समान सांस्कृतिक धरोहर, धर्मनिरपेक्षता, लोकतन्त्र, स्त्री–पुरूषों के बीच समानता, सामाजिक समता, सीमित परिवार का महत्व, पर्यावरण संरक्षण तथा वैज्ञानिक विधियों का अधिक से अधिक प्रयोग आदि शामिल है। इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रम के एक हिस्से में लचीलापन होगा जिसे स्थानीय परिवेश एवं आवश्यकताओं के अनुसार ढ़ाला जायेगा। राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' के आदर्श के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सहअस्तित्व की भावना के विकास पर बल दिया जायेगा।

सामाजिक माहौल और जन्म के आधार पर उत्पन्न पूर्वाग्रहों और कुंठाओं को दूर करना है। इसके लिए शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने के साथ–साथ ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिसमें सभी को शिक्षा में सफलता प्राप्त करने के समान अवसर मिल सकें। सामान्य केन्द्रित पाठ्यक्रम के माध्यम से समानता की मूलभूत अनुभूति कराई जायेगी। प्रत्येक चरण पर शिक्षा का न्यूनतम स्तर निश्चित होगा। विद्यार्थियों को देश के विभिन्न भागों की संस्कृति, परम्पराओं और सामाजिक व्यवस्था को समझाने का समुचित अवसर प्रदान किया जायेगा। इसके लिये सम्पर्क भाषा का विकास तथा बहुभाषी शब्दकोषों का प्रकाशन आदि कार्यों पर बल दिया जायेगा। आज देश में प्रचलित शिक्षा एक ही चरण में विभिन्न स्तरों, भाषावाद एवं

क्षेत्रवाद की संकीर्णताओं को देखते हुये यदि राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था को सही ढंग से पूरे देश में लागू किया जा सके तो हम पुनः अखण्ड भारत की वास्तविकता को प्राप्त कर सकते है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के एक सर्वेक्षण के अनुसार देश के केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में फैल रही क्षेत्रीयता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है। अतः विश्वविद्यालयों तथा उच्च शिक्षा की अन्य संस्थाओं को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

साक्षरता–प्रतिशत में वृद्धि हेतु विभिन्न योजनाओं को स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार क्रियान्वित करने तथा उससे जुड़े लोगों में प्रतिबद्धता विकसित करने की आवश्यकता है। खुली शिक्षा एवं दूरस्थ शिक्षा का लाभ जनसामान्य तक पहुँचाने के लिये उन्हें सामान्य आवश्यक सुविधायें उपलब्ध कराना होगा। शिक्षा को समवर्ती सूची में रखकर पूरे देश में सार्थक सहभागिता के आधार पर शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर गुणवत्ता बनायी रखी जा सकती है, लेकिन इसमें तभी सफलता मिल सकती है जब अखिल भारतीय शैक्षिक प्रशासन के साथ–साथ सभी प्रदेशों एवं संस्थाओं को उचित एवं समान वित्तीय पोषण मिले।

नई शिक्षा नीति के चतुर्थ भाग में विषमताओं को दूर करके, समानता के लिये शिक्षा पर बल दिया गया है जिससे अब तक वंचित रहे लोगों को भी इसका लाभ मिल सके। इसमें महिलाओं की समानता हेतु शिक्षा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुये वर्गों एवं पिछड़े क्षेत्रों की शिक्षा, अल्पसंख्यकों एवं विकलांगों की शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा पर अधिक ध्यान देने को कहा गया है। ऐसा नहीं है कि इन वर्गों की शिक्षा पर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया, लेकिन जनसंख्या एवं आवश्यकतानुसार योजनाओं का समुचित क्रियान्वयन नहीं हो सका है। हमारे देश में केवल 24 प्रतिशत महिलाओं का साक्षर होना इसका सीधा प्रमाण है। आज महिला शिक्षा की विशेष आवश्यकता है क्योंकि सभी समस्याओं की मूल समस्या–जनसंख्या विस्फोट पर, महिलाओं को अधिक से अधिक शिक्षित करके ही नियन्त्रण पाया जा सकता है। प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम सरकारी संस्थाओं के साथ–साथ व्यक्तिगत एवं स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा भी चलाया जाना चाहिये तथा इस पर होने वाले धन के अपव्यय को रोकने का उचित प्रयास किया जाना चाहिये। प्रत्येक गाँव में जनसंख्या के आधार पर एक या अधिक स्वयंसेवी संस्थाओं को वित्तीय सहायता एवं सामान्य सुविधायें उपलब्ध कराकर शत–प्रतिशत साक्षरता का लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास किया जा सकता है। दूर शिक्षण हेतु संचार माध्यमों की

ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे इसका लाभ प्रत्येक वर्ग के गरीब से गरीब व्यक्ति को मिल सके।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति का पंचम भाग विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के पुनर्गठन, शिशुओं की देखभाल और शिक्षा से सम्बन्धित है। इसमें शिक्षा के साथ–साथ उनके सर्वांगीण विकास पर विशेष बल दिया गया है। जिन वर्गों की पहली पीढ़ी अब शिक्षा प्राप्त कर रही है उनके बच्चों के विकास पर पर्याप्त विनियोग करने को कहा गया है। पौष्टिक भोजन व स्वास्थ्य को और बच्चों के सामाजिक, मानसिक, शारीरिक, नैतिक और भावनात्मक विकास को समेकित रूप से देखने पर बल दिया गया है। इसके लिये शिशुओं की देखभाल और पूर्व–प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्रमों को पूर्णरूपेण समेकित किया जायेगा जिससे प्राथमिक शिक्षा को बढ़ावा तथा मानव संसाधन विकास में सामान्य रूप से सहायता मिल सके। प्राथमिक शिक्षा को गति प्रदान करने के लिये बालकेन्द्रित दृष्टिकोण अपनाने, सभी विद्यालयों में सामान्य सुविधाओं हेतु "ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड" कार्यक्रम लागू करने पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। इसका अर्थ होगा कि प्रत्येक प्राथमिक विद्यालय में आवश्यक सामान्य सुविधायें उपलब्ध हो जिसमें किसी भी मौसम में उपयोगी कम से कम दो बड़े कमरे, आवश्यक खिलौने, श्यामपट, नक्शे, चार्ट तथा अन्य शिक्षण सामग्री शामिल हो। प्रत्येक स्कूल में कम से कम दो शिक्षक होंगे जिसमें एक महिला होगी, लेकिन यथासम्भव शीघ्र ही प्रत्येक कक्षा के लिये एक–एक शिक्षक की व्यवस्था की जायेगी। स्कूल छोड़ देने वाले या स्कूली सुविधा से वंचित रहने वाले लड़कों तथा लड़कियों के लिए अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों की उचित व्यवस्था की जायेगी। संविधान में निहित संकल्प को पुनः दोहराते हुये कहा गया है कि 1990 तक जो बच्चे 11 वर्ष के होंगे उन्हें विद्यालय में 5 वर्ष की शिक्षा या अनौपचारिक धारा में इसकी समतुल्य शिक्षा अवश्य मिल जाये। इसी प्रकार 1995 तक 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अवश्य दी जायेगी।

इन उपर्युक्त संकल्पों पर गम्भीरता से विचार करने पर पता चलता है कि प्राथमिक शालाओं में सामान्य सुविधाओं का नितान्त अभाव अवश्य है, कुछ विद्यालयों में अध्यापकों की भी कमी है, कई हजार विद्यालय भवन–विहीन हैं, लेकिन कुछ विद्यालय इसके अपवाद भी हैं। बहुत–से ऐसे प्राथमिक विद्यालय देखने में आते हैं जिनके पास अच्छा भवन भी है, चार–पाँच अध्यापक भी हैं, आवश्यक

शिक्षण सामग्री भी उपलब्ध होती है, किन्तु उनके विद्यालयों का स्तर साधारण विद्यालयों के स्तर से अच्छा नहीं होता है। इसके विपरीत असुविधाओं से घिरे हुये कुछ ऐसे विद्यालय भी देखने में आते है जहाँ एक या दो अध्यापकों के होते हुए भी शिक्षा का स्तर अच्छा होता है। प्रश्न केवल अध्यापकों की प्रतिबद्धता का है। यदि हम आज से 25—30 वर्ष पहले के प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षा—स्तर पर दृष्टि डालें तो निश्चित रूप से कह सकेंगे कि वर्तमान प्राथमिक विद्यालयों का शिक्षा स्तर गिरा है और इसका प्रमुख कारण अध्यापकों में प्रतिबद्धता की कमी है। जहाँ तक 1990 तक 11 वर्ष के बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने का प्रश्न है, इस पर भी विचार करने से यही प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद आज तक जो प्रगति इस दिशा में हो सकी है, उसके आधार पर इस लक्ष्मण रेखा का टूटना बहुत स्वाभाविक है। आज किसी भी गाँव में जाकर वहाँ की निरक्षरता की स्थिति का जायजा लिया जा सकता है। इसके लिये धन एवं अन्य सुविधायें जुटाने के साथ—साथ कानूनी अनिवार्यता भी लागू करनी होगी, तभी इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकेगा।

माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर सभी विषयों की सामान्य जानकारी हेतु पाठ्यक्रम का पुनर्निर्धारण एक स्वागत—योग्य कदम है। व्यवसायोन्मुख शिक्षा आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है, लेकिन इसके लिये आवश्यक है श्रम के प्रति सम्मानजनक दृष्टिकोण उत्पन्न करने की। इससे पूर्व—माध्यमिक शिक्षा के व्यवसायीकरण का हमें बहुत अच्छा परिणाम नहीं मिल सका है। औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं, टेकनिकल स्कूलों एवं पॉलीटेकनिक आदि से निकले हुये छात्र भी सामान्य शिक्षा प्राप्त छात्रों के साथ ही रोजगार की पंक्ति में खड़े देखे जाते है। गतिनिर्धारक (नवोदय) विद्यालयों की स्थापना के पीछे विशिष्ट प्रतिभा एवं अभिरूचि वाले बच्चों को अपनी योग्यता के आधार पर बिना भेदभाव के आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया जाना बताया गया है, लेकिन यदि उसकी प्रवेश परीक्षा पर ध्यान दें तो पायेंगे कि निहायत ग्रामीण क्षेत्र का बहुत प्रतिभाशाली छात्र भी तमाम सूचनाओं के अभाव में उसमें प्रवेश नहीं पा सकेगा। अतः प्रारम्भ से ही इन विद्यालयों में प्रवेश में गड़बड़ियों की आशंका है। दूसरी तरफ पब्लिक स्कूलों के ढंग पर चलने के कारण, शिक्षा के समान अवसर और स्तर की समानता की बात स्वयं ही निरर्थक लगती है। इन सबके वावजूद आज हमें साक्षरता—प्रतिशत बढ़ाने के साथ—साथ गुणात्मकता पर भी ध्यान रखना है, अतः शिक्षा के प्रचार—प्रसार के किसी माध्यम को अपनाने में हमें बहुत अधिक संकीर्णता नहीं बरतनी चाहिए।

उच्च शिक्षा मानव जाति की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र की समस्याओं के समाधान तथा विशिष्ट ज्ञान एवं कुशलताओं के प्रसारण द्वारा राष्ट्र के विकास में सहायक होती है। अतः समाज में इसकी निर्णायक भूमिका होती है। शैक्षिक पिरामिड के शीर्ष पर होने के कारण समूची शिक्षा व्यवस्था के लिए अध्यापक तैयार करने में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान है। अतः उच्च शिक्षा में अधिक गतिशीलता लाने की आवश्यकता है। वर्तमान 150 विश्वविद्यालयों और 5 हजार से अधिक कॉलेजों में सुधार हेतु सुविधाओं में विस्तार पर बल दिये जाने की आवश्यकता है। नई शिक्षा नीति में विश्वविद्यालयों से कॉलेजों की स्वायत्ता देने को कहा गया है। नवचिंतन, अनुसंधान तथा शिक्षा में नये–नये प्रयोगों के लिए यह बहुत अच्छा प्रयास होगा, किन्तु आज प्रतिवर्ष क्षेत्रीय आधार पर कुछ नये विश्वविद्यालय खुलते जा रहे हैं जो पूर्ण रूप से स्वायत्त होते हैं, यदि उनके शिक्षा स्तर तथा अनुसंधान कार्यों समीक्षा की जाए तो निष्कर्ष बहुत आशाजनक नहीं मिल पायेंगे। अनुसंधान एवं नये प्रयोगों के नाम पर धन का अपव्यय भी हो रहा है। अतः स्वायत्तता के साथ–साथ जबाबदेही अवश्य होनी चाहिए। उच्च शिक्षा के लिये अधिक अवसर प्रदान करने तथा शिक्षा को जनतांत्रिक बनाने की दृष्टि से खुले विश्वविद्यालय की प्रणाली शुरू की जायेगी। 1985 में इसके अन्तर्गत ''इन्दिरा गाँधी खुला विश्वविद्यालय'' की स्थापना भी हो चुकी है। जहाँ तक उच्च शिक्षा के समान अवसर का प्रश्न है, आज देश क 28 विश्वविद्यालय पत्राचार पाठ्यक्रम चला रहे है जो खुला विश्वविद्यालय का ही रूप है तथा अधिकांश विश्वविद्यालय व्यक्तिगत परीक्षा की भी सुविधा प्रदान कर रहे है। इस प्रकार से विश्वविद्यालय शिक्षा भी प्रदान कर रहे है तथा धनार्जन भी कर रहे है। आज पत्राचार पाठ्यक्रम तथा व्यक्तिगत परीक्षा पद्धति विश्वविद्यालयों की आय के बहुत बड़े साधन है यद्यपि खुला विश्वविद्यालय और पत्राचार पाठ्यक्रम में आंशिक अन्तर अवश्य है, लेकिन अभी हमारे देश में संचार सुविधायें जनसामान्य को इतनी अधिक उपलब्ध नहीं हैं कि वे लाभ उठा सकें। दूसरी तरफ व्यक्तिगत परीक्षा की सुविधा के कारण पत्राचार पाठ्यक्रम का महत्व भी कम होता जा रहा है। मेरठ विश्वविद्यालय के एक अध्ययन के अनुसार वहाँ पत्राचार पाठ्यक्रम में प्रतिवर्ष निरन्तर नामांकन की संख्या घटती जा रही है, क्योंकि व्यक्तिगत परीक्षा की सुविधा के कारण यह अनाकर्षक हो गयी है। शिक्षार्थी को दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं लगता है जबकि व्यक्तिगत परीक्षा पद्धति में केवल परीक्षा शुल्क देना होता है और पत्राचार पाठ्यक्रम में परीक्षा शुल्क के साथ–साथ और कई तरह के शुल्क देने होते है। अतः

आज देश में उच्च शिक्षा के पहले से ही समान अवसर विद्यमान हैं, जरूरत है उनका लाभ उठाने की। खुला विश्वविद्यालय के माध्यम से कुछ विशिष्ट कुशलताओं की शिक्षा दिया जाना एक अच्छा प्रयास अवश्य है। नई नीति के अनुसार कुछ चुने हुये क्षेत्रों में डिग्री को नौकरी से अलग करने के लिए कदम उठाये जायेंगे, लेकिन विशिष्ट व्यावसायिक क्षेत्रों; जैसे– इंजीनियरिंग, चिकित्सा, कानून, शिक्षण आदि में इस प्रस्ताव को लागू नहीं किया जायेगा। जहाँ तक डिग्री को नौकरी से अलग करने का प्रश्न है वह आंशिक रूप से आज भी लागू है। अधिकांश व्यावसायिक क्षेत्रों में जहाँ कुशल लोगों की आवश्यकता होती है, चयन डिग्री के आधार पर न होकर योग्यता के आधार पर ही होता है। कुछ क्षेत्रों में रोजगार हेतु अपनी अलग परीक्षा होती है, राष्ट्रीय परीक्षण सेवा भी इसी का एक व्यापक रूप होगी, अतः यह स्वागत–योग्य है। ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना की बात पुनः कही गई है, इससे ग्रामीण विकास एवं उन्नयन में सहयोग अवश्य मिल सकेगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति का छठा अध्याय तकनीकी एवं प्रबन्ध शिक्षा से सम्बन्धित है। तकनीकी तथा प्रबन्ध शिक्षा के घनिष्ठ सम्बन्ध और पूरक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर दोनों पर इकट्ठे विचार करने पर बल दिया गया है। अर्थव्यवस्था के बुनियादी ढाँचें और सेवा क्षेत्र के साथ–साथ असंगठित ग्रामीण क्षेत्रों को भी उन्नत तकनीकी और प्रबन्धकीय जनशक्ति की नितान्त आवश्यकता है, अतः सरकार द्वारा इस ओर विशेष ध्यान दिया जायेगा। संगणक (कम्प्यूटर) के महत्व एवं बढ़ते प्रयोग के कारण, संगणक की सामान्य जानकारी तथा इसके प्रयोग को व्यवसायिक शिक्षा का अंग बनाया जायेगा। संगणक साक्षरता के कार्यक्रम स्कूल पर ही आयोजित किये जायेंगे। दूर शिक्षा के द्वारा भी तकनीकी एवं प्रबन्धकीय शिक्षा की व्यवस्था की जायेगी। तकनीकी के क्षेत्र में नवाचार, शोध एवं विकास पर अधिक ध्यान दिया जायेगा। अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद को वैधानिक अधिकार प्रदान किया जायेगा। इसके अन्तर्गत परिषद तकनीकी शिक्षा का नियोजन, मानदण्डों का निर्धारण, अनुरक्षण और मूल्यांकन भी कर सकेगी तथा इसके व्यापारीकरण को रोक सकेगी। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञान एवं तकनीकी के प्रयोग को देखते हुये तकनीकी शिक्षा का सुचारू रूप से प्रबन्ध किये जाने की विशेष आवश्यकता है। अतः नई शिक्षा नीति के ये प्रस्ताव समायोजित है।

नई शिक्षा नीति के सातवें भाग में शिक्षा व्यवस्था को कारगर बनाने के उपायों का उल्लेख किया गया है। यहाँ स्वीकार किया गया है कि कोई भी नया

कार्य अव्यवस्था की स्थिति में नहीं किया जा सकता है और शिक्षा का प्रबन्ध तो बौद्धिक अनुशासन एवं गम्भीर सोद्देश्यता की माँग करता है। इस क्षेत्र में अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने तथा नये प्रयोगों एवं सृजनशीलता को पूरा अवसर देने के साथ–साथ आज की स्थिति में ही अनुशासन स्थापित करना होगा। इस तन्त्र को बहुत अधिक सक्रिय बनाना है। यह आवश्यक है कि सभी अध्यापक पढायें और सभी विद्यार्थी पढ़ें। इसके लिये अध्यापकों को अधिक सुविधायें प्रदान की जायेंगी और साथ ही उनकी अधिक जबाबदेही भी होगी। विद्यार्थियों के लिये सेवा सुधार और उनके आचरण पर विशेष बल दिया जायेगा, शिक्षा संस्थाओं को अधिक सुविधायें दी जायेंगी तथा राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर किये गये मानदण्ड के आधार पर शिक्षा संस्थाओं के कार्य का मूल्यांकन किया जायेगा। जहाँ तक शिक्षक की जबाबदेही का प्रश्न है, यह सुनने में बहुत अच्छा लगता है, लेकिन इस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। जबाबदेही का सीधा अर्थ होता है कि जो व्यक्ति जिस कार्य के लिए नियुक्त किया गया है, उसको ठीक प्रकार से करे। शिक्षक के लिये इसका तात्पर्य शिक्षक के रूप में रहने से है जो इसके लिये आवश्यक भी है, किन्तु ध्यान से विचार करने की स्थिति इससे अलग ही दिखाई पड़ती है। एक वर्ग उसे समाज–सुधारक के रूप में देखना चाहता है तथा दूसरा शासक दल के हितसाधक के रूप में। अभिभावक अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति बालक की शिक्षा से चाहता है और उसी की शिक्षक से अपेक्षा करता है। आज समाज ऐसा शिक्षक चाहता है जो सर्वगुणसम्पन्न, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं अनुशासित नागरिक उत्पन्न कर सके। यहाँ हम शिक्षक के सीमित कार्य–क्षेत्र को भूल जाते है। शिक्षक जबाबदेह तभी हो सकता है जब लक्ष्य–पूर्ति के उद्देश्य तय करने, उसे प्राप्त करने के उपायों और संसाधनों में उसकी भागीदारी हो। दूसरी तरफ यह भी आशंका है कि शिक्षक पर जबाबदेही को जितना लादा जायेगा, वह अपने रास्तों को परिणामों तक सीमित करता जायेगा जिससे मूल्यांकन में वह खरा उतर सके। इससे शिक्षक का सही मूल्यांकन नहीं हो सकेगा। इसके लिये हमें शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर से ही ऐसी भावना विकसित करनी होगी जो शिक्षक–प्रशिक्षण के दौरान अपनी चरम स्थिति पर पहुँचकर शिक्षक को स्वयं ही जबाबदेह बना सके। इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता है कि शिक्षक का सही मूल्यांकन स्वयं शिक्षक ही कर सकता है या आंशिक रूप से उसके सहयोगी, उसके वर्तमान तथा पूर्व विद्यार्थी। इसके अतिरिक्त शिक्षक का कोई भी मूल्यांकनकर्ता प्राथमिक न होकर द्वितीयक ही होगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति का भाग आठ, शिक्षा की विषयवस्तु और प्रक्रिया को नया रूप देने से सम्बन्धित है। इसमें संस्कृति–संरक्षण, संस्कृति–विहीनता एवं अमानवीयता से बचाव हेतु मूल्योन्मुख शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है जिसकी आज नितान्त आवश्यकता है। मूल्योन्मुख शिक्षा के माध्यम से ही आज बढ़ रहे भौतिकवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जा सकता है जो कि सभी बुराइयों का मूल है। इसी अध्याय में भाषा के सम्बन्ध में 1988 की नीति का सक्रिय रूप से क्रियान्वित करने, पुस्तकों को सस्ते मूल्य पर उपलब्ध कराने तथा गुणात्मक सुधार लाने, संचार माध्यमों एवं शैक्षिक प्रौद्योगिकी को अधिक प्रयोग करने पर भी बल दिया गया है। पाठ्यवस्तु में विज्ञान, गणित, पर्यावरण शिक्षा, शारीरिक शिक्षा तथा कार्यानुभव पर विशेष बल देने को कहा गया है। मूल्यांकन प्रक्रिया तथा परीक्षा प्रणाली में सुधार करने हेतु सत्रीय तथा ग्रेड पद्धति अपनाने पर जोर दिया गया है। यह सत्य है कि कोई पद्धति अपने आप में पूर्ण नहीं होती है और उसमें सुधार की गुंजाइश सदैव रहती है, लेकिन जरूरी नहीं है कि उस पद्धति के स्थान पर कोई नयी पद्धति पहली से अच्छा परिणाम दे सके। यदि शरीर के किसी अंग में कोई विकार आ जाता है तो उस अंग–विशेष को बदलने की अपेक्षा उस विकार का उपचार किया जाना ही ठीक होता है। इसके अतिरिक्त जिन तत्वों के कारण किसी पद्धति में बुराई आ गयी हो यदि वही तत्व दूसरी पद्धति में भी बरकरार रहते हैं तो उसमें भी अच्छाई की आशा कैसे की जा सकती है। प्रचलित वर्तमान परीक्षा प्रणाली में इतनी बुराइयाँ नहीं हैं जितना अधिक कहा जा रहा है। आवश्यकता है इसमें सही क्रियान्वयन की। यह तभी सम्भव हो सकता है जब इसके दो प्रमुख तत्वों, अध्यापकों, एवं विद्यार्थियों में नैतिकता एवं कर्तव्यनिष्ठता हो। यदि यह कमी बरकरार रहती है तो किसी भी पद्धति में सफलता में संदेह बना रहेगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के दस्तावेज का भाग 9, शिक्षक और अध्यापक शिक्षा से सम्बन्धित है। इसमें अध्यापक के महत्व को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि किसी समाज के अध्यापकों से उसकी सांस्कृतिक, सामाजिक दृष्टि का पता चलता है। कोई भी राष्ट्र अपने अध्यापकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता है अतः सरकार और समाज को ऐसी परिस्थितियाँ बनानी चाहिए जिससे अध्यापकों को निर्माण और सृजन की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिले। अध्यापकों को इसकी स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वे शिक्षण एवं सम्प्रेषण की नवीन एवं उपयुक्त विधियों का प्रयोग कर सकें तथा अपने समुदाय की समस्याओं के समाधान हेतु नये उपाय खोज सकें। अतः

अध्यापकों का चयन योग्यता के आधार पर व्यक्ति निरपेक्ष रूप से किया जाएगा जिससे वे अपने कार्य की अपेक्षाओं के अनुरूप सिद्ध हो सकें। शिक्षकों का वेतन और सेवा–शर्तें उसके सामाजिक एवं व्यावसायिक दायित्वों के अनुरूप होंगी जिससे प्रतिभाशाली व्यक्ति शिक्षण व्यवसाय की ओर आकृष्ट हो सकेंगे। पूरे देश में समान वेतन एवं सेवा–शर्तें लागू करने का प्रयास किया जायेगा। शिक्षकों के प्रोन्नति के उचित अवसर प्रदान किये जायेंगे। उनके अच्छे कार्यों को प्रोत्साहित किया जायेगा तथा शैक्षिक कार्यक्रमों के निर्माण एवं क्रियान्वयन में शिक्षकों की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। जबाबदेही के मानक तय किये जायेंगे। शिक्षक संघों से अपेक्षा की गयी है कि वे व्यावसायिक प्रामाणिकता की हिमायत करने, शिक्षक की प्रतिष्ठा बढ़ाने और व्यावसायिक दुर्व्यवहार रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायेंगे तथा एक व्यावसायिक आचारसंहिता बनाकर उसका अनुपालन करा सकेंगे। शिक्षकों के सम्बन्ध में सरकार के उपर्युक्त विचार प्रशंसनीय है, किन्तु कथनी और करनी में अन्तर को समाप्त करने के लिए बड़े साहस की आवश्यकता है। शिक्षकों को कई पूर्व अवसरों पर बड़े कटु अनुभव हो चुके है जब सरकार ने शिक्षकों की प्रतिष्ठा का कोई भी विशेष ध्यान नहीं रखा।

अध्यापक शिक्षा को एक सतत् प्रक्रिया माना गया है जिसमें सेवा–पूर्व तथा सेवाकालीन प्रशिक्षण पर बल दिया गया है। इसके लिये जिला प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किये जायेंगें जिसमें प्राथमिक अध्यापकों तथा अनौपचारिक एवं प्रौढ़ शिक्षा के कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था होगी। कुछ निम्न स्तर की प्रशिक्षण संस्थाओं को बन्द कर दिया जायेगा तथा कुछ चुने हुये माध्यमिक प्रशिक्षण कालेजों का दर्जा बढ़ाकर राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद से सम्बन्धित किया जायेगा। राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद को और अधिक अधिकार से सम्पन्न बनाया जायेगा।

अध्यापक प्रशिक्षण के सम्बन्ध में ये सुझाव उपयुक्त अवश्य हैं, लेकिन वस्तुस्थिति पर विचार करने से पता चलता है कि अधिकांश प्रशिक्षण संस्थाएँ अभी तक उपेक्षित–सी है। उन्हें केवल प्रमुख संस्था की आय का साधन माना जाता है तथा केवल प्रवेश कार्य तक ही उनका विशेष महत्व होता है। उनका प्रशिक्षण का स्तर बहुत ही निम्न होता है, उनके पास आवश्यक सामग्री का भी अभाव होता है। अधिकांश प्रशिक्षण संस्थाएँ प्रातःकालीन या सायंकालीन पाली में चलती हैं क्योंकि उनके लिए प्रमुख विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के पास स्थान का अभाव रहता है, जबकि प्रशिक्षण पूर्ण दिवसीय माना जाता है ऐसी परिस्थितियों में प्राध्यापक प्रशिक्षणार्थियों

को किसी भी नयी विधि का प्रयोग करना भी नहीं सिखा पाते है। मॉडल स्कूलों का नितान्त अभाव होता है। धीरे–धीरे प्रशिक्षण कालेजों के प्राध्यापक निष्क्रिय हो जाते है, और प्रशिक्षण केवल डिग्री प्राप्त करने के लिए एक खानापूर्ति मात्र रह जाता है। अतः आवश्यकता है कि वर्तमान प्रशिक्षण संस्थाओं को अधिक सुविधा प्रदान करने की तथा प्राध्यपको को नयी विधियों के प्रयोग हेतु अधिक सक्रिय करने की। अध्यापक प्रशिक्षण हेतु ऐसे व्यक्तियों का चयन किया जाये जिनकी इस व्यवसाय में अभिरूचि हो। इस दृष्ठि से 1986 की उत्तर प्रदेश बी0एड0 प्रवेश परीक्षा का आयोजन एक अच्छा प्रयास है।

नई शिक्षा नीति के दशवें भाग में शिक्षा के प्रबन्ध का उल्लेख किया गया है। शिक्षा के नियोजन और प्रबन्ध व्यवस्था के पुनर्गठन पर विशेष ध्यान देने का प्रयास किया जायेगा। राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड शैक्षिक विकास का पुनरावलोकन करेगा, शिक्षा व्यवस्था में सुधार हेतु परिवर्तन सुनिश्चित करेगा। भारतीय शिक्षा सेवा का एक अखिल भारतीय सेवा के रूप में गठन किया जायेगा तथा इसके लिये राज्य सरकार से परामर्श लिया जायेगा। राज्य स्तर पर सरकारें राज्य शिक्षा सलाहकार बोर्ड का गठन करेंगी। शैक्षिक आयोजनों, प्रशासकों और संस्थाओं के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। जिला तथा स्थानीय स्तर पर उच्चतर माध्यमिक शिक्षा तक ही प्रबन्ध करने हेतु जिला शिक्षा बोर्डों की स्थापना की जायेगी। संस्थाध्यक्षों की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए उनके चयन तथा प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान रखा जायेगा। विद्यालय संगमों (स्कूल कॉम्प्लेक्सेज) की स्थापना की जायेगी जो शिक्षा में गुणात्मकता बनाये रखने, शिक्षकों की व्यावसायिक दक्षता बढ़ाने में सहायक हो सकेंगे। गैर–सरकारी तथा स्वैच्छिक प्रयासों को प्रोत्साहन दिया जायेगा और वित्तीय सहायता भी प्रदान की जायेगी बशर्ते उनकी प्रबन्ध व्यवस्था समुचित हो। साथ ही शिक्षा का व्यापार करने वाली संस्थाओं पर रोक लगाई जायेगी। यद्यपि कुछ सुझाव जैसे– अखिल भारतीय शिक्षा सेवा की स्थापना, संस्थाध्यक्षों का चयन एवं प्रशिक्षण आदि बहुत अच्छे हैं, लेकिन इस नीति के निर्धारित होने से पहले जनसामान्य को आशा थी कि अब शिक्षा को किसी एक तन्त्र के अन्तर्गत रखा जायेगा, परन्तु पुनः शिक्षा व्यवस्था में सरकारी, अर्द्ध–सरकारी तथा निजी–तीनों तन्त्रों का वर्चस्व रखकर पुरानी प्रणाली को चालू रखा गया है। अतः शिक्षा की प्रबन्ध व्यवस्था में कोई विशेष नयापन आने की सम्भावना कम है।

नई शिक्षा नीति के ग्यारवें अध्याय में शिक्षा व्यवस्था हेतु आवश्यक संसाधन जुटाने के उपायों का उल्लेख किया गया है। कोठारी आयोग तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 के इस सुझाव को स्वीकार किया गया है कि हमारे समतावादी उद्देश्यों और व्यावहारिक तथा विकासोन्मुख लक्ष्यों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि इस कार्य के स्वरूप और आयामों के अनुरूप शिक्षा में पूँजी निवेश हो। इसके लिये चन्दा इकट्ठा करने, स्थानीय लोगों की सहायता लेने, उच्च शिक्षा का शुल्क बढ़ाने तथा उपलब्ध साधनों का बेहतर उपयोग करने को कहा गया हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान तथा तकनीकी शिक्षा का लाभ उठाने वाली एजेन्सियों पर उपकर या प्रभार लगाकर साधन जुटाये जायेंगे। क्योंकि 1986 की नीति के अनुसार राष्ट्रीय आय का 8 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च किया जाना चाहिए था जो नहीं किया जा सका है, अतः सातवीं पंचवर्षीय योजना में, जहाँ तक आवश्यक होगा, खर्च का प्रतिशत बढ़ाया जाएगा। नई शिक्षा नीति के विभिन्न पहलुओं के कार्यान्वयन की समीक्षा प्रत्येक पाँच वर्षो में अवश्य की जायेगी तथा कार्यान्वयन की प्रगति एवं उभरती प्रवृतियों की जाँच हेतु मध्यावधि मूल्यांकन भी होंगे। दरअसल अभी शिक्षा में बहुत पूँजी निवेश की आवश्यकता है, इसके लिये राष्ट्रीय बजट में इसे प्राथमिकता देनी होगी तथा शिक्षा एवं अनुसंधान के नाम पर कुछ क्षेत्रों में हो रहे धन के दुरूपयोग को भी रोकना होगा। कार्यक्रमों की कार्यान्वयन की प्रगति का मूल्यांकन शिक्षाविदों द्वारा वस्तुनिष्ठता से करना होगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बारहवें तथा अन्तिम भाग में शिक्षा के भावी स्वरूप के प्रति चिन्ता एवं आशा व्यक्त की गई है। भारत में शिक्षा का भावी स्वरूप इतना जटिल है कि उसकी स्पष्ट रूपरेखा बना सकना सम्भव नहीं है, किन्तु उद्देश्यों की प्राप्ति में हम सफल होंगे इसके लिये पूर्णतया आशान्वित हैं। सबसे महत्वपूर्ण कार्य है– शैक्षिक पिरामिड की जड़ को सुदृढ़ करना तथा पिरामिड के शिखर पर रहने वालों को विश्व में सर्वोत्तम स्तर का बनाये रखना। अतीत में इन दोनों छोरों को हमारी संस्कृति के मूल स्रोतों ने भली–भाँति सिंचित रखा। अब मानव संसाधन विकास का एक राष्ट्रव्यापी प्रयास पुनः शुरू होना चाहिये जिससे शिक्षा अपनी बहुमुखी भूमिका पूर्णरूप से निभा सके। नई शिक्षा नीति के अर्न्तगत शिक्षा के भावी स्वरूप की ऐसी आशन्वित रूपरेखा की कल्पना वर्तमान कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की भी आशा बँधाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त के आधार पर कहा जा सकता है कि ''राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986'' के अधिकांश सुझााव प्रशंसनीय एवं समयानुकूल है, तथापि इसमें कई विसंगतियाँ भी हैं, जिन पर अभी भी गम्भीर विचार–विमर्श की आवश्यकता है। शिक्षा के प्रचार–प्रसार के साथ उसकी गुणवत्ता कायम रखने पर विशेष ध्यान देना होगा। उच्च शिक्षा के अवांछित प्रसार पर रोक लगानी होगी। अध्यापकों को समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करना होगा जिससे सुयोग्य व्यक्ति इस व्यवसाय की ओर आकृष्ट हो सकेंगे। अध्यापक प्रशिक्षण को गम्भीरता से लेना होगा तथा उसके माध्यम से अध्यापकों में व्यवसाय के प्रति रूचि तथा नैतिक बल विकसित करना होगा। प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर में सुधार करके गुणवत्ता को कायम रखने का प्रयास करना होगा। सभी स्तरों पर शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में समानता लानी होगी, इसके लिये शिक्षा को किसी एक तन्त्र–विशेष के अन्तर्गत रखना होगा। इस प्रकार नई शिक्षा नीति को सही रूप में क्रियान्वित करने पर ही राष्ट्रीय मूल्यों एवं उद्देश्यों की सम्प्राप्ति हो सकेगी।

शिक्षण विज्ञान :

मर्मर मुखोपाध्याय के अनुसार– शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी का क्रमविकास एक लम्बी समयावधि में हुआ है। यद्यपि शिक्षण विज्ञान से सम्बन्धित समकालीन अनुभववादी अनुसंधान का इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पाँच दशकों से कुछ अधिक पुराना, और भारत में लगभग चार दशक पुराना है, किन्तु शिक्षण विज्ञान का वास्तविक इतिहास कई हजार वर्ष पहले, विशेष रूप से चीन, मिस्र और भारत जैसी पुरानी सभ्यताओं में ढूंढ़ा जा सकता है। भारतीय साहित्य, विशेष रूप से वेदान्त, शिक्षा–दीक्षा विज्ञान का एक समृद्ध स्रोत है। ऐसे साहित्य में (उदाहरणार्थ, तैत्तीरियोपनिषद की 'शिक्षाबल्ली' में) शिक्षा के स्वरूप और लक्ष्यों, शिक्षा की विषय–वस्तु, शिक्षा की विधियों और प्रक्रियाओं और उसके अतिरिक्त शिक्षा के परिणाम और प्रभाव पर चर्चा की गई है; **हस्तना शतक** में शिक्षण की ऐसी रूपरेखा दी गई है, जिसे आजकल बहुमाध्यम वाला अधिगम कहा जाता है। अनुभववाद की पश्चिमी परम्परा की तुलना में जो परोक्ष ज्ञान पर आधारित है, शिक्षण की प्राचीन भारतीय परम्परा, विशेष रूप से गुरूकुल प्रणाली प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित थी। अनुभववाद के अभाव के बाबजूद गुरूकुल प्रणाली का शिक्षण विज्ञान प्रमाणिक और वैज्ञानिक था।

आधुनिक अनुभववादी अनुसंधान, विशेष रूप से बुद्धि के ढ़ांचे, संज्ञान, संवेगों और संवेगात्मक बुद्धि, नैतिक विकास, आदि के बारे में अनुसंधान 1950 के दशक में शुरू हुआ और मनोविज्ञान की अनेक शाखाओं से प्राप्त हुये योगदानों से

परिपक्व हुआ। इन योगदानों से शिक्षण विज्ञान की रूपरेखा और उसकी विषय–वस्तु का विकास हुआ।

शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रधान लक्ष्य सीखने की मानवीय प्रक्रियाओं को इष्टतम बनाना और प्रत्येक व्यक्ति को **'सीखा हुआ व्यक्ति'** बनाने के स्थान पर उसे **'सीखने वाला व्यक्ति'** बनाने का रहा है। अभिप्राय यह कि शिक्षण विज्ञान का लक्ष्य एक बार और हमेशा के लिये सब कुछ सीख लेने की बजाय किसी व्यक्ति में निरंतर सीखते रहने की योग्यता उत्पन्न करना है।

शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी में अनेक तत्व शामिल हैं। भारतीय विद्यालयों में शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ईमानदारी से की जाने वाली जाँच में प्रत्येक तत्व की उनके एक–दूसरे के साथ सहजीवी सम्बन्धों के रूप में और जिस रूप में उन्हें विद्यालयों में लागू किया जाता है, उसकी जाँच करना जरूरी है। हमें शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रणाली और उसके अंगों का विश्लेषण करना होगा और तब भारतीय विद्यालयों में उनकी उपस्थिति और भारतीय स्कूलों के निर्माण में उनके योगदान का पता लगाना होगा।

भारतीय विद्यालय :

भारतीय विद्यालय प्रणाली में 7,50,000 से अधिक प्राथमिक विद्यालय और 1,17,000 से अधिक माध्यमिक और उच्चतम/वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय हैं। यदि हम अपने आपको माध्यमिक और वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालयों तक ही सीमित रखें, तो भी उनकी अनेक किस्में हैं। अंग्रेजी माध्यम वाली और फीस लेने वाली संस्थाओं की अनुमानित संख्या लगभग 5000 है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रायोजित अपेक्षाकृत ऊंची गुणवत्ता वाली संस्थाओं, अर्थात् केन्द्रीय विद्यालयों, नवोदय विद्यालयों, सैनिक विद्यालयों आदि की संख्या एक हजार से अधिक है। राज्यों के क्षेत्र में सरकारी विद्यालय और सरकारी सहायता–प्राप्त विद्यालय हैं; हालांकि प्रकट रूप में उनमें अन्तर है लेकिन शिक्षण और उससे सम्बन्धित गुणवत्ता के सभी व्यावहारिक प्रयोजनों से सरकारी और सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालय एक–समान ही हैं। दोनों श्रेणियों में विद्यालयों का वित्तपोषण सरकार द्वारा किए जाने के अलावा, कर्मचारियों की भर्ती, प्रयोगशालाओं, पुस्तकालयों आदि जैसे शैक्षिक बुनियादी ढाँचे के मामले में दोनों ही मार्ग–निर्देश एक जैसे बल्कि एक ही नियमों और विनियमों द्वारा होता है; सामान्य पाठ्यचर्याओं, पाठ्यपुस्तकों और परीक्षाओं का उल्लेख करना अनावश्यक है।

चूंकि विद्यालयों में शिक्षण विज्ञान के प्रयोग का मूलभूत प्रयोजन शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार और उसका प्रबन्ध करना है, इसलिए भारतीय विद्यालयों की जांच मुरगाट्रोयड और मोर्गन (1993) द्वारा निर्धारित, गुणवत्ता प्रबन्ध की एक अन्य रूपावली (पैराडाइम) से करना उपयोगी होगा। पहुंच और सेवा में भिन्नता के आधार पर विद्यालयों की चार जातीय (जेनेरिक) श्रेणियाँ है। पहुंच खुली अथवा प्रतिबन्धित, अर्थात् विशेष श्रेणी के विद्यार्थियों, जैसे– योग्यता, लिंग, धार्मिक–विश्वास आदि तक सीमित हो सकती है। सेवा आधारभूत अथवा सामान्य अथवा अधिक हो सकती है, जैसे सूचना प्रौद्योगिकी या खेल–कूद अथवा सांस्कृतिक गतिविधियों अथवा विज्ञान की शिक्षा पर विशेष जोर। दो धुरियों पर सेवा और पहुंच का उपयोग करके, यह रूपावली एक सांचा प्रस्तुत करती है जो आकृति 1 में दिया गया है।
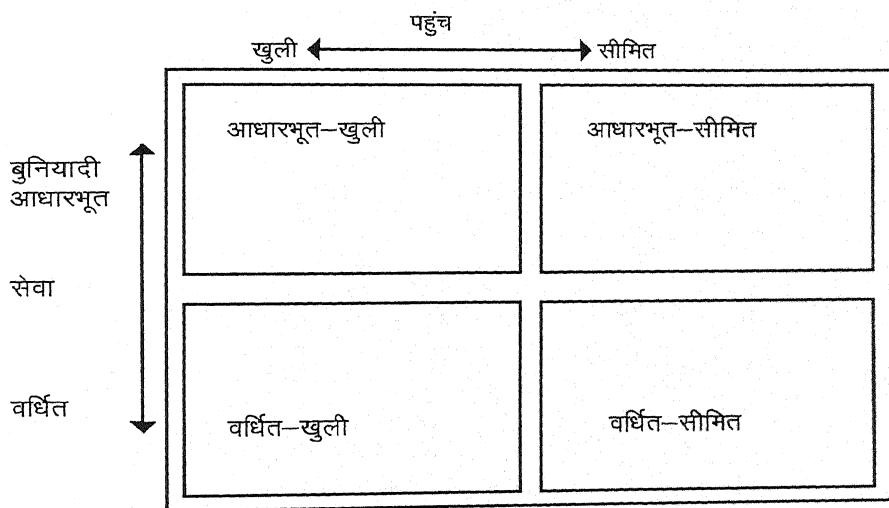
आकृति 1. स्कूलों की श्रेणियां

आधारभूत–खुली श्रेणी भारतीय स्कूलों का सर्वाधिक सामान्य रूप है। दूसरी सबसे बड़ी श्रेणी है आधारभूत–सीमित। चूंकि अधिकांश विद्यालय केवल आधारभूत सेवा प्रदान करते हैं, इसलिए वर्धित सेवा श्रेणी के विद्यालयों की संख्या बहुत कम है। उदाहरणार्थ, हमारे गाँव का विद्यालय उडांग गर्ल्स हाईस्कूल और भोपाल स्थित सेंट जोसेफ कान्वेन्ट स्कूल दोनों बालिका विद्यालय हैं और आधारभूत–सीमित की श्रेणी में आते हैं; लेकिन सेंट जोसेफ कान्वेन्ट विद्यार्थियों को केवल उनकी योग्यता के आधार पर प्रवेश देता है, जबकि ग्रामीण स्कूलों में शिक्षा पाने की इच्छुक प्रत्येक बालिका के लिये प्रवेश खुला है। एक अन्य मामले में, मध्यग्राम हाईस्कूल, जिसने कई बार फुटबाल में सुब्रोतो कप जीता है, वर्धित–खुली श्रेणी के अन्तर्गत आता है, जबकि कोई भी खेल विद्यालय (स्पोर्ट्स सकूल) वर्धित–खुली श्रेणी से सम्बन्धित होता है।

शिक्षण विज्ञान और शिक्षा की गुणवत्ता की दृष्टि से, आधारभूत–सीमित श्रेणी के स्कूल आधारभूत–खुली श्रेणी के स्कूलों की तुलना में अधिक उन्नत होते हैं। चूंकि वर्धित सेवा श्रेणी के स्कूलों की संख्या बहुत कम है, उसी तरह सीमित श्रेणी की भी, इसलिए हमारा सरोकार आधारभूत–खुली श्रेणी के स्कूलों पर बहुत अधिक केन्द्रित है। चूंकि उपरोक्त श्रेणी के अन्तर्गत 11,000 से अधिक अथवा 94 प्रतिशत से अधिक विद्यालय आते हैं, इसलिए यह उचित होगा कि हम यत्र–तत्र किसी बात को स्पष्ट करने के लिए, जो जरूरी हो, अन्य किस्मों के विद्यालयों का हवाला देने के सिवाय, अपने विश्लेषण को इस श्रेणी के स्कूलों तक सीमित रखें। कार्यनीति के रूप में, हम इस बात की जाँच करेंगे कि अधिकांश भारतीय स्कूलों में शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रत्येक अंग को किस हद तक अपनाया गया है।

इसके अलावा, यद्यपि मुद्दा विद्यालयों में शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग का है, किन्तु अनुप्रयोग से पहले की कई अवस्थाएं हैं, जो नीचे दी जा रही हैं :

- शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विभिन्न अंगों की जानकारी और समझ,
- विभिन्न अंगों का सापेक्ष महत्व और उनके प्रभाव–क्षेत्र,
- शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आगमन और अनुप्रयोग की योजना बनाने के तरीके,
- शिक्षा पर, और इस प्रकार विद्यार्थियों की संवृद्धि और उनके विकास पर शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग के प्रभाव के परिवीक्षण (मानीटरिंग) और मूल्यांकन के तरीके।

हमें यहाँ थोड़ा रूक कर विद्यालयों में शिक्षण विज्ञान और प्रौद्योगिकी की, उसकी विभिन्न अवस्थाओं में, उपस्थिति और उसके अपनाए जाने की जाँच करने की जरूरत है।

शिक्षण विज्ञान के अंग :

'शिक्षण' शब्द के साथ अनेक शब्द और वाक्यांश जुड़े हुए हैं। सर्वाधिक सामान्य है 'शिक्षण विज्ञान', 'शिक्षण प्रौद्योगिकी' और 'शिक्षण अभिकल्प' (डिजायन)। हमारे आंकलन के अनुसार, शिक्षण विज्ञान शिक्षण की प्रक्रिया को सैद्धान्तिक रूप प्रदान करता है। 'शिक्षण अभिकल्प' के अर्थ का पता अभिकल्प शब्द से स्वयमेव लग जाता है। अभिकल्प को स्वयं एक विज्ञान बताया गया है (वान पातेन, 1989)।

शिक्षण विज्ञान को उस समूचे 'अभिकल्प विज्ञान' का भाग समझा जाता है। अभिकल्प वैज्ञानिकों का दावा है कि कोई वस्तु उतनी ही अच्छी होती है, जितना कि उसका अभिकल्प और अभिकल्प का कार्यान्वयन। इस प्रकार, एक आम आदमी की समझ के अनुसार, इसका अर्थ किसी प्रयोजन वाली कार्य–योजना भी हो सकता है; और शिक्षण प्रौद्योगिकी शिक्षण अभिकल्प पर आधारित शिक्षण विज्ञान का व्यावहारिक अथवा अनुप्रयुक्त पहलू है। अंगों का विश्लेषण करने के लिए इन तीनों को बिल्कुल अनन्य क्षेत्रों के रूप में अलग–अलग करना बड़ा कठिन है। इसलिए, हम शिक्षण विज्ञान में शिक्षण अभिकल्प और शिक्षण प्रौद्योगिकी को शामिल मानेंगे। तदनुसार, शिक्षण विज्ञान के निम्नलिखित अंग है :

- शिक्षण के लक्ष्य;
- पाठ्यचर्या और विषय–वस्तु;
- शिक्षण सामग्री;
- शिक्षण के तरीके और माध्यम;
- शिक्षण का आंकलन; और
- शिक्षण कार्यक्रम का मूल्यांकन।

यह जाहिर है कि शिक्षण विज्ञान, जितना समझा जाता है उससे कहीं अधिक सम्पूर्णतावादी है, और कक्षा में शिक्षण के तरीकों तक सीमित है। शिक्षण विभाग के तत्व एक–दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। जैसाकि पहले कहा गया है, कि इन सभी तत्वों के बीच एक जटिल और सहजीवी सम्बन्ध है। आमतौर पर इन्हें एक प्रणाली रूपी आरेख (आकृति 2) के रूप में दर्शाया जाता है।

इस आरेख में यह दर्शाया गया है कि अभिकल्प की प्रत्येक अवस्था उससे पहली अवस्था से जुड़ी हुई है, जैसे पाठ्यक्रम और विषय–वस्तु सम्बन्धी निर्णय शिक्षण के लक्ष्यों की परिभाषा पर आधारित हैं और शिक्षण के तरीके और माध्यम शिक्षण के लक्ष्यों और पाठ्यक्रम पर आधारित है। विभिन्न तत्वों के बीच के ज्ञान परस्पर–सम्बन्धों के अलावा, शिक्षण विज्ञान के लिए शिक्षा के प्रति एक सुव्यवस्थित दृष्टिकोण/उपागम और निरन्तर सुधार और प्रभावकारिता में वृद्धि के एक तन्त्र की आवश्यकता है। इसका पता प्रणाली के अभिकल्प के अन्दर निर्मित मूल्यांकन और फीडबैक के तत्वों से पता चलता है।

शिक्षण विज्ञान के विभिन्न अंगों का निरूपण परस्पर–सम्बन्धों की रूपरेखा में करने के बाद, आइए अब हम विद्यालयों में उसकी उपस्थिति और शिक्षा पर उनके प्रभाव की जाँच करें। लेकिन, हमें यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि शिक्षण विज्ञान को कार्यान्वित करने अथवा उसका उपयोग करने में अध्यापकों (जैसे– शिक्षा के सम्पूर्णतावादी लक्ष्य, कार्यक्रम मूल्यांकन) और राज्य और राष्ट्रीय अभिकरणों की (उदाहरणार्थ पाठ्यचर्या, शिक्षण सामग्री) विशिष्ट भूमिकाएं हैं। इस प्रकार, विद्यालयी पढ़ाई की गुणवत्ता में सुधार के लिये शिक्षण विज्ञान का उपयोग करना एक प्रणालीगत कार्य है, जिसमें केवल कक्षाओं में पढ़ाने वाले अध्यापक ही नहीं, बल्कि बहुत–से अन्य 'खिलाड़ी' भी अपनी भूमिका निभाते हैं।
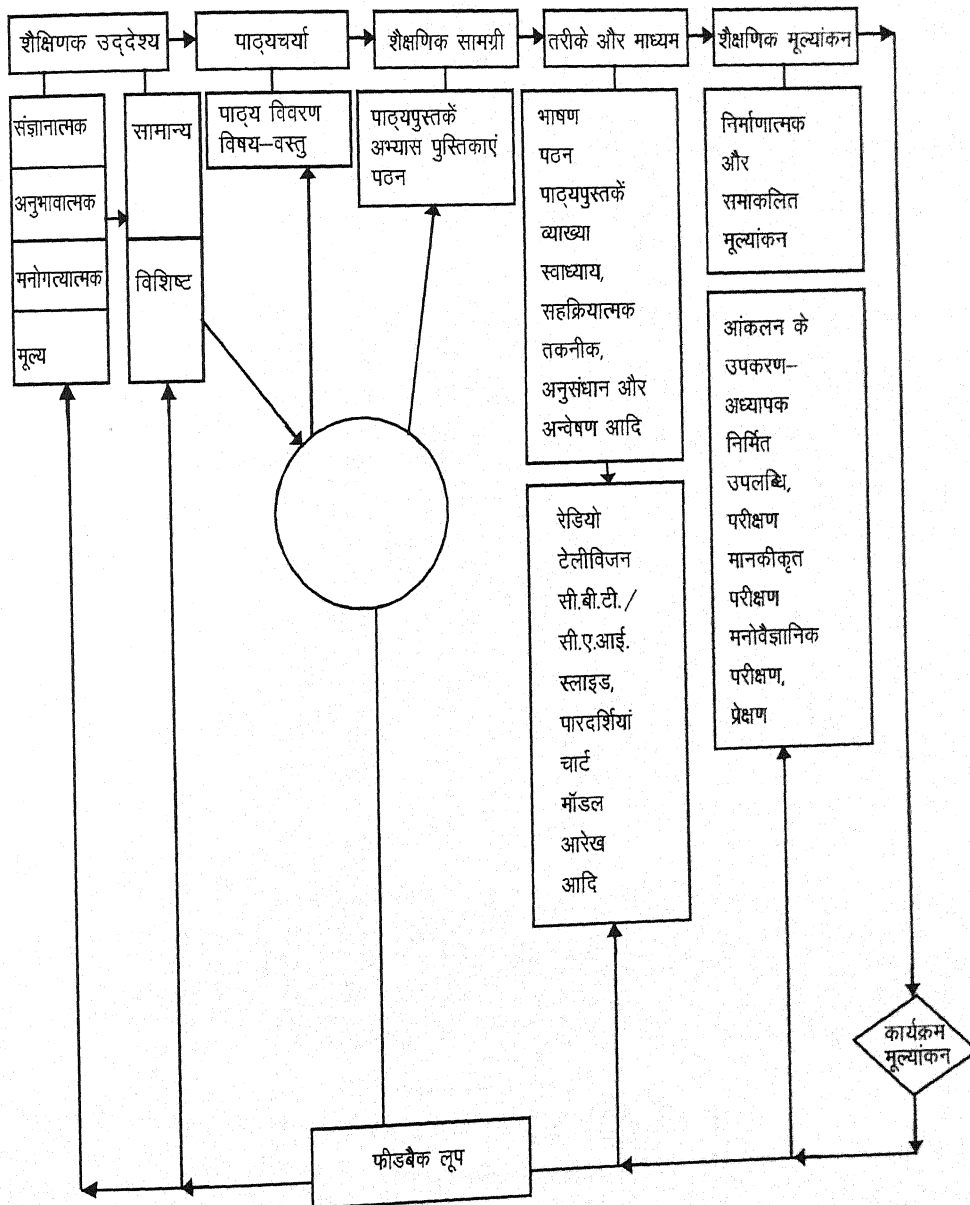
आकृति 2 : शैक्षणिक विज्ञान की रूपरेखा

शिक्षण के लक्ष्य :

प्राथमिक और माध्यमिक दोनों स्तरों पर, अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रत्येक पाठ के लक्ष्य और उद्देश्य उस पाठ की योजना में विनिर्दिष्ट किए जाने की अपेक्षा की जाती है। पाठ–आयोजन के पारम्परिक तरीकों के अनुसार, ये लक्ष्य सामान्य और विशिष्ट उद्देश्यों के रूप में विनिर्दिष्ट किए जाते हैं। लगभग बिना किसी भिन्नता के, ये उद्देश्य संज्ञानात्मक क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं और प्रायः संज्ञान के अपेक्षाकृत निचले स्तर के होते हैं। किन्तु, यदि हम शिक्षण को एक अधिक सम्पूर्णतावादी प्रक्रिया की रूप में देखें, जिससे बच्चे का जीवन के हर क्षेत्र जैसे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, में विकास होता है, तो शिक्षण के उद्देश्यों को एक अधिक व्यापक रूप में देखा जाना जरूरी है। मौजूदा साहित्य और अनुभवों से पता चलता है कि स्कूलों में शिक्षण के लक्ष्यों का सम्बन्ध संज्ञानात्मक, अनुभावात्मक, मनोगत्यात्मक और मूल्यों के क्षेत्रों से है। यद्यपि मूल्यों को भावों के क्षेत्र का भाग दर्शाया गया है, लेकिन इसे एक बिल्कुल अलग क्षेत्र के रूप में देखा जाना चाहिये।

प्रत्येक क्षेत्र के उद्देश्य एक बहुस्तरीय वर्गीकरण से सम्बन्धित है। संज्ञानात्मक अनुभावात्मक और मनोगत्यात्मक और मूल्यों के क्षेत्रों के वर्गीकरण आकृति 3 में दिये गए है।
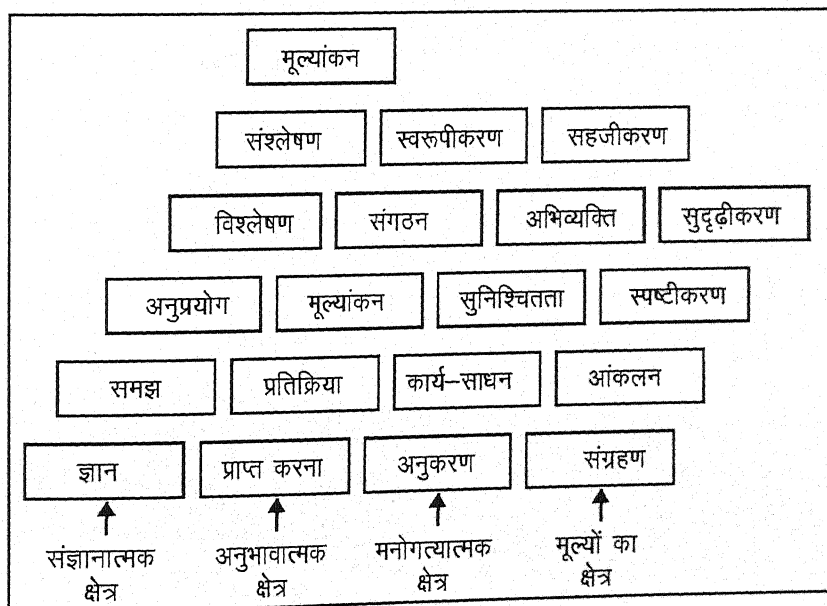
आकृति 3 : शैक्षिक उद्देश्यों के वर्गीकरण

स्रोत : संज्ञानात्मक, अनुभावात्मक और मनोगत्यात्मक क्षेत्रों के लिए श्रीवास्तव, एच.एस. और शौरी, जे.पी. इंस्ट्रक्शनल आब्जेक्टिव्स ऑफ स्कूल सब्जेक्ट्स, नई दिल्ली : एन.सी.ई.आर.टी. 1989

चार क्षेत्रों में से, संज्ञानात्मक, अनुभावात्मक और मनोगत्यात्मक क्षेत्रों के वर्गीकरण मानकीकृत हैं। इसके अलावा, विभिन्न क्षेत्रों में विभेदी व्यावसायिक निविष्टयाँ हैं। हालांकि भारत में प्रायः ब्लूम के शैक्षिक उद्देश्यों के वर्गीकरण का उल्लेख किया जाता है, लेकिन संज्ञानात्मक क्षेत्र में बहुत–से अन्य वर्गीकरण हैं। रीगेलुथ और मूर (1999) ने संज्ञानात्मक क्षेत्र में अधिगम के ब्लूम, गागने, ऑसूबेल, एंडरसन और मेरिल द्वारा निर्मित ऐसे वर्गीकरणों का एक व्यापक पुनरीक्षण प्रस्तुत किया है। मेरिल (1994 और 1999) ने शैक्षणिक अभिकल्प के बारे में एक विस्तृत व्यावसायिक निविष्ट प्रस्तुत की है। लेकिन इस बारे में यह विवाद है कि वर्गीकरण की अनम्य रूपरेखाओं को किस हद तक उपयोग में लाया जा सकता है। बैंजामिन ब्लूम ने बाद के वर्षों में स्वयं अपनी स्थिति अथवा राय में परिवर्तन कर लिया था। संयुक्त राज्य अमेरिका के वर्ष 2000 के बेब आयोग के इस ऐतिहासिक कथन ने कि हम इस बारे में बहुत कम जानते हैं कि बच्चे किस प्रकार सीखते हैं, वर्गीकरणों की मान्यता के बारे में गम्भीर प्रश्न खड़े कर दिए हैं। अधिगम के बहु–माध्यमों वाले वातावरण में पलने वाले बच्चे स्कूलों में अपने साथ अनेक प्रकार के अनुभवो, मूल्यों और पृष्ठभूमियों को लेकर आते हैं। डेलोर आयोग के शब्दों में, "पूरा विश्व कक्षा में आता है" (यूनेस्को, 1996)।

मूल्यों के क्षेत्र का वर्गीकरण अभी काल्पनिक स्तर पर है (मुखोपाध्याय, 2001)। यद्यपि अनुभावात्मक क्षेत्र में मूल्यों का स्थान तीसरा है, लेकिन इस बात को देखते हुए कि मूल्य मानव जीवन में क्रांतिक भूमिका निभाते हैं, इन्हें एक अलग क्षेत्र के रूप में माना जाना चाहिए। ये मूल्य ही हैं, जो एक स्थिति में, जिसमें बहुत–से विकल्प उपलब्ध हों, मानवीय आचरण[165] का चुनाव निर्धारित करते है।

---

165. मूल्य किसी व्यक्ति के आचरणात्मक निर्णयों का आधार होते हैं। हम इस बात को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण देते हैं। एक लड़का देखता है कि उसके आगे चलने वाले व्यक्ति से कुछ रूपया जमीन पर गिर गया है। यहाँ वह लड़का कई तरीकों से व्यवहार कर सकता है।

(अ) वह रूपए को उठाकर अपनी जेब में डाल सकता है।

(ब) वह इसकी उपेक्षा करता है और अपने काम पर चला जाता है।

(स) वह चिल्लाकर अपने आगे जाने वाले व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करता है।

(द) वह रूपए को उठाता है और दौड़कर उसे अपने आगे जाने वाले व्यक्ति को दे देता है।

ये व्यवहार के चार नमूने है। बहुत से और भी हो सकते है। ऐसी क्या चीज है जो लड़के को बहुत से विकल्पों में से एक विकल्प चुनने के लिए प्रेरित करती है। वह है, मूल्य। दूसरे शब्दों में, यदि चोरी एक गलत मूल्य नहीं है जो वह सिक्के को उठाकर अपनी जेब में डाल लेगा। इसके विपरीत, यदि दूसरों की सहायता करना मूल्य है तो वह सिक्के को उठा लेगा और दौड़कर उस व्यक्ति को दे देगा।

यद्यपि वर्गीकरण के निर्माण के लिए विस्तृत सोच–विचार और अनुसंधान की आवश्यकता होती है, लेकिन प्रारम्भिक आंकलन से एक चार चरणों वाला मॉडल उपलब्ध होता है, अर्थात्

- मूल्यों का संग्रह
- मूल्यों का आंकलन
- मूल्यों का स्पष्टीकरण
- मूल्यों का सुदृढ़ीकरण

मूल्यों का संग्रह एक खास किस्म के व्यवहार को अपनाने का पहला कार्य है, जिसके साथ इसके गुण–दोष को आंकने और इसे एक स्वीकार्य व्यवहार के रूप में आत्मसात करने का कोई सम्बन्ध नहीं है– एक बच्चा अवलोकन करता है और उस व्यवहार का अनुकरण करता है। मूल्य का आकलन तब होता है जब कोई व्यक्ति आन्तरिक रूप से किसी खास व्यवहार का आंकलन उसके ठीक या गलत होने के बारे में निर्णय करने के लिये करता है। मूल्यों का स्पष्टीकरण वह प्रक्रिया है, जब मूल्यों के एक समूह का सामना किसी वैकल्पिक समूह से होता है अथवा किसी विशेष प्रकार के व्यवहार संबंधी विकल्प की पड़ताल वैकल्पिक व्यवहारों से की जाती है। ऐसा प्रायः तब होता है, जब बच्चा घर और पास–पडोस के जाने–पहचाने अनुकूल वातावरण से बाहर निकलकर स्कूल आता है, जहाँ पर विभिन्न प्रकार के घरों के बच्चे अपने साथ विभिन्न प्रकार के मूल्य अथवा आचरणात्मक विकल्प लेकर आते हैं। इसके परिणामस्वरूप, मूल्यों के संविलयन अथवा मूल्य के अन्तरण अथवा मूल्यों में परिवर्तन के जरिये मूल्यों का स्पष्टीकरण होता है। मूल्यों का सुदृढ़ीकरण वह प्रक्रिया है, जिसमें किसी व्यवहार को बार–बार दुहरान्त के सकारात्मक प्रबलीकरण के जरिये मूल्यों को कोई समूह सुदृढ़ बन जाता है।

इस पृष्ठभूमि में, यदि हम अब स्कूलों को देखेंगे तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि शैक्षणिक विज्ञान द्वारा शिक्षण के जो लक्ष्य प्रस्तुत किये गए हैं, उनका हमारे अधिकांश भारतीय स्कूलों के संज्ञानात्मक क्षितिज में अभाव है। यदि कुछ है भी जो वह यह कि संज्ञानात्मक लक्ष्यों का संज्ञान केवल ज्ञान और समझ, और अंशतः अनुप्रयोग तक सीमित है। संज्ञान के उच्च स्तरों का स्पष्ट रूप से अभाव है। हालांकि खेल–कूद जैसे कुछ शारीरिक क्रियाकलाप होते हैं, लेकिन मनोगत्यात्मक लक्ष्यों की जानकारी और मानसिक और गत्यात्मक गुणों के बीच के सम्बन्धों की जानकारी का

भारतीय स्कूलों में नितान्त अभाव है। सबसे गम्भीर बात यह है कि अनुभावात्मक क्षेत्र में भावों की अभिव्यक्ति और भावात्मक परिपक्वता और भावात्मक बुद्धि सम्बन्धी शिक्षा का अभाव है। मूल्यों की शिक्षा और मूल्यों के संचार को अपने आप घटित होने वाली बात मान लिया जाता है। इसके अपवाद है, धार्मिक और सामाजिक–धार्मिक संस्थाओं द्वारा संचालित स्कूल, जैसे डी.ए.वी. स्कूल, रामकृष्ण मिशन स्कूल, भारतीय विद्या भवन, चिन्मय मिशन स्कूल, कृष्णमूर्ति प्रतिष्ठान की संस्थाएं, गुरू हरकिशन स्कूल, इस्लामी संस्थाएं जैसे मदरसे, ईसाई मिशनरियों के स्कूल आदि जहाँ मानवीय मूल्यों की शिक्षा एक सोची–समझी योजनाबद्ध प्रक्रिया है। वस्तुतः भारतीय स्कूलों में मूल्य भरने के कार्यक्रम कुछ 'वर्धित सेवाओं' में से एक है। पिछले कुछ समय से मानवीय मूल्यों की शिक्षा देने की योजनाबद्ध प्रक्रिया की जरूरत महसूस की जा रही है। हाल में प्रकाशित *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा* में मानव मूल्यों की शिक्षा के मुद्दे पर चर्चा की गई है। (एन.सी.ई.आर.टी. 2000)

अधिगम के लक्ष्यों के ज्ञान को स्वयं अधिगम का एक सशक्त साधन, विशेष रूप से बड़ी उम्र के शिक्षार्थियों के लिए, स्वीकार किया जा रहा है (नाउल्ज्.1984)। इन लक्ष्यों के प्रत्यक्ष ज्ञान, उन्हें परिभाषित करने के सचेतन प्रयासों और उन्हें कार्य रूप देने की योजना का अभाव भारतीय स्कूलों की विशेषता है, जो अधिगम की प्रक्रिया को कम कुशल बना देती है।

पाठ्यचर्या और विषय-वस्तु :

पाठ्यचर्या, पाठ्यविवरण और विषय–वस्तु को स्कूली पढ़ाई के सार–तत्व की तीन तहें समझा जा सकता है। पाठ्यचर्या बच्चे के विकास के पथ निर्धारित करती है। पाठ्यविवरण से रूपरेखा बनती है और वे पाठ्यचर्या के मार्ग के मील के पत्थर हैं। विषय–वस्तु पाठ्यविवरण का ब्योरा है–दूसरे शब्दों में पाठ्यचर्या दो कदमों में खोले जाने पर विषय–वस्तु बन जाती है। पाठ्यचर्या की रूपरेखा राष्ट्रीय स्तर पर तैयार की जाती है। कौशलों और योग्यताओं के सुपरिभाषित राष्ट्रीय मानकों की अनुपस्थिति में, पाठ्यचर्या की रूपरेखा से मार्गों का निर्धारण ढीले–ढाले रूप में होता है। इस रूपरेखा का उपयोग प्रत्येक ग्रेड और प्रत्येक विषय के लिये पाठ्यविवरण (सिलेबस) विकसित करने के लिए किया जाता है। इस कार्य में बहुत–सी समस्याएं आती हैं। राष्ट्रीय रूपरेखा होने के कारण, यह अत्यधिक केन्द्रीयकृत होती है; इस रूपरेखा में, प्रकट रूप से, देश की व्यापक विविधता को

शामिल करने की अपनी सीमाएं हैं। अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह 'ग्राहक की आवश्यकता' को पूरा नहीं कर पाती– मरूस्थलीय क्षेत्र और समुद्रतटवर्ती इलाकों के बच्चों को, दिल्ली अथवा मुम्बई जैसे महानगरों के बच्चे को और मध्यप्रदेश के दूरस्थ जनजातीय क्षेत्रों और निकोबार दीपसमूह के बच्चों को सीखने के लिए एक ही अथवा एक जैसी विषय–वस्तु प्रस्तुत की जाती है।

यद्यपि संशोधित पाठ्यचर्या रूपरेखा (एन.सी.ई.आर.टी. 2000) में बच्चे की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने की भरसक कोशिश की गई है, लेकिन, निःसन्देह, विश्वासपूर्वक यह दावा करना बड़ा कठिन है कि पाठ्यचर्या की रूपरेखा में विभिन्न क्षेत्रों के उद्देश्यों के वर्गीकरणों का पूरी तरह से ध्यान रखा गया है। चूंकि यह रूपरेखा केन्द्रीयकृत है, इसलिए स्कूलों को पाठ्यचर्या की योजना बनाने में अपनी कोई भूमिका दिखाई नहीं देती। अधिकतर स्कूलों में अभी यह बोध नहीं हुआ है कि पाठ्यचर्या सभी क्षेत्रों अर्थात् संज्ञान, भाव, मनोगति और मूल्यों के क्षेत्रों में बच्चों के विकास का मार्ग है। स्कूलों की नीति और वातावरण में पाठ्य–विषयों और उन्हें पूरा करने को ही प्रमुखता दी जाती है, जिसका अर्थ है अध्यापक द्वारा कक्षा में विषय–वस्तु के प्रत्येक पहलू के बारे में चर्चा करना।

लेकिन इस सामान्य परिदृश्य में कुछ अपवाद भी हैं और पाठ्यचर्या की योजना बनाने के सार्थक प्रयास भी हैं। उदाहरण के लिए बहुत–सी फीस लेने वाली प्राइवेट संस्थाओं में पाठ्यचर्या की वार्षिक योजना बनाने की प्रथा है। ऐसी योजनाओं में न केवल पाठ्य–विषयों को समाविष्ट करने की कार्य–योजना शामिल होती है, जिसमें क्रम–निर्धारण और सापेक्ष जोर शामिल होता है, बल्कि विषय–वस्तु को समृद्ध बनाने और उसकी अनुपूर्ति, आदि करने के क्षेत्रों का उल्लेख भी होता है। फिर भी हमें पाठ्यचर्या पर अपेक्षाकृत व्यापक अर्थो में विचार करना चाहिए, जिसमें स्कूल को बच्चे के विकास के लिए मार्ग निर्धारित करना होता है।

शैक्षणिक सामग्री :

शैक्षणिक विज्ञान में हुए विकास के अनुसार, शैक्षणिक सामग्री के कई रूप हो सकते हैं, जैसे मुद्रित, श्रव्य और दृश्य, सी.डी.–रोम का इलेक्ट्रानिक मोड, ऑन–लाइन वेब–आधारित सामग्री आदि। इन विभिन्न प्रकार की सामग्रियों के अलावा, कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्त और व्यवहार हैं, जो इन सामग्रियों को कम वैज्ञानिक से अधिक वैज्ञानिक के सातत्य में रखते हैं, जिससे अधिगम की प्रभावकारिता

पर प्रभाव पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय और भारतीय अनुसंधान के व्यापक आधार से संकेत मिलता है कि आयोजित, संरचित, अर्ध–आयोजित और सह–क्रियात्मक शैक्षणिक सामग्री से बेहतर शिक्षण में योगदान मिलता है। श्रव्य, दृश्य, कंप्यूटर–आधारित शैक्षणिक सामग्रियाँ, बिना किसी अपवाद के, संरचित होती है। संरचित मुद्रित सामग्री के बारे में किए गए अनेक अनुसंधानों और प्रयोगों से पता चलता है कि संरचित सामग्री पाठ्यपुस्तकों जैसी असंरचित मुद्रित सामग्री से बेहतर होती है। किसी सामान्य संरचित मुद्रित सामग्री के ये घटक होते हैं :

- प्रस्तावना
- उद्देश्य
- विषय–वस्तु
- अवधारणा I, स्पष्टीकरण, उदाहरण, व्युत्पत्ति
- पाठ में प्रश्न
    - अवधारणा II, स्पष्टीकरण, उदाहरण, व्युत्पत्ति
    - पाठ में प्रश्न
    - अवधारणा III, स्पष्टीकरण, उदाहरण, व्युत्पत्ति
    - पाठ में प्रश्न

    इसी प्रकार आगे
- सारांश
- यूनिट की समाप्ति पर प्रश्न
- संदर्भ और सुझाई गई पठन–सामग्री

प्रस्तावना, उद्देश्यों का विवरण, सामग्री का छोटे–छोटे टुकड़ों में प्रस्तुतीकरण और बीच–बीच में पाठ के प्रश्नों द्वारा अधिगम की जांच करने का तरीका मनोवैज्ञानिक रूप से अधिक स्वस्थ तरीका है (परहार, 1999) और पारम्परिक पाठ्यपुस्तकों से अधिक प्रभावकारी पाया गया है।

स्कूलों में सबसे अधिक सामान्य और लगभग एक ही प्रकार की शैक्षणिक सामग्री है, पाठ्यपुस्तकें। पाठ्यपुस्तकें पारम्परिक फार्मेट में तैयार की जाती हैं, जिसका उस विषय पर शैक्षणिक विज्ञान के योगदान से दूर का भी नाता नहीं होता। पाठ्यपुस्तकों और संरचित शैक्षणिक सामग्रियों की उनके वैज्ञानिक आधार की दृष्टि से कई दिलचस्प तुलनाएं की गई हैं। स्कूल के स्तर पर, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय (नेशनल ओपन स्कूल) मुद्रित रूप में संरचित शैक्षणिक सामग्री का उपयोग करता है,

जबकि एन.सी.ई.आर.टी. पारम्परिक पाठ्यपुस्तकें प्रस्तुत करता है। उपरोक्त का उपयोग या तो उसी रूप में किया जाता है, जिस रूप में वे हैं, अथवा राज्यों के अधिकांश पाठ्यपुस्तक ब्यूरो द्वारा थोड़े–बहुत रूपान्तरण के साथ उन्हें अपना लिया जाता है। इस क्षेत्र में स्कूलों की बहुत कम भूमिका होती है, क्योंकि स्कूल उन्हीं पुस्तकों का उपयोग करते है जो राज्यों द्वारा विहित की जाती हैं। ऐसे क्रांतिक क्षेत्र में शैक्षणिक विज्ञान का उपयोग न किए जाने के कारण ही जांच राष्ट्रीय और राज्य स्तरों पर की जानी चाहिए, जहाँ पाठ्यपुस्तकें तैयार की जाती हैं।

एक विचारधारा के अनुसार पाठ्यपुस्तकें उस मुद्रित सामग्री की तरह की नहीं हो सकतीं, जिसका उपयोग मुक्त और दूरस्थ शिक्षा में किया जाता है। जब तक उत्पादन की लागत का प्रबन्ध किया जा सकता है, तब तक यह महत्वपूर्ण है कि सामग्री को समनुदेशनों, पाठ में शामिल प्रश्नों, चित्रों, उदाहरणों आदि से संरचित किया जाए, विशेष रूप से खुली–बुनियादी श्रेणी के स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए, जहाँ माता–पिता के निम्न–स्तरीय शैक्षणिक स्तर के कारण बच्चे को घर में न्यूनतम शैक्षिक सहायता उपलब्ध होती है।

जैसा कि पहले कहा गया है कि 'पाठ्यचर्या' एक अवधारणा के रूप में स्कूलों में विद्यमान नहीं है; इसे पाठ्य विवरण और विषय–वस्तु के बराबर समझा जाता है। यह राष्ट्रीय और राज्य स्तरों पर पाठ्यपुस्तकों के लेखकों के संज्ञानात्मक क्षितिज में भी उतना ही अनुपस्थित है। वैज्ञानिक मुद्रित सामग्री के लिए शैक्षणिक विज्ञान की समझ, उसका अनप्रयोग करने की इच्छा के साथ–साथ विषय–वस्तु का ज्ञान तथा विशेषज्ञता का होना भी जरूरी है। पाठ्यचर्या समितियों, या यों कहें कि पाठ्यपुस्तक लेखन समितियों में केवल विषय के विशेषज्ञ शामिल होते हैं। इन समितियों में शैक्षणिक अभिकल्प और/अथवा शैक्षणिक विज्ञान के विशेषज्ञ नहीं होते। पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तक समितियों में शामिल विषय सम्बन्धी विशेषज्ञों में शैक्षणिक विज्ञान के प्रति अवमान की भावना दिखाई देना कोई असामान्य बात नहीं है। इसके विपरीत, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय में, जो स्कूल स्तर की मुद्रित सामग्री का भी निर्माण करता है, कार्यरत विषय–विशेषज्ञ शैक्षणिक विज्ञान में प्रशिक्षित है; वे न केवल पाठ्यक्रम की रचना करने वाले दलों के सदस्य होते हैं, बल्कि ऐसी समितियों के समन्वयकर्ता भी होते हैं। राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय में सामग्रियों की समीक्षा शैक्षणिक विज्ञान के दृष्टिकोण से की जाती है। दुर्भाग्यवश, राष्ट्रीय और राज्य अभिकरणों द्वारा

तैयार और प्रकाशित की जाने वाली पाठ्यपुस्तकों के मामले में ऐसा नहीं होता। इस प्रकार शिक्षण के इस क्रांतिक क्षेत्र में शैक्षणिक विज्ञान की निविष्ट का अधिकांशतः अभाव होता है।

सामग्री विकसित करने में शिक्षण विज्ञान का जो थोड़ा–बहुत उपयोग किया जाता है, वह केवल माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र तक सीमित है। प्राथमिक कक्षाओं के लिए शैक्षणिक सामग्री का अभिकल्प तैयार करने और सामग्री का विकास करने में राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर लगभग कुछ नहीं किया गया है। केवल डी.पी.ई.पी. के अन्तर्गत कुछ राज्यों ने विभिन्न किस्मों की ऐसी नवाचारात्मक शैक्षणिक सामग्री तैयार करने की कोशिश की है, जो शैक्षणिक डिजायन के सिद्धान्तों के अनुप्रेरित है।

शैक्षणिक विज्ञान के अनुप्रयोग का एक महत्वपूर्ण प्राचल है, सामग्री का आकर्षक होना और उसमें विद्यार्थियों के ध्यान को बनाए रखने की योग्यता होना। यह शैक्षणिक सामग्री के डिजायन और उत्पादन पर भी उतना ही निर्भर करता है। राष्ट्रीय और राज्य दोनों स्तरों पर जो पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित की गई हैं, वे ऐसी किसी भी खूबी से शून्य हैं। इस प्रकार, शैक्षणिक सामग्री शुष्क और अनाकर्षक होती है। वर्मा आयोग (भारत सरकार, 1999) की रिपोर्ट में भी इस बात का उल्लेख किया गया है।

तरीके और माध्यम :

शैक्षणिक प्रणालियों के समूचे संदर्भ में, अभिकल्प, तरीकों और माध्यमों का एक से अधिक कारणों से, बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। पहला यह कि विशेष रूप से संज्ञानेतर क्षेत्रों में बहुत–से लक्ष्यों की प्राप्ति तरीकों और माध्यमों पर निर्भर करती है। भावात्मक लक्ष्य, मूल्यों और संचार और कुछ संज्ञानात्मक लक्ष्य भी, जैसे सीखने के लिये सीखना, आदि शिक्षण के तरीकों से निर्धारित होते हैं। दूसरा यह कि शिक्षण की प्रक्रिया में तरीके और माध्यम आपस में अभिन्न रूप से सम्बन्धित होते हैं– कई बार ''सन्देश माध्यम होता है'' और कई अन्य अवसरों पर ''माध्यम संदेश होता है''। तीसरा यह कि शिक्षण के किसी अकेले तरीके से अधिगम के सभी क्षेत्रों में अथवा एक ही क्षेत्र के सभी स्तरों पर योगदान प्राप्त नहीं होता। विभिन्न शैक्षणिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न तरीकों और माध्यमों को चुनने की जरूरत है। चौथा यह कि सीखने की शैलियों में भिन्नता होती है– बच्चों के अन्दर–एक और दूसरे के बीच, और बच्चों के एक समूह और दूसरे समूह के बीच। तरीकों और माध्यमों के सही

चुनाव और विविधता से बच्चों के विभिन्न समूहों और शिक्षार्थियों के किसी एक समूह के अन्दर प्रत्येक बच्चे के इष्टतम शिक्षण/अधिगम में सहायता मिलती है। अन्तिम कारण यह कि बच्चे अधिगम के बहु–चैनलों वाले वातावरण में रहते हैं। अब वे स्कूल में अनुभव–शून्य *(ताबुला रासा)* के साथ नहीं आते; वे प्रारम्भिक कक्षाओं में भी अपने साथ सूचना और ज्ञान, बुद्धि और संवेगों, अभिवृत्तियों की छाप और अत्यंत विविधतापूर्ण शारीरिक और आध्यात्मिक खूबियों को लेकर आते हैं।

शैक्षणिक विज्ञान हमारे सामने अनेक प्रकार के तरीके जैसे पाठ्यपुस्तकों को पढ़ना और उनकी व्याख्या करना, व्याख्यान, संरचित प्रस्तुतीकरण, सहक्रियात्मक शिक्षण, अनुसंधान और अन्वेषण, स्वाध्याय, समूह के साथ–साथ सीखना, सहकारी अधिगम, परियोजना–आधारित समस्या समाधान आदि; और माध्यम जैसे छोटे और बड़े इलेक्ट्रॉनिक माध्यम, सहक्रियात्मक माध्यम जैसे सी.डी.रौम और वेब–आधारित शिक्षण; स्लाइडों, पारदर्शियों, चार्टों, मॉडलों आदि जैसे उपकरण प्रस्तुत करता है। शैक्षणिक विज्ञान ऐसी लचीली बहु–चैनलों वाली अधिगम प्रणाली अपनाने पर जोर देता है जिसमें विभिन्न प्रकार के ऐसे तरीकों और माध्यमों का इस्तेमाल किया जाए, जिनसे प्रत्येक बच्चे के अधिगम में इष्टतम योगदान मिले और उससे मानवीय अधिगम को इष्टतम बनाया जा सके। वास्तव में, इसका निहितार्थ यह होगा कि शिक्षार्थी को विभिन्न शैक्षणिक अभिकल्पों के जरिए अधिगम का अपना रास्ता तैयार करने की स्वतंत्रता और गुंजाइश हो (मुखोपाध्याय और परहार, 2001)।

शैक्षणिक तरीकों और माध्यमों से आश्चर्यचकित कर देने वाले विकास की पृष्ठभूमि में, जो कुछ स्कूलों में हो रहा है, वह बहुत उत्साहजनक नहीं है। कक्षाओं में अध्यापकों के आचरण के बारे में किए गए व्यापक अध्यापनों से पता चलता है कि उपवादों को छोड़कर, कक्षा में कार्य–सम्पादन करने की जो मुख्य कार्य–विधि अपनाई जाती है, वह है व्याख्यान अथवा शिक्षण के सीधे तरीके। वस्तुतः, व्याख्यान भी बहुत कम होते हैं, कक्षा का सर्वाधिक सामान्य दृश्य यह है कि अध्यापक कुर्सी पर बैठकर विहित पाठ्यपुस्तक से पढ़ता रहता है, कभी–कभार पाठ्यपुस्तक के कुछ पैराग्राफों की व्याख्या और उनका निर्वाचन करता है। प्रायः अध्यापक कक्षा में पाठ्यपुस्तक के साथ प्रवेश नहीं करता, बल्कि किसी एक विद्यार्थी से उसकी पुस्तक माँग लेता है, उस विद्यार्थी को किसी अन्य विद्यार्थी के साथ मिलकर पढ़ने के लिए

कहता है। इस प्रकार शैक्षणिक कार्यविधियों का विपुल भण्डार होने के बावजूद, अधिकांश अध्यापक अपने कार्य में पाठ्यपुस्तक पढ़ने और भाषण देने तक सीमित रखते है। निस्सन्देह कुछ बहुत बढ़िया अपवाद भी हैं। कुछ प्रगतिशील संस्थाएं विविध प्रकार की शैक्षणिक तकनीकों का उपयोग करती हैं, जैसे परियोजनाएं, सहकारी अधिगम, वीडियो की सहायता से शिक्षा इत्यादि।

महत्वपूर्ण बात यह है कि पाठ्यचर्या और शिक्षा की विषय–वस्तु के विपरीत शिक्षण के विभिन्न तरीकों को अपनाना कक्षा के अध्यापक के अधिकार क्षेत्र में होता है; उसे इस बारे में पूरी स्वतन्त्रता होती है। लेकिन, ऐसा होता नहीं है। परिणामतः शैक्षणिक तरीकों के केवल निम्न स्तर के संज्ञान का योगदान मिलता है। कुछ अध्यापकों में, हालांकि वे योग्य होते है; अभिप्रेरण और इच्छा शक्ति का अभाव होता है, कुछ अन्य में योग्यता और प्रतिबद्धता दोनों का।

माध्यमों के उपयोग का परिदृश्य भी निराशाजनक है। माइक्रो अनुसंधान अध्ययनों की श्रृंखला से स्कूल शिक्षा में सजीव(एनीमेटिड)माध्यमों के उपयोग की प्रभावकारिता का पता चलता है। लेकिन स्कूलों को जो रंगीन टेलीविजन सेट उपलब्ध कराए गए हैं, उनमें से आठ प्रतिशत से अधिक का उपयोग नहीं होता (मुखोपाध्याय और सिन्हा,1993)और जहां टी.वी. का उपयोग किया जाता है, वहाँ अधिगम पर शौक्षिक टेलीविजन कार्यक्रम के प्रभाव का कोई प्रमाण नहीं मिलता है (परहार, 1993) चाक बोर्ड को छोड़कर अधिकांश भारतीय स्कूलों की कक्षाओं में अन्य सहायक उपकरणों का उपयोग लगभग शून्य के बराबर है। अंग्रेजी माध्यम वाले कुछ शहरी स्कूलों के सिवाय, सहक्रियात्मक इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों तक पहुंच लगभग न होने के बराबर है। समूह–आधारित सह–क्रियात्मक शैक्षणिक तरीकों, स्व–शिक्षण के उपागमों, स्थानीय रूप से विकसित सहायक उपकरणों कों अपनाना भारतीय स्कूल अध्यापक की पहुंच के भीतर है। इसके बाबजूद, कक्षाओं में पाठ्यपुस्तकों से पढने और भाषण देने के पारम्परिक तरीके ही दिखाई देते है।

स्कूल कोई अलग–थलग संस्थाएं नहीं है; वे शिक्षा के समूचे वातावरण और शैक्षिक जाल (नेटवर्क) के अन्दर रहते हैं। अधिकांश अध्यापक अपने उन अध्यापकों से सीखते हैं और उनका अनुकरण करते हैं जो उनका आदर्श रहे हैं। पुरानी कार्यविधियों की प्रासंगिकता की जांच करने और निविष्ट का अवसर केवल प्रारम्भिक और बाद के आवर्ती अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रमों द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। स्कूलों की कक्षाएं काफी हद तक अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं की

कक्षाओं की प्रतिध्वनि होती हैं। उदाहरण के लिए, बहु–चैनल शैक्षिक वातावरण की दृश्य उपस्थिति के बावजूद, अध्यापक प्रशिक्षण कक्षाओं में पारम्परिक भाषणों की भरमार होती है; अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में व्यावहारिक पाठ अभी भी 'प्रत्यक्ष अध्यापन' के बारे में होते हैं। अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं में पारम्परिक तरीकों ओर माध्यमों के अपनाए जाने से स्कूल अध्यापकों में पारम्परिकता की जड़ें और मजबूत हो जाती है। सारी जिम्मेदारी अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं पर है; उन्हें रास्ता दिखाना चाहिए।

शिक्षण का आकलन :

जैसाकि आकृति 2 में दिखाया गया है, शैक्षणिक विज्ञान के दृष्टिकोण से आकलन के दो आयाम हैं– निर्माणात्मक (फार्मेटिव) बनाम समाकलित (सम्मेटिव) आकलन और आकलन के उपकरण और उसकी तकनीकें। लेकिन, शैक्षणिक विज्ञान की दृष्टि से आकलन के बहुत से अन्य निहतार्थ हैं। आकलन की कार्य–सूची शैक्षणिक लक्ष्यों के साथ अभिन्न रूप से सम्बन्धित होती है और उनसे अनुप्रेरित होती है। इसी प्रकार, आकलन के उपकरणों का चुनाव भी विषय–वस्तु और उसके स्तर और इसके अलावा तरीकों और माध्यमों से निर्धारित होता है।

जबकि पारम्परिक शिक्षा समाकलित मूल्यांकन और अन्तिम (एक्जिट) अर्थात् निर्गम परीक्षाओं पर भरोसा करती है, लेकिन शैक्षणिक विज्ञान निर्माणात्मक मूल्यांकन पर जोर देता है। निर्माणात्मक मूल्यांकन से एक ओर तो प्रगति की जाँच करने के पड़ावों की व्यवस्था होती है तो दूसरी ओर मध्यावधिक सुधार करने के अवसर प्राप्त होते है। निर्माणात्मक मूल्यांकन, यदि वह ठोस नींव पर आधारित हो, समाकलित मूल्यांकन की भूमिका और प्रासंगिकता को चुनौती दे सकता है। दसवीं कक्षा तक सार्वजनिक परीक्षाओं को समाप्त करने की सिफारिश निर्माणात्मक मूल्यांकन के वैज्ञानिक सिद्वान्त पर आधारित है।

दूसरा तत्व मूल्यांकन के उपकरणों का है। पारम्परिक आकलन निबन्ध किस्म की लिखित परीक्षाओं पर आधारित होता है। परीक्षण के बहुत–से तरीके हैं, जैसे लिखित परीक्षाओं, साक्षात्कारों और मौखिक परीक्षाओं के लिए परीक्षण की विभिन्न प्रकार की मदें, प्रेक्षण, समकक्ष (पीअर) मूल्यांकन, कार्य–निष्पादन, परीक्षण, मानकीकृत बनाम अध्यापक निर्मित परीक्षण, पहले से निर्धारित समय पर परीक्षण, वाल्क–इन / यदृच्छा परीक्षाएं आदि। शैक्षणिक लक्ष्यों की विविधता को देखते हुए, यह जरूरी है कि अनेक प्रकार की परीक्षण–तकनीकों को अपनाया जाए।

राज्य शिक्षा बोर्डों और शिक्षा विभाग के अनुदेश के अधीन, बहुत–से राज्यों में स्कूल आंकलन की अनेक प्रकार की तकनीकों का उपयोग करते हैं, जैसे नेतृत्व और सहयोग जैसे वैयक्तिक गुणों का प्रेक्षण, परियोजना रिपोर्ट (विषय), प्रयोग (विज्ञान और एस.यू.पी.डब्ल्यू.) निबन्ध और वस्तुपरक दोनों किस्मों की परीक्षाएं (विषयों के लिए), मौखिक परीक्षाएं (विषयों के लिए) आदि। स्कूल संचयी रिकार्ड भी रखते हैं, जिनमें मानवीय अधिगम के विभिन्न क्षेत्रों में बच्चे की संवृद्धि और उसके विकास की जानकारी रखी जाती है।

इस प्रकार, मूल्यांकन और आंकलन एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ शैक्षणिक विज्ञान की उपस्थिति दिखाई देती है। यद्यपि शैक्षणिक विज्ञान द्वारा सिफारिश की गई अनेक प्रकार की परीक्षण तकनीकें विद्यमान हैं, लेकिन उनकी गुणवत्ता विवाद से परे नहीं है। बहुत–से अध्यापक, यहाँ तक की अच्छे इरादों वाले अध्यापक भी नेतृत्व और ऐसे अन्य वैयक्तिक गुणों का प्रेक्षण करने और उन्हें अभिलेखबद्ध करने में और इसके अलावा मौखिक परीक्षाओं के अच्छे प्रश्न अथवा कौशल विकसित करने में कठिनाई व्यक्त करते हैं। आकलन के आधुनिकीकरण के लिए शैक्षणिक विज्ञान का बेहतर उपयोग करने के वास्ते अध्यापकों को प्रशिक्षण देना जरूरी है।

शैक्षणिक कार्यक्रम मूल्यांकन :

शैक्षणिक कार्यक्रम मूल्यांकन शैक्षणिक प्रणालियों के अभिकल्प (डिजाइन) का एक महत्वपूर्ण घटक है। इससे फीडबैक प्राप्त होता है, जिससे शैक्षणिक लक्ष्यों के विवरण, पाठ्यचर्या और विषय–वस्तु तथा उसके स्तरों, शैक्षणिक सामग्री, तरीकों और माध्यमों और आकलन की तकनीकों में सुधार किया जा सकता है। कार्यक्रम के मूल्यांकन के बहुत–से उपागम है। विद्यार्थी, अध्यापक, प्रधानाचार्य और माता–पिता कार्यक्रमों का मूल्यांकन करते हैं। कार्यक्रमों का मूल्यांकन संरचित अनुसूचियों, साक्षात्कारों, चर्चाओं, परिणामों के विश्लेषण, आदि से प्राप्त डेटा के आधार पर किया जा सकता है। यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि कार्यक्रम मूल्यांकन का प्राथमिक प्रयोजन एस.डब्ल्यू.ओ.टी. 'स्वोट' विश्लेषण करना है, ताकि कार्यक्रम की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए सूचना प्राप्त की जा सके। 'स्वोट' अंग्रेजी के चार शब्दों 'स्ट्रेंग्थ्स', 'वीकनेसिज', 'ऑपोर्च्यूनिटीस' और 'थ्रेट्स' के प्रारम्भिक अक्षरों – 'एस', 'डब्ल्यू', 'ओ' और 'टी' – से मिलकर बना है जिनका अर्थ है : शक्तियाँ, कमजोरियाँ,

अवसर और आशंकाएँ या डर। शैक्षणिक कार्यक्रमों का मूल्यांकन एक विशिष्ट अवधि के बाद और वर्ष के अन्त में किया जा सकता है। हालांकि प्रगतिशील प्राइवेट स्कूलों और राज्य क्षेत्रक के गुणवत्ता वाले स्कूलों में कार्यक्रमों की औपचारिक और/अथवा अनौपचारिक समीक्षा अथवा मूल्यांकन करना एक आम बात है, लेकिन अधिकांश स्कूलों में यह बात आम नहीं है।

शैक्षणिक कार्यक्रम मूल्यांकन के मुद्दे की जाँच, मुख्य रूप से गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए, गुणवत्ता–प्रबन्ध के प्राचल की दृष्टि से भी की जा सकती है। गुणवत्ता के सुनिश्चयन के बारे में विशाल मात्रा में व्यावसायिक साहित्य उपलब्ध है। ऐसे व्यावसायिक साहित्य में गुणवत्ता सुनिश्चित करने के अनेक तरीकों की जानकारी दी गई है, जैसे 'बैंचमार्किंग, आई.एस.ओ. 9001' श्रृंखला और टोटल क्वालिटी मैनेजमैंट इन एजुकेशन (मुखोपाध्याय 2001)। बेंचमार्किंग से गुणवत्ता के और कार्य–निष्पादन के स्वीकार्य स्तर के संकेतक उपलब्ध होते हैं। यह काम स्कूल–आधारित हो सकता है और इसमें एक स्कूल से दूसरे स्कूल में भिन्नता हो सकती है। आई.एस.ओ. 9001 श्रृंखला अधिक सामान्य और अंतर्राष्ट्रीय है और यह उत्पाद और प्रक्रिया दोनों के संकेतक प्रस्तुत करती है। समग्र गुणवत्ता प्रबन्धन के सतत गुणवत्ता सुधार के लिए संस्थात्मक तंत्र की व्यवस्था होती है।

निष्कर्ष :

समकालीन परिदृश्य अथवा स्थिति के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि शैक्षणिक विज्ञान और भारतीय स्कूली शिक्षा प्रणाली आपस में मिलने का कोई साधन ढूंढ़े बिना समानान्तर चल रहे हैं। यह समस्या प्रणालीगत और सर्वव्यापक है। जब अध्यापकों तक बात आती है तो शिक्षण और विद्यार्थियों के आकलन के वैज्ञानिक पहलुओं के बारे में उनकी प्रतिक्रिया भिन्न–भिन्न होती है, हालांकि वैज्ञानिक तरीकों को अपनाने में वे समान रूप से स्वतंत्र होते है। यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास एक मुख्य नारा है, लेकिन बिरले स्कूल ही, अधिगम के विभिन्न क्षेत्रों के आधार पर सम्पूर्णतावादी विकास की बात सोचते हैं। उपवादों को छोड़कर, अधिकांश स्कूल पाठ्यचर्या और शिक्षण की योजना नहीं बनाते। नीति के स्तर पर भी, अर्थात् पाठ्यचर्या के विकास पाठ्यपुस्तकों को तैयार और प्रकाशित करने, आदि में विज्ञान के तत्वों का अभाव रहता है।

शैक्षणिक विज्ञान एक निरन्तर बढ़ने का विज्ञान है। यह इस बात का अन्वेषण करता है कि मनुष्य कैसे सीखते हैं। यह विज्ञान मानव अधिगम को इष्टतम बनाने के लिए शैक्षणिक कार्यनीतियों को उसके अनुकूल बनाता है। कुल मिलाकर, माध्यमिक स्कूल ऐसे अनुसंधान के मुख्य केन्द्र–बिन्दु और उसकी मुख्य प्रयोगशाला रहे है, हालांकि प्राथमिक और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रयोग और अनुसंधान किए गए हैं। शिक्षण विज्ञान की मौजूदा स्थिति में मानवीय अधिगम को इष्टतम बनाने की विपुल संभावनाएं हैं। लेकिन, भारतीय स्कूलों ने मुख्यतः मानवीय अधिगम में शिक्षण विज्ञान के संभाव्य योगदान से अपरिचित होने के कारण, इसके लाभों की ओर से अपना मुंह मोड़ रखा है।

भारत में स्वायत्तता और स्कूल–आधारित प्रबन्ध ढाँचे के अभाव में, भारतीय स्कूलों द्वारा शैक्षणिक विज्ञान को अपनाने से इंकार करने अथवा उसके प्रति घटिया रूख अपनाने के कारण यह भी हो सकता है कि शैक्षणिक विज्ञान के बारे में राष्ट्रीय और राज्य अभिकरण की संसाधन संस्थाएं, जैसे विश्वविद्यालय और अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाएँ अपरिचित, उदासीन हैं और कई मामलों में वे इसके लिए योग्य भी नहीं हैं। भारतीय स्कूलों में शैक्षणिक विज्ञान का पर्याप्त अनुप्रयोग सुनिश्चित करने और भारतीय बच्चों को एक बेहतर व्यवहार देने के लिए राष्ट्रीय और राज्य अभिकरणों शैक्षिक संस्थाओं को, जिन्हें अध्यापकों को तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है, स्वयं तैयार होना जरूरी है।

(य) विभिन्न प्रयोगों द्वारा हस्तान्तरति शिक्षण-विधियाँ :

ऐसे कई शैक्षिक प्रयोग प्रारम्भ किये गये, जिनमें भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीयता, धार्मिकता, सामाजिकता, मानव कल्याण एवं व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर बल दिया गया। इनमें कुछ प्रमुख शैक्षिक प्रयोग निम्नवत् हैं–

1. विवेकानन्द एवं निवेदिता : शिक्षण-विधियाँ :-

(i) योग–विधि द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध करना।

(ii) ध्यान की एकाग्रता ही ज्ञान–प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।

(iii) तर्क, व्याख्यान, विचार–विमर्श, उपदेश–विधि आदि द्वारा ज्ञान का अर्जन करना।

(iv) अनुकरण–विधि द्वारा शिक्षक के उत्तम चरित्र, गुणों आदि का अनुकरण करना।

(v) व्यक्तिगत निर्देशन और परामर्श विधि द्वारा छात्र को उचित मार्ग पर अग्रसर करना।

2. महात्मा गाँधी : शिक्षण-विधियाँ .-

(i) लिखना सिखाने से पहले पढ़ना सिखना और वर्णमाला के अक्षर से सिखाने से पहले ड्राइंग सिखाना।

(ii) करके सीखना।

(iii) अनुभव द्वारा सीखना।

(iv) सीखने की प्रक्रिया में समन्वय।

3. रवीन्द्रनाथ टैगोर : शिक्षण-विधियाँ .-

(i) शिक्षण–विधि को बालक की स्वाभाविक रूचियों और आवेगों पर आधारित करना।

(ii) शिक्षण–विधि को जीवन की वास्तविक परिस्थितियों, प्रकृति को वास्तविक बातों और समाज के वास्तविक जीवन के अनुकूल बनाना।

(iii) शिक्षण–विधि में वाद–विवाद और प्रश्नोत्तर का प्रयोग करना।

(iv) शिक्षण–विधि में नृत्य, अभिनय, दस्तकारी आदि को स्थान देकर शारीरिक क्रिया को महत्व देना और इस प्रकार 'क्रिया–विधि' का प्रयोग करना।

(v) शिक्षण–विधि में बालक के अनुभवों एवं इन्द्रियों का प्रयोग करना।

(vi) टैगोर ने 'जीवनयापन द्वारा सीखने' पर बल दिया।

4. श्री अरविन्द घोष : शिक्षण-विधियाँ .-

(i) करके सीखना।

(ii) बालक का सहयोग।

(iii) बालक की स्वतंत्रता।

(iv) प्रेम व सहानुभूति का प्रदर्शन।

(v) बालक की रूचियों का अध्ययन।

(vi) शिक्षा का माध्यम–'मातृभाषा'।

(vii) बालक के निजी प्रयास व निजी अनुभव को प्रोत्साहन।

(viii) विषयों की प्रकृति के अनुसार बालक की शक्तियों का प्रयोग।

5. स्वामी दयानन्द सरस्वती : शिक्षण-विधियाँ .-

स्वामी दयानन्द ने शिक्षण की किसी मनोवैज्ञानिक विधि का प्रतिपादन नहीं किया है। यह सम्भव है कि शिक्षण–सम्बन्धी कोई बात मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुकूल अनुषंगिक रूप में मिल जाए, पर उन्होंने इस दृष्टि से शिक्षण–विधि के विषय में कोई बात नहीं कही है। उनके द्वारा प्रतिपादित की जाने वाली शिक्षण–विधि में अग्रलिखित की प्रधानता है– शब्दार्थ, व्युत्पत्ति, अनुवाद, व्याख्यान, प्रवचन और व्याकरण की दृष्टि से शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध।

सन्दर्भ :

एंजोलोन, एस. दि केस फार मल्टी–चेनल लर्निंग, एजालोन, एस. (सं.) : *मल्टीचेनल लर्निंग : कनेक्टिंग ऑल टू एजुकेशन,* वाशिंगटन, डीसी. : ई.डी.सी., 1995।

भारत सरकार : *फंडामेंटल ड्यूटीज आफ सिटिजन्स,* देश के नागरिकों को आधारभूत कर्तव्यों की शिक्षा देने के सुझावों को कार्यरूप देने के लिए भारत सरकार द्वारा गठित समिति की रिपोर्ट, नई दिल्ली, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, 1999।

नाउल्स, एन.एस. और एसोशिएट्स : एंड्रागोगी इन एक्शन सानफ्रांसिस्को, जोसे बास, 1984।

मेरिल, एम.डी. और ट्विचवेल, डी.जी. (सं.) : इंस्ट्रक्शनल डिजाइन थ्योरी, एंजलबुड क्लिफ्स, एन.जे. : एजुकेशनल टेक्नोलाजी पब्लिशन्स, 1994।

मेरिल, एम.डी. : इंस्ट्रक्शनल ट्रांजेक्शन थ्योरी (आई.टी.टी.) : इंस्ट्रक्शनल डिजाइन बेस्ड आन नालेज आब्जेक्ट्स, रीगेलुथ, चार्ल्स एम. (सं.), *इंस्ट्रक्शनल डिजाइन थ्योरीज ऐंड माडल्स, ए न्यू पैराडाइम आफ इंस्ट्रक्शनल थ्योरी,* खंड II ली पब्लिशर्स : माहवाह, न्यू जर्सी, 1999।

मुखोपाध्याय, एम., मल्टी चेनल लर्निंग : ए केस ऑफ नेशनल ओपन स्कूल, इंडिया, एंजालोन, एस. (सं.) : *मल्टीचेनल लर्निंग : कनेक्टिंग आल टू एजुकेशन,* वाशिंगटन, डीसी : ई.डी.सी. 1995।

मुखोपाध्याय, मर्मर और परहार, मधु : *इंस्ट्रकशनल डिजाइन इन मल्टी–चैनल लर्निंग सिस्टम,* नई दिल्ली : ए.आई.ए.ई.टी., 2001 (मिमिओ, प्रकाशनाधीन)।

मुखोपाध्याय, मर्मर और सिन्हा, एन. : यूटिलाइजेशन ऑफ मीडिया इन एजुकेशन (मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा कराया गया अध्ययन), नई दिल्ली, एन.आई.ई.पी.ए., 1993।

मुखोपाध्याय, मर्मर : *एजुकेशनज टैक्नोलाजी ऐंड प्राइमरी एजुकेशन,* कीनोट ऐड्रेस ऐट दि इंटरनेशनल कान्फ्रेंस आन प्रोफेशनल डवेलपमेंट आफ प्राइमरी टीचर्स, डी.ई.पी.डी.पी.ई.पी., आई.जी.एन.ओ.यू., नई दिल्ली, 2001।

मुखोपाध्याय, मर्मर : *टोटल क्वालिटी मेनेजमेंट इन एजुकेशन,* नई दिल्ली, एन.आई.ई.पी.ए., 2001।

मुखोपाध्याय, मर्मर : *क्वालिटी एश्योरेंस इन टीचर एजुकेशन,* कीनोट ऐड्रेस टू दि सेमिनार ऑन क्वालिटी एश्योरेंस इन टीचर एजुकेशन, मुम्बई : बम्बई विश्वविद्यालय, 2001।

मुर्गाट्रायड, एस. और मोर्गन, सी. : *टोटल क्वालिटी मेनेजमेंट ऐंड स्कूल,* बकिंघम ओपन यूनिवर्सिटी, 1993।

एन.सी.ई.आर.टी. : *नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क फार स्कूल एजुकेशन,* नई दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी. 2000।

परहार, मधु पेडागॉगिकल एनालिसिस ऑफ इंस्ट्रक्शनल मेटीरियल इन स्कूल एजुकेशन, *इंडियन जर्नल ऑफ ओपन लर्निंग,* VIII(1) जनवरी 1999।

परहार, मधु : *इम्पेक्ट ऑफ स्कूल टेलीविजन आन स्टूडेंट लर्निंग,* अप्रकाशित डाक्टरल शोध–निबन्ध, जामिया मिलिया इस्लामिया, 1993।

रीगेलुथ, चार्ल्स, एम. और मूर जूली : काग्नीटिव एजुकेशन ऐंड दि काग्नीटिव डोमेन रीगेलुथ चार्ल्स, एम. (सं.), *इंस्ट्रक्शनल डिजाइन थ्योरीज ऐंड माडल्स* – ऐ न्यू पैराडाइम आफ इंस्ट्रक्शनल थ्योरी, खंड II, ली पब्लिशर्स, माहवाह, न्यू जर्सी 1999।

श्रीवास्तव, एच.एस. और शोरी, जे.पी. : *इंस्ट्रक्शनल आब्जेक्टिव्स आफ स्कूल सब्जेक्ट्स,* नई दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी., 1989।

यूनेस्को : लर्निंग : दि ट्रीजर विदिन, 21वीं शताब्दी में शिक्षा सम्बन्धी अंतर्राष्ट्रीय आयोग की यूनेस्को को प्रस्तुत रिपोर्ट, यूनेस्को, 1996।

वान फेट्टन, जे. : व्हाट इज इंस्ट्रक्शनल डिजाइन, जानसन, के.ए. और फोआ एल.जे. : इंस्ट्रकशनल डिजाइन : *न्यू आल्टरनेटिव्स फार इफेक्टिव एजुकेशन ऐंड ट्रेनिंग,* न्यूयार्क, मेकमिलन, 1989।

अध्याय - षष्ठम्

प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या

और

शिक्षण विधियों की

वर्तमान सन्दर्भ में प्रांसगिकता

प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता

भारत भूमि धर्ममय है। धर्म और भारत एक दूसरे के पर्याय माने जाते हैं। एक प्राच्यविद का कथन है, कि ''हे! धर्म, काव्य और विज्ञान के पितृ–देश तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारा स्वागत है। हम तुम्हारे गौरवपूर्ण का अतीत का पाश्चात्य के भविष्य में पुनर्जागरण चाहते हैं।'' यह कहा था महान **प्राच्यविद मैक्समूलर** ने उसने भारत के प्राचीन गौरव और गरिमा को समझकर ही ऐसी इच्छा व्यक्त की थी। यदि उसकी आकांक्षा पूरी होती तो शायद आज के पाश्चात्य देश वर्तमान नरसंहार और विभीषिका से बचकर शान्ति और सद्भाव की ओर अग्रसर हो रहे होते। यदि पाश्चात्य देशों का एक विद्वान हमारे इस अतीत को अपने भविष्य में लाना चाहते हैं तो क्या उचित न होगा कि हम स्वयं अपने अतीत को वर्तमान में पुनःस्थापित करें। अतीत, वर्तमान और भविष्य समय में अनवरत प्रवाह पर घटनाओं की निश्चित करने की विधि मात्र है। इतिहास के दृष्टव्य परिवर्तनों एवं नवीन तथ्यों में आन्तरिक निरन्तरता का सूत्र चला करता है। यदि अतीत की सम्पूर्ण व्यवस्था को पुनः स्थापित करना सम्भव न हो तो कम से कम उसके निरन्तर प्रवाहित सूत्र को तो पकड़ ही लेना चाहिये, जिससे वर्तमान के सम्पूर्ण जन–मानस का कल्याण हो सके।

आर्य मनीषियों ने बालक एवं समाज को ध्यान में रखते हुए शिक्षा–व्यवस्थान्तर्गत उसके मानसिक, आध्यात्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक विकास पर बल दिया एवं एतदर्थ उन्होंने मानसिक, चारित्रिक तथा सामाजिक आदि शिक्षा सम्बन्धी उद्देश्यों का निर्धारण किया। प्राचीन शिक्षक इन उद्देश्यों के माध्यम से बालक की अन्तर्निहित शक्तियों के उपरान्त गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके अपनी सामर्थ्य और क्षमतानुसार समाज के उन्नयन में योगदान करते हुए मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होते थे।

तत्कालीन समय में इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु स्वस्थ वातावरण उपलब्ध था। आचार्य और शिष्य पारस्परिक सहयोग के द्वारा उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करते थे। **डा0 आत्मानन्द मिश्र** के अनुसार समाज के अन्य विभिन्न वर्ग भी अपनी स्थिति के अनुसार इनके क्रियान्वयन हेतु यथाशक्ति आर्थिक सहयोग प्रदान

करते थे। **महात्मा गाँधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर, श्री अरविन्द, टी0पी0 नन** तथा **जॉन ड्यूवी** आदि भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रियों ने भी समाज के विकास में यथाशक्ति योगदान करने हेतु शिक्षा के माध्यम से बालक के सर्वांगीण विकास पर बल दिया है। अस्तु अनुमोदित किया जाता है कि प्राचीन शिक्षा की भाँति आधुनिक समय में भी शिक्षणगण, शिक्षा–शास्त्री, शिक्षा–प्रशासक एवं अभिभावक–गण सम्मिलित रूप से बालक कल्याणार्थ उद्देश्यांक के क्रियान्वयन में रूचि प्रदर्शित करें, जिससे कि व्यक्ति और राष्ट्र का कल्याण सम्भव हो सके।

1. *पाठ्यक्रम :*

प्राचीन शिक्षाशास्त्रियों ने विभिन्न उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुये ही पाठ्यक्रम का भी निर्माण किया था। इन्होंने इस पाठ्यक्रम को शनैः शनैः किया। व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन भी किया। इस प्रकार प्राचीन पाठ्यक्रम बहुमुखी, गत्यात्मक एवं उपयोगी था। इसमें धर्मिक विषयों के साथ ही अनेकानेक लौकिक विषयों को भी सम्मिलित किया गया था। सम्मिलित विषयों में वेद–वेदांग, उपनिषद, आरण्यक, इतिहास पुराण राशि, निधि, वाकोवाका, एकायन, सर्प विद्या, भूत विद्या, देव विद्या, पित्रय विद्या, संगीत विद्या, स्वप्न विद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद, शल्य–चिकित्सा, चौसठ कलायें तथा सोलह शिल्प प्रमुख थे। तक्षशिला वाराणसी, तथा नालन्दा आदि उच्च शिक्षा केन्द्रों में दार्शनिक तथा अन्य महत्वपूर्ण विषयों में विशिष्टीकरण प्रदान करने की व्यवस्था थी। विषयों में विशिष्टीकरण प्राप्त करने हेतु विषय विशेष से सम्बन्धित मूलभूत ज्ञान अपेक्षित था। अस्तु स्पष्ट है कि आचार्यों ने शिष्यों के सर्वतोन्मुखी विकास हेतु सन्तुलित पाठ्यक्रम की व्यवस्था की। प्राचीन शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत बहुमुखी पाठ्यक्रम को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया गया था। अतएव आवश्यक है कि तत्कालीन समय की भाँति आधुनिक शिक्षण–संस्थाओं में भी इस प्रकार के पाठ्यक्रम को व्यवहृत करके छात्रों को आदर्श नागरिकता की ओर प्रेरित करना शिक्षा का एक उद्देश्य था।

प्राचीन शिक्षा व्यवस्थान्तर्गत छात्र विषयों का चयन आचार्यों की सहायता से करते थे। आचार्य–गण छात्रों की रूचि, मानसिक क्षमता तथा सामर्थ्य

आदि का अवलोकन करके ही उन्हें विशेष विषयों के अध्ययन हेतु प्रोत्साहित करते थे। इस प्रकार विषयों के निर्वाचन में विद्यार्थियों को भलीभाँति निर्देशन उपलब्ध हो जाता था। इस निर्देशन–प्रक्रिया के फलस्वरूप अल्प सुपात्र शिक्षक शिष्यों को ही आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त हो पाता था। इसका प्रमुख कारण यह था कि इनके अनुशीलन के लिये उत्कृष्ठ प्रतिभा, अथाह चिन्तन एवं गहन अध्ययन की आवश्यकता होती थी। अधिकांश छात्र धर्मशास्त्रों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करके लौकिक विषयों का अध्ययन करते थे। इस प्रकार प्राचीन समय में छात्र ज्ञानोपार्जन के उपरान्त सुखमय पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन व्यतीत करते हुये समुदाय एवं संघर्षरत समाज का उन्नयन करते थे।

आधुनिक समय में विषयों के निर्वाचन में छात्रों को स्वयं गुरूजनों से मार्गदर्शन उपलब्ध नहीं हो पाता है। अतएव वे रूचि और मन, मानसिकता, क्षमता, का ध्यान रखे बिना विषयों का निर्वाचन कर लेते हैं। परिणामस्वरूप वे अध्यनीय विषयों में विशेष दक्षता नहीं प्राप्त कर पाते हैं और जीवन में असफलता की ओर उन्मुख होते हैं। उनका व्यक्ति अस्त–व्यस्त हो जाता है। तथा वे सामाजिक समस्याओं से संघर्ष करने से कतराते रहते हैं। प्राचीन समय में छात्रों को अपने भावी जीवन में इस प्रकार की आज जैसी स्थिति से सामना नहीं करना पड़ता था। अस्तु आवश्यकता जान पड़ती है कि प्राचीन समय की भाँति ही आज भी शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत अध्यापक छात्रों को विषयों के निर्वाचन में उचित मार्गदर्शन करें तथा उन्हें भावी समस्याओं के हल करने योग्य बनायें यद्यपि मनोविज्ञान के विकास ने विद्यालयों में निर्देशन एवं परामर्श की व्यवस्था की है, जो सफल नहीं हो पा रही है।

आधुनिक समय में प्रासंगिकता का तात्पर्य है कि वर्तमान शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन शिक्षा के 'पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियों का किस सीमा तक प्रयोग किया जा सकता है और हमारी शैक्षिक समस्याओं का कहॉ तक निराकरण कर सकता है। बात यह है कि शिक्षा समाज का कर्म होती है। समाज की आवश्यकताओं के अनुसार उसके पाठ्यक्रम का निर्माण होता है, किन्तु इस पाठ्यक्रम में वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे भी रखे जाते हैं। जो

हमारी परम्परागत संस्कृति का ज्ञान कराते हैं। **अतएव पाठ्यक्रम देश और काल की आवश्यकतानुसार परिवर्तित हुआ करता है, जो पाठ्यक्रम वैदिक काल के लिये उपयुक्त था। वह आधुनिक समय के लिये अनुपयुक्त हो सकता है किन्तु पाठ्यक्रम के गठन के सिद्धान्त जो प्राचीन काल में प्रचलित थे। उनका उपयोग किंचित संशोधन के साथ आज भी किया जा सकता है।**

एक सिद्धान्त जो वैदिक, बौद्ध और वन ब्राह्मणकाल में परिलक्षित होता है। वह यह कि पाठ्यक्रम में धार्मिक एवं लौकिक दो प्रकार के विषय सम्मिलित किये जाते हैं। इनमें कुछ अनिवार्य विषय होते थे तथा अन्य वैकल्पिक अनिवार्य विषयों में वेदाध्ययन आता था। और वैकल्पिक में लौकिक विषय आते थे। अतः पाठ्यक्रम में दो प्रकार के विषय से एक तो व्यक्ति के आचरण को उन्नत बनाते थे एवं जिनके द्वारा इस लोक और परलोक में जीवनयापन सफल बनता था और दूसरा वे जो इस लोक में जीवकोपार्जन तथा गृहस्थ जीवन के लिये उपयोगी थे। इस प्रकार से विषयों का संचयन किया जाता था।

प्राचीन काल में शिक्षा धर्म से अनुप्राणित थी और धर्म को ही शिक्षा से व्यक्ति के जीवन में नैतिकता का प्रदुर्भाव होता था। वैदिक काल में नैतिकता ही सदाचरण को प्रभावित कर अध्यात्म की ओर अग्रसर करती थी। बौद्ध काल में नैतिकता ही अष्टमार्ग के माध्यम से निर्वाण दिलाती थी। नव ब्राह्मण काल में नैतिकता ही व्यक्ति में विनय का विकास करके उसे मोक्ष दिलाती थी। अतएव नैतिकता प्राचीन शिक्षा के मूल में थी। **महात्मा गाँधी** ने भी कहा है कि मैं नैतिकता को ही धर्म मानता हूँ। उन्हीं के शब्दों में **"यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीति मात्र का समावेश सत्य में है। नैतिकता का पालन करना ही अपने मन और लालसाओं को जीतना है। नीति उस समय तक धर्म रह सकती है जब तक उसे चलाया जाये उसके पश्चात नहीं"**[1] शिक्षा का एक उद्देश्य चरित्र विकास है, जिसका एकमात्र आधार नैतिकता है। शिक्षा को उसे ही सिखाना चाहिये।

---

1. महात्मा गाँधी – मेरे स्वप्नों का भारत, सस्ता साहित्य मण्डल 1960 पृष्ठ 197

आधुनिक काल में नैतिकता के आभाव के कारण चरित्र संकट उत्पन्न हो गया, जिससे विभिन्न देशों में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। उसके निवारण का एक ही मार्ग है कि लोगों की नैतिक शिक्षा पर बल दिया जाये। जापान आदि देशों में नैतिकता को नागरिकता से सम्बद्ध किया गया है, जिससे कि धर्म निरपेक्षता बनी रहे। भारतवर्ष में नैतिकता का जन्म धर्म से ही हुआ है। अतएव उसकी शिक्षा के लिये धर्म की शिक्षा आवश्यक है। अतः हमारी शिक्षा प्रणाली में नैतिक शिक्षा का गठन अनिवार्य है।

यद्यपि भारतवर्ष में धर्म–निरपेक्षता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है, किन्तु इसका केवल इतना ही अर्थ है कि राज्य किसी धर्म को वरीयता नहीं देगा। व्यक्ति अपना–अपना धर्म पालन करने के लिये स्वतन्त्र है। केवल शासकीय विद्यालयों में धर्म निषेध कर दी गयी है किन्तु धर्मस्थ से स्थापित ऐसे अशासकीय विद्यालयों में भी धार्मिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है। **राधाकृष्णन विश्वविद्यालय आयोग** में धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया गया है। **श्री प्रकाश समिति** ने भी इसे स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि धार्मिक शिक्षा देने पर कोई अंकुश नहीं है। धर्म बालकों के जीवन का एक अंग होता है। **इंग्लैण्ड–हैडी रिपोर्ट** ने धर्म का बालक के जीवन का एक प्रमुख अंग मान कर उसकी शिक्षा अनिवार्य करने की अनुशंसा की है। अतएव आज की शिक्षा में धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित नैतिकता की शिक्षा प्रदान करना परमावश्यक है। प्राचीन काल की तरह इसकी शिक्षा को अनिवार्य कर देना चाहिये। ऐसी स्थिति में चरित्र का निर्माण हो सकेगा।

वैकल्पिक विषयों के अन्तर्गत तत्कालिक समाज की आवश्यकतानुसार ही विषयों का शिक्षण प्रदान किया जाता था। वर्तमान समय का समाज पूर्णतया परिवर्तित हो गया है और आवश्यकतायें नितान्त भिन्न हैं। इसके अनुसार ही अब विषयों का चयन करना पड़ेगा। आज के समाज में धनुर्विद्या, सर्प विद्या, तथा भूत विद्या आदि विषयों का कोई स्थान नहीं है। इनके स्थान पर आधुनिक सैन्य विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र एवं अभियांत्रिकी शिक्षा का अध्ययन करना पड़ेगा। प्राचीन पाठ्यक्रम में एक विविधीकरण का सिद्धान्त भी दृष्टिगोचर होता है। राजाओं, स्त्रियों तथा सर्वसाधारण के लिए उपर्युक्त अनेकानेक विषयों का शिक्षण प्रदान किया जाता था।

इस सिद्धान्त का हमारी शिक्षा में पर्याप्त सीमा तक पालन हुआ है। इस सन्दर्भ में **मुदालियर आयोग** की अनुशंसायें अत्यधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु अभी माध्यमिक शिक्षा का पूर्णरूप से विस्तारीकरण नहीं हुआ है। वर्तमान समय में जीवकोपार्जन के लिए आवश्यक अनेक व्यवसायों की शिक्षा का प्रबन्ध विद्यालयों में होना चाहिये, जो अभी तक अछूता प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार प्राचीन पाठ्यक्रम में संग्राही पाठ्यविषयों का प्रावधान था। उदाहरणार्थ–वैदिक पाठ्यक्रम में अनुशासन[2] के अन्तर्गत शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरूक्त तथा ज्योतिष को संग्रहित किया गया था।

इसी प्रकार देवजन विद्या में नृत्य, गायन, वादन, तथा शिल्प आदि विज्ञान सम्मिलित थे।[3] कालान्तर में रंगारमानुजम ने देवजन विद्या, चिकित्साशास्त्र एवं संगीतशास्त्र को सन्निहित किया।[4] बौद्धकाल में लोकायतन के अन्तर्गत खगोल विद्या, ज्योतिष विद्या, प्रेत विद्या तथा ऐसे ही अन्य विषयों की शिक्षा मुख्य थी।[5] राजधम्म में राजा, मन्त्री, सेनानायक, उच्च कर्मचारी तथा योद्धाओं की शिक्षा सम्मिलित थी।[6] नव ब्राह्मण युग में आन्वीक्षी, त्रयी वार्ता तथा रणनीति आदि विद्यायें संग्राही विषयों का द्योतक थीं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अर्थर्वेद, इतिहास, पुराण, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष त्रयी विद्या में आने वाले विषय थे।[7] आन्वीक्षी से सांख्य योग और लोकायत विषयों का बोध होता था।[8] वार्ताशास्त्र के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन तथा व्यापार आदि विषयों का अध्ययन आता था।[9] दण्डनीति से प्रशासन से सम्बन्धित विषयों का आशय ग्रहण किया जाता है।[10] आधुनिक काल में भी सामाजिक विषयों के अन्तर्गत, इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र को सम्मिलित किया गया, किन्तु ऐसे विषयों के उदाहरण अधिक नहीं हैं। यह अति उत्तम होगा कि इस प्रकार के संग्राही पाठ्य–विषयों की संख्या में वृद्धि कर दी जाये।

---

2. शतपथ ब्राह्मण .11.5.6.8.
3. आर0 के0 मुखर्जी – एन्सियेन्ट इण्डिया एजूकेशन, पृष्ठ 110
4. वही, पृष्ठ 110
5. विनय चुल्लवाग .5.33.2.
6. जातक .1.356.
7. आर0 के0 मुखर्जी – एन्सियेन्ट इण्डिया एजूकेशन, पृष्ठ 110
8. वही0 1.3.
9. वही0 1.4.
10. वही0 1.4.

अतः स्पष्ट है कि प्राच्य पाठ्यक्रम में धर्म–ग्रन्थों की भाषा के शिक्षण का बहुत अधिक महत्व था। प्रत्येक छात्र से शुद्ध उच्चारण के साथ पाठ विशेष की आवृत्ति अनेक बार कराई जाती थी तथा भाषा एवं ध्वन्यात्मक नियमों से सम्बन्धित त्रुटियों को अनवरत सुधारा जाता था। छात्र वेदों का पाठ करते समय हाथ और मुख से हाव–भाव भी प्रदर्शित करता था। इन सम्पूर्ण प्रक्रियाओं से विद्यार्थी को एक भाषा में पूर्ण अधिकार प्राप्त करा दिया जाता था। इसीलिये वैदिक काल में वेदों के अध्ययन पर बल दिया जाता था। इनकी रचना प्राचीन संस्कृत में की गयी थी। बौद्धकाल में धर्म–ग्रन्थों की रचना पाली भाषा में की गयी थी। अतएव शिष्यों को इस भाषा का पूर्ण ज्ञान कराया जाता था। नव ब्राह्मणकाल में स्मृतियों और पुराणों के पढ़ने पर बल दिया जाता था। इनकी रचना नई संस्कृत में की गयी थी। एक भाषा पर पूर्ण अधिकार होने से अभिव्यक्ति और प्रचार पर पर्याप्त बल दिया जा रहा है। अतएव छात्रों को एक भाषा का ज्ञान होना परमावश्यक है। त्रिभाषा–सूत्र किन्हीं कारणों से उचित ठहराया जा सकता है। परन्तु बालक की मातृभाषा में श्रेष्ठ अभिव्यक्ति करने की क्षमता को कदापि नहीं भुलाना चाहिये।

आज भारत में लोकतान्त्रिक गणराज्य की स्थापना हुई है। लोकतन्त्र में स्पष्ट विचार करने और नये विचारों का स्वागत करने की आवश्यकता होती है। उनके साथ वार्तालाप और लेखन में स्पष्टता होनी चाहिये। अतएव भाषा पर व्यक्ति का अच्छा अधिकार होना लोकतन्त्र में सफल जीवन व्यतीत करने के लिये जरूरी है। इसके द्वारा लोगों की वाद–विवाद करने, अपने मतानुसार अभिव्यक्ति करने और विचारों का आदान–प्रदान करने में सहायता मिलती है। अपने प्रभाव को स्थापित करने के लिए तथा स्वथ्य लोकमत बनाने के लिये व्यक्ति में उत्तम अभिव्यक्ति शक्ति होना चाहिये। लोकतन्त्र में प्रचार प्रभावपूर्ण होता है। अस्तु प्रचार के अम्बार से सत्य ढूँढ़ निकालना तभी हो सकता है। जब व्यक्ति का भाषा पर अधिकार हो। अतः आज आवश्यकता है कि मातृ–भाषा के पठन–पाठन पर उतना ही बल दिया जाय जितना कि प्राचीन काल में वेदों आदि की संस्कृत के पढ़ने पर बल दिया जाता था। भाषा की शिक्षा में डा0 रवीन्द्र नाथ टैगोर 'हाव भाव की भाषा' को भी महत्व देते थे। शब्दों के स्थान पर संकेतोंसे भी बहुत बातें व्यक्ति की जा सकती हैं। अतएव पढ़ाते या बोलते समय छात्रों को यह सर्वाधिक प्रयोग होने वाली भाषा भी सिखाई जाये। इससे उनकी अभिव्यक्ति अधिक समृद्ध और शक्तिशाली बनेगी। भाषा का समृद्धिशाली होना अनिवार्य होता है।

प्राचीन भारतीय पाठ्यक्रम में बालक के सर्वांगीण विकास पर भी बल दिया गया था। मानसिक, चारित्रिक और नैतिक विकास के साथ शारीरिक विकास भी आवश्यक था। अतएव छात्रों को गुरू–आश्रम में श्रम करने का अवसर दिया जाता था। प्रातः उठकर एवं दैनिक कार्यक्रम से निवृत्त होने के पश्चात् छात्र आश्रम की स्वच्छता,[11] पशुओं की देखभाल[12] और यज्ञ–समिधा[13] आदि एकत्र करने में जुट जाते थें इसमें उनको पर्याप्त शारीरिक श्रम करना पड़ता था। जिसके कारण वे हष्ट–पुष्ट बने रहते थे। शारीरिक व्यायाम की हमारे विद्यार्थियों में प्रायः अवहेलना सी हो गयी है। उसकी समुचित व्यवस्था करना बालकों के सर्वांगीण विकास के लिये आवश्यक है। इसके लिये योगासन की पद्धति अपनाई जा सकती है। यह परम्परागत व्यायाम है और आज भी अंग–प्रत्यंग की समुचित यौगिक क्रियायें कराकर शरीर में स्फूर्ति और शक्ति का संचार कर सकते हैं। प्राणायम् से विशेष कर चित्त की एकाग्रता बढ़ाई जा सकती है जिससे बालकों को अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करने और अवधान बनाये रखने में सहायता मिल सकती है।

2. शिक्षण विधियाँ :

पाठ्यक्रम के विपरीत शिक्षण विधियाँ काल–निरपेक्ष होती है। उनका उद्देश्य पाठ्य–सामग्री का ऐसा सम्प्रेषण करना है जिससे वह बालक की समझ में आ जाये। विधियाँ प्रायः बाल प्रकृति और पाठ्य–सामग्री पर निर्भर करती है। बाल–प्रकृति में आदिकाल से अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल आधुनिक मनोविज्ञान में उसका अधिकाधिक उद्घाटन हुआ है। विषय–सामग्री भी उसकी प्रकृति के अनुसार कतिपय वर्गों में विभाजित की जा सकती है और प्रत्येक वर्ग के अध्यापन की पृथक–पृथक विधियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। कालान्तर में इन विषयों की प्रकृति में विभेदीकरण अवश्य हुआ है, किन्तु परिवर्तन नहीं हुआ, इसीलिये जिन प्राचीन शिक्षण–विधियों का इस शोध–प्रबन्ध में उल्लेख किया गया है। उनमें से अधिकांश आज भी शिक्षण में प्रयुक्त होती है। भले ही उनके नामों में परिवर्तन क्यों न हो गया हो।

हमारे आचार्यों ने पाठ्यक्रम में सम्मिलित विषय–वस्तु को सुबोध, ग्राह्य एवं आकर्षण बनाने हेतु एवं एतद्नुरूप ही शिक्षण–विधियों का चयन किया था।

---

11. शतपथ ब्राह्मण .3.62.15
12. वही, .11.4.1.9.
13. अथर्व वेद .11.5.

तत्कालीन समय में अध्यापक शिक्षण की सफलता हेतु मौखिक विधि के सभी प्रारूपों का प्रयोग करते थे। आवश्यकतानुसार दार्शनिक विषयों के कठिन स्थलों को स्पष्ट करने के लिए प्रायोगिक विधियों को भी अपनााते थे। ये विधियाँ वर्तमान समय में प्रचलित अनेक शिक्षा–सूत्रों पर आधारित थी। तत्कालीन शिक्षण–प्रक्रिया में मौखिक, पाठ्यवस्तु व्याख्या, संबोध, कथा, प्रयोग, निर्देशन, प्रत्यावर्तन, स्वगत कथन, प्रयोजन तथा अन्वेषण विधियाँ आदि प्रमुख रूप से अपनायी जाती थीं। उस समय के शिक्षणगण उनके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष से भलीभाँति परिचित थे। वे आवश्यकतानुसार कक्षा–परिस्थितियों के अनुकूल इनमें परिवर्तन और परिवर्धन भी करते थे। अस्तु प्राचीन कालीन शिष्यगण प्रयोग में लाई गयी विधियों का उचित उपयोग करके कठिनतम पाठ्यवस्तु को स्पष्ट करने में सफल हो जाते थे। वर्तमान प्रशिक्षण महाविद्यालयों में छात्रों को शिक्षण विधियों के प्रयोग सम्बन्धी उचित मार्गदर्शन उपलब्ध नहीं हो पाता है। प्रशिक्षणकाल अधिकांशतः विद्यार्थियों को विशेष शिक्षण विधियों सम्बन्धी सैद्धान्तिक ज्ञान ही प्रदान करते थे जबकि इन शिक्षण विधियों का व्यावहारिक ज्ञान नितान्त आवश्यक था।

प्राचीन गुरू–जन यह भली–भाँति जानते थे कि सरल से कठिन की ओर, मूर्त्त से अमुर्त्त की ओर, दृष्टान्त से समान्यीकरण की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर आदि से ऐसे शिक्षण–सूत्र हैं जिनसे पठन–पाठन सरल एवं सुगम हो जाता है। इन्हीं आधार–भूत सिद्धान्तों से शिक्षण प्रणालियाँ उद्धृत हुयी हैं। आचार्यजन यह भी जानते थे कि बालकों में व्यक्तिगत भेद होते हैं और उसके लिये एक–एक बालक को लेकर ज्ञानार्जान कराते थे। क्रियाशीलता पर बल देने के लिये उन्होनें प्रयोग तथा अन्वेषण विधि का आविष्कार किया। प्राचीनकाल में प्रचलित परावर्तन विधि, अन्वेषण, विश्लेषण विधि, व्याख्या विधि, संबोध विधि, कथा–विधि, विचार विमर्श विधि, आगमन निगमन विधि आदि आज भी शिक्षा जगत में यथावत चल रही हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन सभी आधुनिक विधियों के अन्वेषण कर्त्ताओं ने किस प्रशिक्षण महाविद्यालय में शिक्षा पाई थी ? वे तो मनुष्य थे, जिनके पास तार्किक बुद्धि थी। किन्तु पक्षियों को कौन सा प्रशिक्षण दिया जाता है जो अपने शावकों को जीवन–यापन सम्बन्धी सभी प्रकार का प्रशिक्षण दे देते हैं। अतएव आधुनिक काल में शिक्षा–प्रशिक्षण पर इतना बल देना अनावश्यक जान पड़ता है। इस

प्रशिक्षण की अनिवार्यता भी प्राथमिक शिक्षा के विकास में पर्याप्त सीमा जक बाधक है। वर्तमान शिक्षा को मनोविज्ञान केन्द्रित होना, चाहिये, जो विवेक शक्ति तर्कशक्ति का विकास कर सकें।

यदि हम प्राचीन भारत की एकल शिक्षण–पद्धति का अनुकरण करें तो सुदूर ग्रामीण–देशों में भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था हो सकती है जो संविधान द्वार निर्दिष्ट दस वर्षों में कौन कहे, आज तक भी पूरी नहीं हो सकी। तीन सौ से कम जनसंख्या के अधिकांश ग्रामों और बस्तियों में विद्यालय स्थापित करना अपव्ययी समझा जाता है। लघु बालक दूर से विद्यालय में जाकर शिक्षा लेने में असमर्थ होते हैं। अतएव इन ग्रामों में प्राचीन शिक्षा–प्रणाली का अनुसरण किया जा सकता है। किसी भी शिक्षित व्यक्ति को निजी पाठशाला खोलकर शिक्षण कार्य करने दिया जाये। उसके जितने भी छात्र प्राथमिक विद्यालय परीक्षा में उत्तीर्ण हों उनके लिये शिक्षक को पाँच सौ रूपये प्रति छात्र की दर से अनुदान दे दिया जाये। इससे अध्यापक प्रयत्न करके निकट के अधिकाधिक बालकों को एकत्र करके अत्यन्त परिश्रम से शिक्षण–कार्य करेगा। प्रशासन को भवन, श्यामपट् तथा अन्यान्य उपकरणों की चिन्ता भी नहीं करनी होगी। इस प्राचीन आश्रम–पद्धति से छोटे–छोटे ग्रामों में शिक्षा का प्रचार–प्रसार हो जायेगा और कृषकों के बालकों के सुविधानुसार पाठशाला का समय निर्धारित किया जा सकेगा। इससे सर्वजन हित में शिक्षा का प्रसार किया जा सकता है।

प्राचीन काल में कंठस्थीकरण पद्धति पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। किन्तु आधुनिक काल में उसे बहुत अधिक हेय बताया जाता है और मनोवैज्ञानिक उसका बड़ा विरोध करते हैं।

अस्तु विद्या कंठ में होनी चाहिये जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसका सदुपयोग किया जा सके। आधुनिक मनोविज्ञान यह स्वीकार करता है कि पन्द्रह–सोलह वर्ष की आयु तक पुनराभिव्यक्ति स्मृति(रेप्रोडक्सन मेमोरी)बहुत तीव्र रहती है और उस आयु में जो याद कर लिया जाता है, वह बहुत दिनों तक स्मृति में बना रहता है। इसीलिये **लघु कौमुदी, व्याकरण–सूत्र** आदि बालकों को कंठस्थ करा दिये जाते थे जो जीवनपर्यन्त रहते थे। आजकल जब छात्र यह भी नहीं जानता कि पुस्तक में कहाँ क्या लिखा है तब उसे कंठस्थीकरण कराना और भी आवश्यक हो

जाता है। जब आधुनिक मनोवैज्ञानिक कंठस्थीकरण की मितव्ययी विधियों जैसे आंशिक और पूर्ण–विधि, व्यवधान रहित विधि, सक्रिय एवं निष्क्रिय विधि तथा समूहीकरण लय की चर्चा करते हैं तो समझना चाहिये कि वे कंठस्थीकरण का विरोध नहीं करते। अतएव कंठस्थीकरण को आधुनिक समय में भी बल दिया जाना चाहिये। इससे कुछ ज्ञान तो बालक के पास रहेगा ही।

प्राचीन विद्वान कंठस्थीकरण को सरल बनाने के लिए विषय–वस्तु को पद्य में बांधते थे। लय और तुकान्त होने से भाषा मधुर एवं हृदयग्राही बन जाती थी यहाँ तक की कोष और व्याकरण भी पद्यमय बना दिये जाते थे। स्मृति के इस पक्ष पर आधुनिक समय में बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया है। शिशुओं को अक्षर ज्ञान देने वाली पुस्तक में प्रथम चार अक्षरों के लिए लिखा है –

"**अ**ज बकरा कहलाता है,

आम चूसकर खाता है,

इमली फली पेड़ में यार,

ईगल चिड़ियों का सरदार"

आदि बालक अत्यधिक सरलता से याद कर लेते है। इसी प्रकार कंठस्थीकरण की विषय–वस्तु को उच्च कक्षाओं में पद्य–बद्ध करना चाहिए। जिससे कि याद करने में सरलता और आकर्षक हो।

इस प्रकार एकल शिक्षण–पद्धति होने के कारण नायक प्रणाली का आविष्कार हुआ था। आवश्यकता अविष्कार की जननी है। इस प्रणाली से **बेल और लेकांसटर** ने इंग्लैण्ड की शालाओं में शिक्षकों की कमी पर किया था। किन्तु अपनी ही देन को आज हम भूल गये हैं और विद्यालयों में शिक्षकों की कमी का राग अलापते रहते हैं। हमें नायक प्रणाली का प्रयोग अधिकाधिक करना चाहिए। इससे शिक्षकों की कमी का समाधान तो होगा ही, साथ ही नायक छात्र को विषय पुष्टिकरण करने का सुअवसर उपलब्ध होगा। एक जर्मन कहावत है कि – **"यदि आप कोई विषय सीखना चाहते हैं तो उसे पढ़ाइये अथवा उस पर ग्रन्थ लिखिये।"** इसके अतिरिक्त छात्र को शिक्षक प्रशिक्षण भी मिलता रहेगा। क्योंकि वह पढ़ाने का कार्य अपने अनुभवी शिक्षक के पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण में करेगा। इससे कार्य कुशलता बढ़ेगी और विद्यालय व्यय कम होगा।

विचार–विमर्श, वाद–विवाद, वार्तालाप और शास्त्रार्थ आदि विधियाँ जो उच्च कक्षाओं में बहुत प्रचलित थी। आज हमारे महाविद्यालयों से लुप्त हो रही हैं इनके द्वारा विद्यार्थी दूसरों से बहुत कुछ सीखता था तथा अपने ज्ञान के प्रयोग को तत्पर बनाता था। इनसे यह भी ज्ञात हो जाता था कि विद्यार्थी के ज्ञान में कहाँ कमी अथवा कहाँ त्रुटि है, जिसमें कि उसका सुधार किया जा सके। वाक् शक्ति भी सुदृढ़ सुव्यवस्थित और विस्तृत बनती थी तथा अपनी बात को पुष्ट करने के लिए अपने मस्तिष्क के ज्ञान भण्डार से उपर्युक्त बातों को शीघ्रता पूर्वक स्मरण कर लेने की आदत पड़ती थी। प्राप्त ज्ञान का किस तरह प्रस्तुतीकरण किया जाए कि उससे कार्य सिद्ध हो सके इसका भी अभ्यास होता था। अतएव इन पद्धतियों का आधुनिक शिक्षा में प्रयोग करना उचित होगा। इन विधियों का प्रयोग स्मृति शक्ति का विकास कर सकता है।

परन्तु आजकल प्रायः देखा जाता है कि बालकों को गणित, विज्ञान तथा साहित्य आदि के प्रत्ययों को ठीक समझ नहीं हो पाती है। परीक्षायें उत्तीर्ण कर लेने पर भी वे उनके प्रति भ्रामक धारणायें अपनाये रहते हैं। प्राचीन भारत के शिक्षण में प्रत्यय का ठीक–ठाक निर्माण करना शिक्षण का एक महत्वपूर्ण अंग था। इसके लिए संबोध विधि का प्रयोग होता था। इस विधि के श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि तीन चरण थे। श्रवण के अन्तर्गत छात्र शिक्षक से नये प्रत्यय के सम्बन्ध में सुनता था। तदनन्तर वह एकान्त में इस प्रत्यय के सम्बन्ध में मनन करता था जिससे वह प्रत्यय के विभिन्न अवयवों पर विचार करके उसकी अन्य प्रत्ययों से तुलना करता था। प्रत्यय के स्पष्ट हो जाने के उपरान्त वह इस पर निदिध्यासन अथवा उसकी अनावरत आवृत्ति करता था और प्रत्यय के अर्थ–आकार को आत्मसात कर लेता था। प्रत्यय ठीक बनने में ज्ञान का सम्यक् बोध होता है। अतएव बालकों के स्पष्ट तथा शुद्ध प्रत्यय निर्माण पर आज की शिक्षा में बल देना चाहिए। कामन्दक नीतिशास्त्र के अनुसार ज्ञान के सात स्तर निम्नवत है –

शुश्रूषा[1] श्रवणं[2] ग्रहणं[3] धारणं[4] तथा।

उहायोह[5]ऽर्थ विज्ञानं[6] तत्वज्ञानं[7] सप्त घीः गुणा।।

1. सीखने की उत्सुकता 2. जानना 3. प्राप्त करना 4. रखना 5. मननात्मक पूँछताँछ 6. अर्थविज्ञान अर्थात् वास्तविक अर्थ तक पहुँचना 7. सारभूत ज्ञान तक पहुँचना)

इस प्रकार चीनी यात्री **इत्सिंग** ने लिखा है कि "यदि मुझे नालन्दा विश्वविद्यालय में उपाध्यायों के समीप रहकर ज्ञानार्जन करने का सुअवसर न मिला होता तो शायद मैं इतना अधिक ज्ञानार्जन न कर पाता" वैदिक काल में भी शिष्य–गुरू के समीप बैठकर ही ज्ञान प्राप्त करता था। आज की साठ–पैंसठ छात्रों की कक्षा में शिष्य और गुरू का समीप आना दुर्लभ हो गया है। इस न्यूनता का अनुभव करके ही आजकल **"ट्यूटोरियल" प्रणाली** से पढ़ाने की अपेक्षा की जाती है, किन्तु वास्तव में यह अनुशिक्षण ही नहीं हो पाता है। प्राचीन काल के गुरू की निकटता के सिद्धान्त को आज भी वरीयता देना आवश्यक है, जिससे छात्र की व्यक्तिगत कठिनाइयाँ दूर हो सके और शिक्षक के चरित्र का प्रभाव शिष्य पर पड़ सके।

प्राचीन युग के तीनों काल–खण्डों में **प्रयोजन विधि** का प्रयोग होता रहा है। इसका प्रमुख उद्‌देश्य पठित ज्ञान को क्रियात्मक देना रहा है। उदाहरणार्थ – वैदिक काल में यज्ञ आदि सम्पादन के लिए शिष्यों को वेदी आदि का निर्माण कराना पड़ता था। जिसमें स्थान चयन, मापन, चित्रांकन तथा गणना आदि सभी क्रियायें करनी पड़ती थी। अतएव प्रत्येक पाठ्‌य–इकाई के पश्चात् उनसे सम्बन्धित प्रयोगात्मक क्रियाओं को कराना आवश्यक है। आधुनिक काल में प्रचलित इकाई शिक्षण–पद्धति के अन्त में चरमावस्था आती है, जिसमें समापन की क्रिया होती है, जो दिए गए समस्त ज्ञान का कार्य–अन्तर्गस्थ हो जाता है। इसी प्रकार की कोई क्रिया प्रत्येक पाठ इकाई के बाद कराई जाना चाहिए जिससे बालकों में ज्ञान को क्रियान्वित करने का विवेक उत्पन्न हो सके।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन पाठ्यक्रम और पद्धतियों का आधार शिक्षण के उत्तम सिद्धान्तों पर बनाया गया था। लिखने की सामग्री के अभाव के कारण ही बहुत सी मौखिक पद्धतियों का प्रयोग होता था। जिनमें से बहुत कालजयी हो गयी है। पाठ्‌यक्रम समय की आवश्यकताओं के अनुसार था, किन्तु उसके निर्माण के सिद्धान्त आजकल के सिद्धान्तों से बहुत भिन्न नहीं थे। हम आधुनिक शिक्षा में उन सिद्धान्तों और पद्धतियों का उपयोग कर सकते हैं, जिससे शिक्षण के स्तर को उन्नत करने में सहायता मिलेगी।

3. परिकल्पनाओं का सत्यापन:

प्रथम अध्याय में इस शोध से सम्बन्धित दो परिकल्पनायें की गयी थी। प्रथम तो यह है कि प्राचीन पाठ्‌यक्रम वर्तमान सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में

प्रासांगिक नहीं है, तथा द्वितीय थी कि कतिपय शिक्षण–विधियों का प्रयोग वर्तमान शिक्षण–प्रक्रिया में उपयोगी होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन और वर्तमान काल में पर्याप्त अन्तराल है, जिससे कि दोनों की सामाजिक संरचना में बड़ी भिन्नता आ गयी क्योंकि शिक्षा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और वर्तमान समय की आवश्यकताएँ वरीयताएँ प्राचीन काल से नितान्त भिन्न है। अतएव पाठ्यक्रम के वे विषय जो पहले उपयोगी थे अब प्रासांगिक नहीं हैं। सर्प विद्या, भूत विद्या, पितृ विद्या, तथा आखेट विद्या आदि विषय आजकल आवश्यक नहीं है उनके स्थान पर अन्य विषयों को रखना चाहिए। इसलिए प्रथम परिकल्पना प्रमाणित होती है, किन्तु पाठ्यक्रम निर्माण के जो सामान्य सिद्धान्त थे, उनका आजकल भी प्रयोग किया जा सकता है, जिससे शिक्षा उन्नत बनेगी।

पद्धतियाँ बालक की प्रकृति ओर पाठ्य की सामग्री पर निर्भर करती है। अतएव जो शिक्षण पद्धतियाँकिसी विशिष्ट प्रकार की पाठ्य–सामग्री के उपयोग में आती थी उनका प्रयोग उस विषय सामग्री में न रहने के कारण नहीं किया जा सकता है। पद्धतियाँ जिन मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित थी, वे आजकल भी विद्यमान हैं, अतएव कुछ पद्धतियाँ कालजयी हो गयी हैं, और उनका प्रयोग आज भी किया जा सकता है। यह दूसरी बात है कि आधुनिकतम मनोविज्ञान के निर्माण में प्राचीन शिक्षा के आधार पर मूल सिद्धान्तों को समझा जाये तो उनको उपभोग करना उचित ही जान पड़ेगा। बहुत सी पद्धतियों के प्राचीन नाम आजकल नहीं चल सकते किन्तु उनका नये परिवेश में प्रयोग आवश्यक हो सकता है इसीलिये दूसरी संकल्पना भी प्रमाणित होती है। सामान्य शिक्षण–पद्धतियों को अब भी उपयोग किया जा सकता है किन्तु कुछ विशिष्ट पद्धतियाँ जो किसी सामग्री विशेष को पढ़ाने के लिये निर्मित हुयी थीं, उनका उपयोग नहीं हो सकता।

4. *प्रश्नावली द्वारा दत्तों का संग्रह :*

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में शोधकर्त्ता ने स्पष्ट किया है कि वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था में, प्राचीन शिक्षा पद्धति में प्रचलित शिक्षण विधियों की क्या उपादेयता हो सकती है तथा वर्तमान में उनकी क्या प्रासंगिकता है ? आदि विचारों

को स्पष्ट समझने के लिये शोधकर्त्ता ने एक प्रश्नावली का निर्माण किया है। **यद्यपि ऐतिहासिक अध्ययन विधि में इस प्रकार के प्रश्नावली निर्माण की कोई आवश्यकता नहीं होती है** फिर भी प्रचलित विधियों के तथ्यों की पुष्टि के लिये स्वनिर्मित प्रश्नावली को मानकीकृत किया गया है इसके पश्चात प्राचीन शिक्षा पद्धति पर आधारित कुछ वर्तमान शिक्षण संस्थाओं को **निर्देशन** के आधार पर चयनित करके प्रश्नावली को प्रयोग का क्षेत्र बनाया गया है। इस स्वनिर्मित प्रश्नावली में कुल 21 प्रश्न हैं। प्रश्न संख्या 1 से 16 तक प्राचीन शिक्षण विधियों की प्रमुखता पर आधारित है और शेष प्रश्न संख्या 17 से 21 तक अर्थात कुल **पाँच प्रश्न** चयनित शिक्षण संस्थाओं के प्रमुखों एवं शिक्षकों से उत्तर प्राप्त करके उनके मत को जानने का प्रयास किया गया है।

इस स्वनिर्मित प्रश्नावली का प्रयोग केवल कानपुर शहर, कानपुर जनपद तथा उन्नाव जनपद में स्थित तीन प्रकार के विद्यालयों पर किया गया है। यह तीनों ही प्रकार के केन्द्र गुरूकुल शिक्षा पद्धति तथा बौद्ध शिक्षा पद्धति और नव्य ब्राह्मणकालीन शिक्षा पर आधारित है। चयन इस प्रकार किया गया है :–

उन्नाव जनपद	**प्रमुख एवं शिक्षक**	**अभ्यार्थी**
ऋषि आश्रम, शुक्लागंज उन्नाव	4 + 5 = 9	55
कानपुर जनपद		
गुरूकुल विद्यालय, बिठूर, कानपुर	6 + 5 = 11	30
कानपुर शहर		
बौद्ध शिखा केन्द्र, संतनगर, कानपुर	11 + 9 = 20	70
योग	**40**	**155**

इस प्रकार शोधकर्त्ता ने 155 छात्रों तथा 40 शिक्षकों एवं सन्तों से प्रश्नावली प्रपत्र को जो भरवाया है उनसे जो दत्त प्राप्त हुयें हैं, वह प्रश्नानुसार दो तरह के हैं। **प्रथम प्रकार** के प्रश्न जो प्रश्न संख्या 1 से 16 तक हैं के उत्तर 'हाँ' या 'न' में प्राप्त किये गये हैं। और **दूसरे प्रकार** के प्रश्न संख्या 17 से 21 तक हैं उनके उत्तरदाताओं द्वारा अपने अपने मत के अनुरूप लिखे गये हैं। वस्तुतः प्रश्नावली वापस होने के पश्चात् उनका विन्यास किया गया है। प्रश्नों के विन्यासित होने के उपरान्त प्राप्त उत्तरों में टिक के अनुरूप जो प्राप्त हुये हैं वह इस प्रकार हैं :–

प्रश्न संख्या	कुल उत्तरदाताओं	
	हाँ	नहीं
1.	–	150
2.	190	–
3.	195	–
4.	195	–
5.	–	195
6.	–	195
7.	185	–
8.	–	160
9.	154	–
10.	195	–
11.	170	–
12.	190	–
13.	140	–
14.	–	182
15.	–	190
16.	184	–

इसके साथ साथ प्रश्न संख्या 17 से 21 तक की मतावली द्वारा जो विचार प्राप्त हुए हैं। उनको दत्तों में परिवर्तित करके निम्न रूप से अंकित किया गया है :

प्रश्न संख्या	कुल उत्तरदाताओं
17.	120
18.	88
19.	97
20.	188
21.	40

5. सांख्यकीय विश्लेषण :

प्रश्न संख्या के अनुसार प्राप्त दत्तों को प्रतिशत रूप में भी ज्ञात किया गया है कि किस प्रश्न को छात्रों तथा सन्तों ने कितने प्रतिशत मान में उत्तर

दिया है और कितने प्रतिशत ने 'हाँ' लिखकर अथवा 'न' में टिक (✓) लगाया है। इससे प्रश्न विशेष की उपादेयता अर्थात् उसका महत्व स्पष्ट हो जाता है :–

प्रश्न संख्या	प्रतिशत उत्तरदाताओं
1.	1.50
2.	1.90
3.	1.95
4.	1.95
5.	1.95
6.	1.95
7.	1.85
8.	1.60
9.	1.54
10.	1.95
11.	1.70
12.	1.90
13.	1.40
14.	1.82
15.	1.90
16.	1.84
17.	1.20
18.	.88
19.	.97
20.	1.88
21.	.40

उपरोक्त सारणी से प्रश्नों का प्रतिशत महत्व स्पष्ट हो जाता है। प्रश्न संख्या 2 से 6 तथा 10–12 एवं 14–16 तक प्रश्न अति महत्वपूर्ण है। यह प्रश्न प्राचीन शिक्षा पद्धति की महत्ता को पूर्णतः स्पष्ट करते हैं तथा कुछ शिक्षण विधियों की उपादेयता को अनिवार्य बताते हैं।

6. **विवेचना :**

यहाँ पर शोधकर्त्ता ने प्रश्नावली में प्रयुक्त प्रश्नों के महत्व का सांख्यिकीय विश्लेषण करके विवेचित किया है। यह विवेचन प्रश्नों के महत्व दर्शाता है। प्राचीन शिक्षा पद्धति में जो विधियाँ शिक्षण हेतु प्रयुक्त की जाती थी। उनका

वर्तमान समय में क्या स्थान हो सकता है। आदि आदि के विवेचन के लिए प्रस्तुत विवेचन की गई है।

प्रश्न संख्या – 1 : इस प्रश्न को 150 छात्रों ने 'नहीं' के रूप में उत्तरित किया है, जिसका तात्पर्य है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति अच्छी नहीं है। इसमें सुधार की आवश्यकता है।

प्रश्न संख्या – 2 : इस प्रश्न को 190 छात्र अर्थात् उत्तरदाताओं ने उत्तरित किया है। इनका उत्तर 'हाँ' में अर्थात् धनात्मक है, जो यह स्पष्ट करता है कि निःसन्देह प्राचीन शिक्षा पद्धति मानव के लिए अच्छी एवं कल्याणकारी थी।

प्रश्न संख्या – 3 : इस प्रश्न को 195 उत्तरदाताओं में से 195 ने ही इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया है, जो वर्तमान शिक्षा के ऋणात्मक बिन्दु को उजागर करता है।

प्रश्न संख्या – 4 : इस प्रश्न को 150 छात्रों ने 'नहीं' के रूप में उत्तरित किया है, जिसका तात्पर्य है कि प्राचीन शिक्षा पूर्णरूप से धार्मिक थी। धर्म चरित्र का निर्माण करता है और नैतिकता का विकास करता है यह धनात्मक बिन्दु प्राचीन शिक्षा का प्रमुख शीर्ष था।

प्रश्न संख्या – 5 : इसे 195 छात्रों ने उत्तरित किया है। वर्तमान शिक्षा का यह दोष पूर्ण बिन्दु है। धार्मिक शिक्षा की कमी होने के कारण वर्तमान में नैतिकता का ह्रास मिलता है।

प्रश्न संख्या – 6 : इस प्रश्न में भी उत्तर सम्पूर्ण चयनित 195 निदर्शन के उत्तरदाताओं ने दिया है। इनका उत्तर 'हाँ' धर्मपरायणता के महत्व को स्पष्ट करता है।

प्रश्न संख्या – 7 : 185 उत्तरदाताओं ने इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में तथा 10 उत्तरदाताओं ने 'न' में दिया है। अतः प्रश्न अपने आप में पूर्ण रूप से सटीक है।

प्रश्न संख्या – 8 : इस प्रश्न को 160 लोगों ने उत्तरित किया है, जो नकारात्मक है।

प्रश्न संख्या – 9 : विद्यालयी शिक्षा पुष्टि के लिए इस प्रश्न को प्रश्नावली में रखा गया है। जिसे 154 लोगों ने 'गुरूकुल प्रणाली' तथा 41 लोगों ने 'बौद्ध प्रणाली' अर्थात् प्राचीन शिक्षा पर आधारित शिक्षा पर बल दिया है।

प्रश्न संख्या – 10 : इस प्रश्न के उत्तर में 195 लोगों ने 'न' में उत्तर देकर अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के महत्व को नकारा है।

प्रश्न संख्या – 11 : इसे 170 लोगों ने उत्तरित किया है जो कि धनात्मक है। यह उत्तर शिक्षा के महत्व को स्पष्ट करता है।

प्रश्न संख्या – 12 : इस प्रश्न के उत्तर में 190 छात्रों ने 'हाँ' में टिक लगाकर रोजी –रोटी की शिक्षा का अस्तित्व दर्शाया है।

प्रश्न संख्या – 13 : इस प्रश्न को 40 उत्तरदाताओं ने उत्तरित किया है। यह उत्तर धनात्मक रूप से दिए गए है।

प्रश्न संख्या – 14 : प्राचीन शिक्षा के कुल छात्र संख्या 182 वर्तमान नवीन शिक्षण–परीक्षण पद्धति में प्रचलित 'वस्तुनिष्ठ पद्धति' को अच्छा नहीं समझते हैं।

प्रश्न संख्या – 15 : इस प्रश्न को 190 लोगों ने नकारा है। अतः स्पष्ट है। 'रटने' के स्थान पर छात्र 'स्मरण' को महत्व देता है।

प्रश्न संख्या – 16 : यह प्रश्न अति महत्वपूर्ण है। इसे 184 ने 'हाँ' में उत्तर दिया है। पाठ्य पुस्तक विधि आदि काल के महत्वपूर्ण रही है।

प्रश्न संख्या–17–20 : चूँकि इस प्रश्नावली के पाँच प्रश्न उत्तरदाताओं के मत पर आधारित है। अतः उत्तरदाताओं ने आदर्श रूप से उत्तर लिखें हैं, जिनका निष्कर्ष है, कि :–

प्रचलित गुरूकुल विद्यालयों में नायकत्व प्रणाली, धार्मिक शिक्षण विधि तथा मौखिक शिक्षण विशेष महत्वपूर्ण है। यह विधियाँ वर्तमान पाठ्यक्रम को देखकर शिक्षण में प्रयुक्त नहीं हो रही हैं। यद्यपि इनका अपना आधारभूत महत्व है। वर्तमान शिक्षण पद्धति में संवोध–विधि, वाद–विवाद, क्रिया द्वारा, अनुभव द्वारा, प्रश्नोत्तर, समूह शिक्षण, प्रत्यक्ष, तर्क, व्याख्या, भ्रमण द्वारा जीवन और प्रकृति की समझ, समन्वय विधि, प्रयोग द्वारा आदि अनेक विधियाँ विशिष्ट रूप से अपनाई जा रही हैं, जो प्राचीन पद्धतियों का परिष्कृत रूप है।

अतः प्राचीन काल में प्रचलित अन्य अनेकानेक शिक्षण–विधियों को जो आधुनिक जीवन शैली के लिए प्रांसगिक है, जिन्हें प्रज्ञाविदों द्वारा समय–समय पर परिष्कृत किया जाता रहा है; अपनाकर इस भूमण्डीकरण के दौर में शिक्षण को अधिक प्रभावी और ग्राह्य बनाया जां सकता है।

अध्याय - सप्तम्

निष्कर्ष एवं सुझाव

निष्कर्ष एवं सुझाव

इस शोध की समया है – **"प्राचीन भारतीय पाठ्यचर्या और शिक्षण पद्धति का विश्लेषणात्मक अध्ययन और वर्तमान सन्दर्भ में उनकी प्रासंगिकता"** भारत के **"प्राचीन"** को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। यथा – वैदिककाल, बौद्धकाल तथा नव्य ब्राह्मण काल । यहाँ पर **"प्रासंगिकता"** से तात्पर्य है। कि प्राचीन पाठ्यक्रम, शिक्षण एवं विधियाँ किस सीमा तक वर्तमान शिक्षा की समस्याओं का निराकरण करने में सक्षम है। इस शोध में ऐतिहासिक विधि का प्रयोग किया गया है। जिसके लिए प्रदत्तों का **संग्रह प्रायः प्राथमिक स्रोतों** से और कुछ **गौण स्रोतों** से किया गया है। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में उपर्युक्त तीनों काल चिन्हों में से प्रत्येक पर एक–एक अध्याय दिया गया है, जो तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में भूमिका के पश्चात् पाठ्यक्रम, द्वितीय में शिक्षण विधियाँ और तृतीय में उस युग की प्रसिद्ध संस्था का वर्णन किया गया है। जहाँ वह पाठ्यक्रम एवं पद्धतियाँ प्रचलित थी। अन्त में उनकी आधुनिक काल में प्रासंगिकता की चर्चा भी की गयी है और निष्कर्ष और सुझाव दिये गए हैं। प्रांसगिकता का विवेचन प्रस्तुत शोध कार्य का मुख्य लक्ष्य रहा है, जो प्रथम, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ विशेष रूप से सप्तम् अध्यायों में क्रमिक रूप से वर्णित है।

प्रस्तुत शोध कार्य का निष्कर्ष :

1. समान्यतः प्राचीन काल में शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी द्विज थे, जिनमें से क्षत्रिय और वैश्य प्रायः अपने व्यवसाय से सम्बन्धित शिक्षा प्राप्त करते थे। ब्राह्मण ही विशेषकर विद्याध्ययन करते थे और पुरोहितीय तथा शिक्षणकीय कार्य करते थे। प्रथम काल में शिक्षा वैदिक संस्कृत में प्रदान किये जाने के कारण सीमित थी। किन्तु बौद्ध काल में शिक्षा का माध्यम लोकभाषा पाली थी। इसलिए सभी लोग शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। अतः उसका बहुत अधिक विस्तार हुआ है। नव ब्राह्मणकाल में शिक्षा का माध्यम आधुनिक संस्कृत हो गयी थी तथापि प्राचीन काल की अपेक्षा उनकी माँग अब अधिक बढ़ गयी थी।

2. जैसा कि शोधकर्त्ता ने स्पष्ट किया है कि वैदिक काल में शिक्षा गुरू–आश्रमों में दी जाती थी। इसमें छात्रों की संख्या बहुत कम होती थी। संख्या में वृद्धि होने पर शिक्षागृह गुरू–कुलों में प्रदान की जाने लगी थी, किन्तु बौद्धकाल मे शिक्षा का विस्तार होनेके कारण वह संस्थागत हो गयी और अधिकांश में असंख्य विद्यार्थी ज्ञानार्जन करते थे तथा सहस्रों आचार्य शिक्षण कार्य करते थे। नव ब्राह्मणकाल में बौद्ध प्रणाली का अनुसरण करते हुये शिक्षा मठों में दी जाने लगी थी। इनमें भी विद्यार्थियों की संख्या पर्याप्त रहती थी। विभिन्न छात्र अपनी आवश्यकता और रूचि के अनुसार विषय पढ़ना चाहते थे। अतएव धीरे–धीरे पाठ्यक्रम में विविधता शिक्षा के विकास का एक स्वरूप भी थी।

3. प्राचीन काल में शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य ज्ञान प्राप्ति, चरित्र निर्माण तथा सामाजिक कुशलता आदि थे। इनके माध्यम से छात्र भौतिक जगत में सफल जीवन व्यतीत करने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त कर सकता था। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया था, जिससे विद्यार्थी सुखमय ससांरिक जीवन यापन कर सके और अन्त में ब्रह्मलीन हो सके।

4. प्राचीन काल में पाठ्यक्रम दो प्रकार का था, यथा – **धार्मिक** एवं **लौकिक**। **धार्मिक** पाठ्यक्रम में धार्मिक ग्रन्थों की शिक्षा देकर ज्ञानार्जन, धर्माचरण और नैतिकता की ओर उन्मुख किया जाता था। यही व्यक्ति के चरित्र को निर्मित करते थे जो अन्ततोगत्वा मोक्ष निर्माण कराने में सहायक होते थे।

   लौकिक पाठ्यक्रम में ऐसी विद्या प्रदान की जाती थी, जो तत्कालीन देश–काल में जीवकोपार्जन करने और गृहस्थ जीवन व्यतीत करने में सहायक सिद्ध हो सके। जैसे–जैसे समय व्यतीत होता गया और समाज की आवश्यकताओं में परिवर्तन होता गया। वैसे–वैसे ही नये लौकिक विषयोंका पढ़ना प्रारम्भ किया गया।

5. उक्त इन दो प्रमुख विभागों के अतिरिक्त एक **विशिष्टीकरण** का भी पाठ्यक्रम होता था, जिनमें ज्ञान के किसी विशिष्ट अंग को, जिसकी विषय–सामग्री धीरे–

धीरे बहुत व्यापक हो गयी थी। एक विशेष विषय मानकर पढ़ाया जाने लगा और छात्रों को उसमें पारंगत बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा था।

6. स्त्रियों का कार्य क्षेत्र पुरूषों से प्रायः भिन्न होता था। अतएव उनके लिये भी एक विशिष्ट पाठ्यक्रम की व्यवस्था की गयी थी। इनमें ऐसे विषय रखे जाते थे। जो उन्हें गृहस्थ जीवन को सफल बनाने में सहायक हों, किन्तु सामान्य विद्या को प्राप्त करने के लिये उनको कोई रोक–टोक नहीं थी और वे उनमें भी निणतहोकर पुरूषों की बराबरी कर सकती थीं। ज्ञान ग्रहण करने के क्षेत्र में स्त्रियों को समानता का अधिकार प्राप्त था।

7. तत्कालीन शिक्षण विधियों का उद्देश्य ज्ञान का सम्प्रेषण था। प्राचीन काल में पुस्तकें एवं लेखन–सामग्री नहीं थी। अतएव प्रायः सम्पूर्ण शिक्षण–विधियाँ मौखिक थीं और मुख के द्वारा प्रदान किया गया ज्ञान एक पीढ़ी तक जाता था। इसलिये विषय–सामग्री का अक्षरशः यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक था। इसीलिये प्रत्येक छात्र के व्यक्तिगत अध्ययन पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। गुरू एक छात्र को भली–भाँति ज्ञान देकर, दूसरे को शिक्षण प्रदान करने योग्य तैयार किया जाता था।

8. समस्त ज्ञान का आधार छात्र के मस्तिष्क में प्रारम्भ में निर्मित प्रत्यय होते थे। अतएव प्रत्ययों के निर्माण में बहुत अधिक सतर्कता बरती जाती थी। उसके लिए समुचित शिक्षण–विधियाँ निर्मित की गयी थी। इन विधियों में कई सोपान होते थे, जो पारस्परिक रूप से ऐसे अन्तर्ग्रस्त होते थे कि प्रत्यय का सविधि रूप भली–भाँति निर्मित हो जाता था।

9. शिक्षण विधियों में बहुश्रुत और बहुज्ञ की कल्पना को भी प्रश्रय दिया जाता था। अतएव बहुत–सी ऐसी शिक्षण विधियाँ निर्मित की गई थीं, जिनमें छात्र विद्वानों की परिचर्चायें सुनते थे और स्वयं बहुत से अनुभव प्राप्त करते थे। वे स्वयं परिचर्चा में भाग लेकर अपने ज्ञान का परिमार्जन करते थे।

10. छात्र में ज्ञान मात्र होना ही पर्याप्त नहीं समझा जाता था। इनमें विवेक होना आवश्यक था। ज्ञान और विवेक में यही अन्तर है जो अंग्रेजी के 'नोलेज' और 'विजडम' में है। विवेक ज्ञान के उपयोग करने की शक्ति को कहते हैं। अतएव बहुधा विधियाँ ऐसी निर्मित की गयी थीं। जिसमें छात्र को प्राप्त ज्ञान का प्रयोग करने का अवसर मिलता था। यहाँ विधियाँ प्रायः ज्ञान की क्रियात्मकता एवं व्यावहारिकता पर बल देती रहीं।

11. छात्रों की संख्या बढ़ने और गुरूओं के अनुपस्थित होने पर शिक्षण की समुचित व्यवस्था करने के लिए भी एक विधि का निर्माण किया गया था। जिसमें वरेण्य विद्यार्थी की सहायता शिक्षा देने में जी जाती थी। इससे जहाँ एक ओर विद्यार्थी का ज्ञान पुष्ट होता था वहाँ दूसरी ओर वह गुरू के नियन्त्रण में अध्ययन का प्रशिक्षण भी प्राप्त करता चलता था।

वैदिककालीन शिक्षा सम्बन्धी निष्कर्ष

पाठ्यक्रम :

1. **धार्मिक** : धार्मिक पाठ्यक्रम में प्रमुख चार वेद थे। यथा – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। इन वेदों के विस्तारक ग्रन्थ ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद आदि थे। वेदों का अध्ययन शिक्षा, कल्प, छन्द, व्याकरण, निरूक्त तथा ज्योतिष आदि वेदांगों की सहायता से किया जाता था।

2. **लौकिक** : इसके अन्तर्गत अग्रलिखित विषय पढ़ायें जाते थे। – इतिहास, पुराण, निधि, वाकोवाका, एकायन, भूतविद्या, सर्प विद्या, नक्षत्र विद्या, क्षय विद्या, देवजन विद्या, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, पिश्रुयराशि आदि।

विशिष्ट विषय :

वैदिक काल के अन्तिम चरण तक वेदांगों का व्यापक विस्तार हो जाने के कारण वे स्वयं विशिष्टीकृत विषय बन गए। यथा – व्यास – शिक्षाशास्त्र, यस्क निरूक्त शास्त्र, शकरायन – व्याकरण, पिंगल – छन्द शास्त्र लागध ज्योतिष शास्त्र।

वैदिक साहित्य के विस्तार के कारण उसमें भी विशिष्टीकरण आ गया और सूत्र ग्रन्थों का प्रादुर्भाव हुआ। यथा– श्रोत सूत्र, गृह्रय सूत्र, धर्म तथा शुल्क सूत्र।

वेदियों के निर्माण की प्रक्रिया के फलस्वरूप भी विशिष्ट विषयों का सूत्रपात हुआ। यथा– ज्यामितीय, अंकगणित, बीजगणित तथा शल्य क्रिया।

उपनिषद और आरण्यक में सन्निहित आध्यात्मिक तत्वों के परिणामस्वरूप विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ,, यथा– पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, न्याय, वैशेषिक सांख्य तथा योग।

वैदिक और सूत्र साहित्य से सम्बन्धित विशिष्ट पूरक साहित्य भी प्रकाश में आया। यथा– परिशिष्ट, प्रयोग, पद्धतियाँ कारिका तथा अनुक्रमणी।

स्त्रियोचित पाठ्यक्रम :

स्त्रियोचित पाठ्यक्रम प्रायः गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित था। इसमें गो–दहन, दुग्ध पदार्थ निर्माण, सिलाई, कताई, बुनाई आदि घरेलू उद्योग–धन्धों की शिक्षा दी जाती थी। उन्हें संगीत, नृत्य, वादन तथा अन्य ललितकलाओं का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। इन विशिष्ट विषयों के अतिरिक्त उन्हें पुरूषों के धार्मिक पाठ्यक्रम को पढ़ने की भी स्वतंत्रता थी। वे भी वेदाध्ययन आदि करके पुरूषों के साथ शास्त्रार्थ, यज्ञ तर्पण तथा सामगान करती थीं। अतः आपस में ज्ञान के आदान–प्रदान की विशिष्टि व्यवस्था थी।

शिक्षण विधियाँ :

शिक्षण विधियाँ पाठ्यवस्तु तथा बाल–प्रकृति पर आधारित मनोवैज्ञानिक थीं। उनका निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता था :–

1. **मौखिक विधियाँ :**

वैयक्तिक विधियाँ : मौखिक पाठ, कंठस्थी, प्रश्नोत्तर, निदर्शन, आगमन, संश्लेषण, सूत्र, साम्य, स्वगत कथन, योग एवं वैराग्य।

सहचर्यात्मक विधियाँ : व्याख्या, विचार–विमर्श, वाद–विवाद तथा परावर्तन।

प्रायोगिक विधियाँ : अन्वेषण, प्रयोग, प्रयोगात्मक।

प्रत्यय निर्माण विधियाँ : संबोध–श्रवण, मनन, निधिध्यासन।

नायकत्व विधि : शिक्षण–प्रक्रिया को प्रभावपूर्ण एवं गतिशील बनाने के लिए मेधावी छात्रों का सहयोग लिया जाता था।

वैदिककालीन प्रमुख शिक्षा मनीषी : शिक्षा केन्द्र

कश्यप (साम्रमती), वशिष्ट (अयोध्या), विश्वामित्र (कान्यकुब्ज), अगस्त्य (दण्डकारण्य), शुक्राचार्य (कोपरगाँव), भरद्वाज (प्रयाग), अत्रि (चित्रकूट), कण्व (कोटद्वार), च्यवन (देवकुण्ड), शौनक (नैमिष), परसुराम (महेन्द्रपर्वत), वाल्मीकि (तमसापुर), द्रोणाचार्य (हस्तिनापुर), सान्दीपनि (अवन्ती), व्यास (कालपी), कपिल (रेणुका झील तट), पातंज्जलि (गोमर्द), गौतम (गौतमकुंड–दरभंगा), वाचस्पति मिश्र कुण्ड (मिथिला), कणाद (प्रभास क्षेत्र), जनक (मिथिला), याज्ञवल्क्य (गौतमकुण्ड, दरभंगा), उद्दालक आरूणि (कुरू पांचाल), पाणिनि (गान्धारि, कन्धार) आदि के अलावा उपनिषद कालीन शिक्षा मनीषियों के नाम इस प्रकार है :–

महीदास ऐतरेय, श्वेताश्वर, कुशीतक, कुशीतक, शाण्डिल्य, पिप्पलादि, सनत्कुमार, वामदेव, अश्वपतिकेकय, सत्यकाम जावाल, श्वेतकेतु, गार्गी, मैत्रेयी।

तक्षशिला विश्वविद्यालय वैदिककाल का सुविख्यात शिक्षा–केन्द्र था। इसमें धनुर्वेद, आयुर्वेद तथा विधिशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन–अध्यापन समुचित विधियों के द्वारा किया जाता था। इसमें प्रमुख शिक्षक पुर्नवसु आत्रेय, सुश्रुत, चरक, जीवक, चाणक्य आदि थे।

बौद्धयुगीन निष्कर्ष

पाठ्यक्रम :

1. **धार्मिक** : वैदिक काल की भाँति बौद्ध शिक्षा में भी भिक्षुओं को धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य था। धार्मिक पाठ्यक्रम में प्रमुख तीन पिटक थे। यथा– धम्म पिटक, विनय पिटक तथा सुत्त पिटक।

लौकिक : इसके अर्न्तगत अग्रलिखित विषय पढ़ाये जाते थे – चिकित्सा विद्या, धनुर्विद्या, संगीत विद्या, वास्तु विद्या, नक्षत्र विद्या, अंग विद्या, भूत विद्या, सर्प विद्या, मन्त्र विद्या, सम्मोहन विद्या, शकुन विद्या, अभिसार विद्या, तन्त्र विद्या, हस्ति विद्या तथा आखेद विद्या आदि।

विशिष्ट : बौद्धकाल तक सुप्रसिद्ध शिक्षा–केन्द्रों की स्थापना हो गयी थी। ये पृथक–पृथक विषयों में विशिष्टीकरण प्रदान करते थे। यथा– तक्षशिला में आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा विधिशास्त्र का बनारस में संगीतशास्त्र का तथा नालन्दा में दार्शनिक सम्प्रदायों का विशिष्ट शिक्षण प्रदान किया जाता था।

ऋषि–आश्रमों में भी आध्यात्मिक, तात्विक एवं दार्शनिक विषयों में विशिष्ट शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था थी।

स्त्रियोचित शिक्षा : स्त्रियों का पाठ्यक्रम प्रायः गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित था। उन्हें कताई, बुनाई, सिलाई तथा अन्य घरेलू उद्योग–धन्धों की शिक्षा दी जाती थी। उन्हें संगीत, नृत्य, वादन तथा ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। इनके अतिरिक्त वे धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक विषयों का भी ज्ञान प्राप्त करती थी।

2. **शिक्षण विधियाँ** : इस युग में भी विधियाँ पाठ्यवस्तु तथा बाल प्रकृति पर आधारित मनोवैज्ञानिक थी। उन्हें निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :–

मौखिक विधियाँ : वैयक्तिक – मौखिक पाठ, कंठस्थी, व्याख्यान, अनुशिक्षण, बालकेन्द्रित, निर्देशन, प्रकृति अध्ययन वर्गीकरण तथा निर्देशन।

सहचर्यात्मक विधियाँ : विचार–विमर्श, प्रश्नोत्तर तथा प्रति प्रश्न।

प्रायोगिक विधियाँ : योजना, प्रयोग, क्रिया अभ्यास तथा परिभ्रमण।

पिट्ठी आचरिया विधि : शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थियों की वृद्धि हो जाने के कारण उपाध्याय गण व शिक्षण कार्य में मेधावी छात्रों का सहयोग लेते थे।

शिक्षा मनीषी : शिक्षा केन्द्र :

वर्धमान महावीर, गौतम बुद्ध, प्रमुख शिक्षा केन्द्र – मिथिला, अवन्ती, काशी, श्रावस्ती (बलरामपुर) और नालन्दा थे।

नालन्दा आदर्श शिक्षा केन्द्र था। इसमें देश–विदेश के विद्यार्थी ज्ञानार्जन हेतु जाते थे। इसमें अनेकानेक विषय प्रासंगिक विधियों के द्वारा प्रस्तुत किये जाते थे। इसके प्रमुख शिक्षा–मनीषियों में नागार्जुन, आर्यदेव, दिगंनाथ, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, स्थिरमति, धर्मपाल, शीलभद्र, कमलशील, बुद्धज्ञानपाद, पद्मसम्भव, वीरदेव आदि थे। नालन्दा के छात्राध्यापक ह्वेनसाँग, ईत्सिंग थे।

नव ब्राह्मणकालीन निष्कर्ष

पाठ्यक्रम :

1. **धार्मिक** : नव ब्राह्मणकाल में धार्मिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, रामायण, महाभारत, स्मृति तथा पुराण आदि ग्रन्थों को सम्मिलित किया गया था।
2. **लौकिक** : इस पाठ्यक्रम के अन्तर्गत अग्रलिखित विषय पढ़ाये जाते थे अंग, रहस्य, इतिहास–पुराण, आन्वीक्षी, त्रयी वार्ता, दण्डनीति, नक्षत्र विद्या, वास्तु विद्या, ज्योतिष विद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद तथा गन्धर्ववेद आदि।

   विशिष्ट पाठ्यक्रम : इसमें विद्यार्थी को प्रारम्भिक संस्कृत ज्ञान कराने के उपरान्त साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, विधि, चिकित्सा तथा काव्य आदि विषयों में विशिष्ट शिक्षण प्रदान किया जाता था।

   स्त्रियोचित पाठ्यक्रम : इस युग में भी स्त्रियों का पाठ्यक्रम प्रमुखतः गृहस्थ जीवन से ही सम्बन्धित था। उन्हें कताई, बुनाई, सिलाई, गृह–सज्जा, गृह स्वच्छता तथा गृह–आय–व्यय का शिक्षण प्रदान किया जाता था। इनके अतिरिक्त उन्हें ललित कलाओं, संगीत कला एवं सैन्य विज्ञान की भी शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षण विधियाँ :

इस युग में भी शिक्षण–विधियाँ वैदिक काल के अनुसार थीं। उन्हें निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :–

1. **मौखिक विधियाँ** : वैयक्तिक–मौखिक पाठ, कंठस्थी, व्याख्या, अधिकारवाद, कथा।

2. **साहचार्यात्मक विधियाँ** :शास्त्रार्थ, विचार–विमर्श, वार्तालाप।

3. **प्रायोगिक विधियाँ** : पूर्वकालिक युगों की भाँति इस काल में भी प्रयोजन विधि अपनाई जाती थी।

4. **नायकत्व विधि** : किसी बुद्धिमान शिष्य द्वारा शिक्षण किया जाता था जिससे उसके स्वयं ज्ञान का दृष्टिकरण होता था और शिक्षक प्रशिक्षण भी प्राप्त करता था।

प्रमुख शिक्षा केन्द्र और शिक्षा मनीषी

मिथिला – कुमारिल भट्ट, उदयनाचार्य, गंगेशोपाध्याय आचार्य आदि।

श्री शैल विश्वविद्यालय – नागार्जुन आदि

कम्बोज वि0 वि0 – कुमारजीव, गुणवर्धन, शबर, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त आदि

नवदीय – रघुनाथ शिरोमणि, वासुदेव सार्वभौम, चैतन्य महाप्रभु आदि

अवन्ती – मुंज, भोज, वराहमिहिर, भास्कराचार्य आदि

गंधार – अश्वघोष, वसुबन्धु, असंग आदि

पाटिलपुत्र – आर्यभट्ट प्रथम

शंकराचार्य स्थापित – ज्योर्तिमठ, श्रंगेरीमठ, गोवर्धन मठ, शारदा मठ

रामानुजाचार्य स्थापित – तोताद्रि, व्यंकटादि, मुनित्रय, ब्रह्मतंत्रपरकाल, अहोबिल, श्रीरंगम् और विष्णुकांची मठ।

जगद्दला, बलभी, ओदन्तपुरी सुप्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र रहे हैं। सर्वाधिक प्रमुख **विक्रमशिला** विश्वविद्यालय था। इसमें इस युग में प्रचलित पाठ्यक्रम वांछित विधियों के माध्यम से पढ़ाया जाता था। इसमें नरोपा, दीपंकर श्रीज्ञान, रत्नाकरशान्ति जेतारि, अभयंकर गुप्त, वैरोचन रक्षित, तथागत रक्षित और अन्तिम कुलपति शाक्य श्रीभद्र थे।

शोधकर्त्ता का सुझाव

1. **प्रासंगिकता** : शिक्षा समाज का कर्म होती है। प्राचीन और आधुनिक काल की आवश्यकताओं में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। अतएव प्राचीन पाठ्यक्रम की

प्रासंगिकता बड़ी सीमित है, किन्तु जिन सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षण–विधियों का निर्माण हुआ है वे काल निरपेक्ष हो सकते हैं और इसीलिए उनकी प्रासंगिकता का प्रश्न उठता है। अनेकानेक विधियाँ आज भी परिष्कृत होकर प्रासंगिक हैं।

2. **पाठ्यक्रम** : प्राचीन पाठ्य विषय आजकल की परिस्थियों और आवश्कताओं में उपयोगी नहीं बन सकते हैं। किन्तु पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धान्त; अब भी लाभप्रद हो सकते हैं। प्राचीनकाल में पाठ्यक्रम दो प्रकार का था – (क) अनिवार्य – जिनमें केवल धार्मिक विषय सम्मिलित थे। (ख) लौकिक – जो जीवन यापन में सहायक थे। आज आधुनिक समय में जो चरित्र का संकट उत्पन्न हो गया है उसका प्रमुख कारण धार्मिक विषयों को न पढ़ाना। आज के धर्म निरपेक्ष राज्य में नैतिकता को अनिवार्य कर देना चाहिए और आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार वैकल्पिक विषयों में परिवर्तन कर देना चाहिए। यह वैकल्पिक अनिवार्यता लगभग प्रारम्भ हो गई है।

3. वैकल्पिक विषयों का और अधिक विविधीकरण किया जाए जिससे जीवन की समृद्धि और भूमण्डलीकरण के अनुरूप विषय पढ़ाये जा सकें।

4. आजकल विद्यालयों में भी इतने विषय पढ़ाये जाते हैं कि छात्र घबडा उठता है अतएव कुछ संग्राही विषयों को पढ़ाया जाए, जिसमें कई विषय एक में ही समायोजित कर दिए जाए।

5. बालक के सर्वांगीण विकास के लिए उसके मानसिक विकास पर ही बल न दिया जाए। उसकी मानसिक तथा संवेगात्मक शिक्षा और शारीरिक विकास तथा जैव विविधता का भी पर्याप्त ध्यान रखा जाए। इस सबकी सहायता से उसके चरित्र का निर्माण किया जाए, उसकी आत्मा को संस्कारित किया जाए।

शिक्षण विधियों की प्रासंगिकता : नीति नियमन : मानसिक, जैव, शारीरिक शिक्षा के सन्दर्भ और वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिक कतिपय प्राचीन परिष्कृत विधियाँ :

1. प्रासंगिकता :

व्यक्ति है, जो सदैव रहेगा और उसके साथ, उसकी सारी कमजोरियाँ, विवशताएँ, आकाँक्षाएँ, प्रलोभनों में फँसावटें भी रहेगीं। व्यक्ति की यह स्थिति मानवीय है। इसके साथ ही उसमें निहित क्षमताओं की विविधता, उसकी सम्भावनाएँ व विशिष्टताएँ भी रहेंगी और इसी कारण वह अपनी इस स्थिति से पार पाने के लिए सदा चेष्टारत भी रहेगा। अतः उसे सदा सामयिक तरीकों, विधियों, प्रणालियों की आवश्यकता बनी रहेगी, जो उसके पूर्वजों ने अपने अनुभवों की धरोहर सौंपी है; और जो कुछ वहाँ नहीं मिलता अथवा अन्तरालों की धूल आच्छदित होने से, अथवा सामयिकता का प्रश्न उठ खड़ा होने पर, भारत में सदा से प्रज्ञानवानों द्वारा नवीन सन्दर्भों में, युग की माँग के अनुरूप अन्तरालों के टूटे तार जोड़कर, नई व्याख्या को, विज्ञान सम्मत और आधुनिक व प्रासंगिक; बनाने का कार्य होता आया है।

भारत में मानवीय कमजोरियों से पार पाने के लिये अध्यात्म को अत्याधिक महत्व दिया जाता था। यद्यपि इसके परिणाम स्वरूप आध्यात्मिक बड़ी निधियों का निर्माण सम्भव तो हुआ परन्तु इस अति के कारण भौतिक जीवन और सामूहिक कल्याण की घोर उपेक्षा हुई। शताब्दियों के अनुभवों ने दर्शाया है। कि भारत को गरीबी के सारे अभिशापों, और यहाँ तक कि आर्थिक एवं राजनैतिक दासता ने जकड़ लिया। जबकि इसके विपरीत पश्चिम ने धन, वैभव, संसार के संसाघनों पर अधिपत्य तो पाया परन्तु अध्यात्म को नकारने से मानवीय सद्गुणों के क्षेत्र में दीन हीन रह गया। इस प्रकार दोंनों **असंतोष** के आगोश में आकण्ठ कष्ट भोगने पर विवश हैं।

भौतिक और अध्याम की इन दो अतियों के कारण असंतोष व्याप्त हो गया है, और अब यही **व्याप्त असंतोष** मानव जाति के लिए एक अनुकूल कारक बना है। इसी से, भौतिकवाद अपनी गत शताब्दियों के अनुभव द्वारा आज नवीन खोजों के दबावों के प्रति झुक रहा है। इसी व्याप्त असंतोष के कारण अध्यात्म भी मनोशरीर के विकास के साथ–साथ भौतिक सम्पन्नता को स्वीकारने को स्थिति में आ गया है। अतः प्रयोगों की महत्वपूर्ण अवस्थाओं में **व्याप्त असंतोष** की समस्या का निराकरण; दो विपरीत ध्रुवों में समन्वित शिक्षा का विकास होगा–जो अध्यात्म के मार्गदर्शन में पदार्थ के विकास को पुर्नस्थापित करे।

अतः आज और भविष्य की मानव जाति के लिए भौतिक और आध्यात्मिक विषयों में समन्वेषण करना अपरिहार्य हो चला है। आज समन्वित शिक्षा की अवधारणा और मनोशरीर के व्यवहार के सन्दर्भ में– रहस्यों के संश्लेषण; शरीर, इन्द्रियों और जीवन साधनों को परिपूर्ण बनाने में; जीवन के सार्थक उपयोग हेतु आधुनिक रहस्यों की चर्चा, और उन्हें व्यावहारिक संगतता प्रदान करने की चर्या की बातें विश्वास पूर्वक की जा सकती हैं। भूमण्डलीकरण के दौर में, भारत को आधुनिक समृद्धि की ओर स्पर्धात्मक उपस्थित बनाये रखकर और साथ ही अपनी अंतर्जात सम्भावनाओं की ओर आगे बढ़ते रहने से ही भारत जीवन्त रह सकता है; इसके अलावा मानव जाति के पास कोई अन्य विकल्प अवशेष नहीं रहा है।

2. नीति नियमन-

(i) वैज्ञानिक मानसिकता प्राप्त करके, और वैज्ञानिक खोज का स्वभाव, फिर से बना करके; उसे मानवीय मन की शक्तियों के साथ जोड़कर; वैज्ञानिक ज्ञान का अन्य प्रकार के ज्ञान से सामंजस्य बैठाकर अपनी प्रज्ञा और प्रकृति के शक्ति प्रदायक भागों से घनिष्टता बैठाना।

(ii) भाषा, को किस प्रकार सीखना और प्रयोग करना, ताकि हम अपनी संस्कृति के अन्तस्तल तक पहुँचकर उसकी आन्तरिक भावना को समझ सकें। अपने

अतीत की अभी तक जीवन्त शक्ति और भविष्य की अभी तक असृजित शक्ति के बीच सजीव तारतम्य स्थापित कर सकें। विदेशी भाषा को किस प्रकार सीखें और प्रयोग करें ताकि उसकी सहायता से अपने चारों ओर के संसार से, सही सम्बन्ध स्थापित करके उन्नति कर सकें।

(iii) भारत को आधुनिक ज्ञान, विचारों को ग्रहण करना होगा जो पश्चिम के पास देने के लिए है, और उसे अपने ज्ञान, संस्कृति, स्वदेशी–स्वभाव और भावना, मन और सामाजिक प्रकृति में आत्मसात कर अपनी भावी सभ्यता का निर्माण करना होगा।

(iv) व्यक्ति का मन अत्यन्त विविधतापूर्ण है, सामान्य होकर अद्वितीय है और इनके बीच एक मध्यवर्ती शक्ति है, किसी राष्ट्र का मानस; चूंकि अभी तक कोई अधिक देखने वाला मन, कोई प्रज्ञा उसकी चेतना तल पर उभरी नहीं है, जो जीवन की इस आधारभूत पूर्णता को स्वतंत्र विकास की शर्त बना सके, अतः सबको आपस में जोड़कर सम्पूर्ण जीवन की एक अपेक्षाकृत बृहत्तर एकान्विति का रूप देने के लिये बृहत्तर सम्पूर्ण व्यक्तित्व, सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण शक्ति की आवश्यकता है। इसलिए घूमते हुए समय चक्र के साथ विश्व की प्रवृत्तियों से व्यक्ति और मानव जाति के लिये समन्वित मानवीय अस्तित्व में नए और भरपूर आत्मसन्तोष के विचारों और आन्तरिक तथा वाह्य अनुभवों की व्यापक पुष्टि होती है।

(v) समन्वित शिक्षा प्रक्रिया के रहस्यों का ज्ञान यद्यपि काफी हद तक वेदों और उपनिषदों में है। परन्तु युग परिवर्तन के साथ सामाजिक स्थितियों के अनुरूप उन्हें युग–ग्राह्य बनाना प्रज्ञाविदों का काम रहा है जिससे व्यक्ति और समाज की आकांक्षा, नये मूल्य, अभिरूचियाँ समायोजित हो सकें। सदा नवीन–सन्दर्भों में पूर्व के अनुभवों का प्रयोग व परीक्षण बार–बार होता रहेगा। इस प्रकार जो जो निष्कर्ष निकलेगे, उसे समयानुसार आवश्यकताओं के अनुरूप नये रूपों में

ढ़ालना होता है, ताकि प्रासंगिकता बनी रहे और समाज और व्यक्ति लाभान्वित हो सकें। जो कुछ उपनिषदों, वेदों में अन्तरालों के कारण नहीं मिलता है, उसे भी प्रज्ञाविदों द्वारा खोजा जाकर; कड़ियाँ प्रसतुत करते हुए पूर्ण बनाया जाता रहेगा।

(vi) प्रत्येक बालक अपने गुणों, विशेषताओं, क्षमताओं और प्रवृत्तियों की दृष्टि से अद्वितीय होता है और समन्वित शिक्षा में अपने व्यवहार में उत्तरोत्तर वैयक्तिक होने की प्रवृत्ति होती है, अतः इसी कारण से शिक्षा के तरीके, प्रणालियाँ, विधियाँ अधिकाधिक गतिशील बनते जाते हैं जिसमें बालक संवृद्धि के लिए सक्रिय रूप से भाग लेता है।

(vii) शिक्षा में सुनिश्चित करना होगा, कि मताग्रहों, कर्मकाण्डों, अनुष्ठानों संस्कारों, धार्मिक रीतियों को इसमें शामिल न किया जाए। मनोशरीर और जीवन की परिपूर्णता तभी प्राप्त की जा सकती है; जब मनोशरीर रूपी साधन का मानसिक और आध्यात्मिक चेतना का स्तर उच्चीकृत किया जाय। इस हेतु प्रशिक्षण द्वारा इन्द्रियों की संवेदनशीलता बहुत सूक्ष्म होती जायेगी। मानसिक जीवन एक अनश्वर जीवन, अनन्त दिक्काल निरंतर प्रगामी परिवर्तन, रूपों की सृष्टि में एक अखण्ड सातत्य है। दूसरी ओर आध्यात्मिक चेतना का अर्थ है– सारी सृष्टि, दिक्काल से परे, अनन्त और शाश्वत जीवन जीना। मानसिक जीवन के प्रति सचेत होने और मानसिक जीवन जीने के लिए आपको सारे अहंभाव का उन्मूलन करना होगा, लेकिन आध्यात्मिक–जीवन के लिये जरूरी है कि आपका कोई अहं हो ही नहीं ।

3. मानसिक, जैव, शारीरिक शिक्षा के सन्दर्भ :-

(अ) **मानसिक शिक्षा** :– मन का सम्बन्ध मुख्यतः समझने से है। सारी समझ एक ऐसे केन्द्र की खोज है, जिसके चारों ओर विचारों और विचाराधीन चीजों को जोड़कर एक साथ रखा जा सकता है। यह छात्रों के मन को प्रशिक्षित करने

की प्रक्रिया है, ताकि वे ऐसी केन्द्रीय अवधारणाओं पर पहुँच सकें, जिनके आधार पर सर्वाधिक व्यापक और जटिल और सूक्ष्मतर विचारों को आत्मसात और एकीकृत किया जा सके।

मन को इन मार्गों के अनुसार प्रशिक्षित करने के कार्यक्रम की पाँच अवस्थाएँ हैं –

- समग्र होशपूर्ण और ध्यान शक्ति का क्रमशः विकास।
- विस्तार, व्यापकता, जटिलता, सम्पन्नता की क्षमताओं का विकास।
- किसी केन्द्रीय अथवा उच्चतर आदर्शों अथवा परम ज्योतिर्मय भाव के चारों ओर जो जीवन में मार्गदर्शक का काम करेगा; विचारों का गठन।
- विचारों पर सम्यक् दृष्टि से अवांछनीय विचारों से छुटकारा होने से अन्त में वही सोचे, जो सोचना चाहता है, और जब भी सोचना चाहता है।
- मनोशरीर का मौन; शान्ति का विकास और अस्तित्व के उच्चतर लोकों से आने वाली प्रेरणाओं को ग्रहण करने की पूर्ण क्षमता का अधिकाधिक विकास।

विचारों की अनेकता, गहनता, दृष्टिकोणों की सम्पूर्णता– इन सबका विकास प्रेक्षण, मनोशरीर की प्रत्येक हलचल के प्रति होश पूर्णता विकसित करके रूचियों को व्यापक बनाकर किया जाना चाहिए।

(ब) **जैव शिक्षा** :– जैव (वाइटल) जीवन शक्ति– जो भावों, इच्छाओं, आवेगों में कम्पायमान होती है, को तीन दिशाओं में प्रशिक्षित करना हे। इसके वास्तविक कार्य की खोज करना, और इसकी अंहवादी, अज्ञानी प्रवृत्ति को प्रतिस्थापित करना, ताकि यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के उच्च सिद्धान्तों का पालन करने की इच्छा और क्षमता का स्वामी बन सकें; उसकी संवेदनशीलता को, जो ऐन्द्रिक और सौन्दर्य बोधात्मक क्रियाकलापों में व्यक्त होती है, को सूक्ष्म और उदात्त बनाना; जैव प्रयासों द्वारा निर्मित चरित्र के द्वैत ओर अर्न्तविरोधों को सुलझाना और उसके पार जाना तथा चरित्र का रूपान्तरण करना है।

प्राचीन काल में जैव–तत्व के साथ निपटने के तरीके थे– **त्याग, जप, दमन, सयंम, विरक्ति।** शताब्दियों के अनुभवों से पता चला कि **इनके स्थाई परिणाम नहीं निकलते** है। इसके अलावा इनसे **जीवनशाक्ति की प्रेरणा समाप्त हो जाती है** और इस प्रकार हम **आत्म–परिपूर्णता में जीवन–शक्ति के सहयोग से वंचित** हो जाते रहे है।

इसलिए जीवन शक्ति का सही प्रशिक्षण इससे कहीं अधिक सूक्ष्म और कठिन है, जिसके लिये सहनशक्ति, असीम धैर्य, अटल निश्चय की आवश्यकता होती है। क्योकि उद्‌देश्य, जीवन को नकारना नहीं है वरन् जैसा भी कुछ है, उसे परम स्वीकृत देते हुए, जीवन का रूपान्तरण करके, उसे परिपूर्ण बनाना है।

प्रथम– हमें इन्द्रिय–संवेदनों की शक्तियों का विकास करते हुए सूक्ष्म और समृद्ध बनाना है।

द्वितीय– आन्तरिक और प्रच्छन्न संवेदनों की खोज कर उसे विकसित करना है।

तृतीय– इन संवेदनों की कामनाओं को प्रशिक्षित करते हुए धटिया, अपरिष्कृत चीजों को नकार सके, और सौन्दर्य बोधक अनुभवों, परिष्कृत रूचियों का आनन्द ले सकें। अन्ततः कामनाओं, भावनाओं, महत्वाकांक्षाओं, कामेच्छाओं आदि के ज्वार, विद्रोह, परस्पर विरोधों का, गहराई से सूक्ष्म प्रेक्षण करते हुए, उनकी प्रत्येक गति और अगति अर्थात वे तत्व जो सहमति, सामन्जस्य में योगदान करते है, और वे तत्व जो विपरीत दिशा में जाते है; को अलग करके हमारे मनोवैज्ञानिक गठन की प्रकृति और उनके तंतुओं और कोशिकाओं से ही बाहर निकालने का प्रयत्न विभिन्न तरीकों से सम्भव है –

- बच्चों में, जितनी जल्दी हो सके, प्रगति और पूर्णता की इच्छा उत्पन्न करना।
- बौद्धिक तर्क, भाव और सदाशयता और प्रत्येक बच्चे की प्रकृति के अनुसार गरिमा तथा आत्मसम्मान की भावना को जगाना।
- इस विचार पर बल देना कि इच्छा–शक्ति को विकसित किया जा सकता है और किसी पराजय को अन्तिम न मानकर, सदा सजगता बनाये रखनी होगी।

- इच्छाशक्ति से अधिकाधिक प्रयास की माँग करते रहने से इच्छा–शक्ति प्रबल होती है।
- सबसे बडी बात यह है कि, शिक्षक का उदाहरण निरंतर और गम्भीरता पूर्वक प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

कला का प्रथम व निचला हिस्सा, विशुद्ध सौन्दर्य–बोध है, दूसरा बौद्धिक है, तीसरा और सर्वोच्च हिस्सा आध्यात्मिक है। संगीत, कला, नृत्य, प्रकृति का सानिध्य कविता आदि आत्मा के लिए सम्पूर्ण शिक्षा बनती है (जब यह सब अपनी मौज से स्वान्तः सुखाय हो; किसी की प्रशंसा या अन्य लोभों से विलग रहे) ये वे कारक हैं जिनकी मानव जाति प्रगति के पथ पर आगे बढ़ती हुई अपनी यात्रा के दौरान उपेक्षा नहीं कर सकती अथवा ऐन्द्रिक आनन्द भोग के लिये उनका उपयोग कर उनकी अवमानना नहीं कर सकती क्योकि मात्र ऐन्द्रिक आनन्द भोग चरित्र का विघटन करता है। ललित कलाओं का उपयुक्त उपयोग करने से उत्तम शिक्षा नैतिक स्तर को उठाने वाली, सभ्य बनाने वाली, महान शक्तियाँ बनती हैं। अतः व्यक्ति की इच्छाशक्ति को विकसित करना और इच्छा–शक्ति के प्रयोग को बढ़ाना, इसमें अधिक महत्व **परिणाम का नहीं** वरन **भरसक प्रयत्न** का है।

शारीरिक शिक्षा :

शरीर हमारा आधार है, जीवन का माध्यम है, इससे ही आध्यात्मिक मूल्य व्यक्त होते हैं। शारीरिक शिक्षा का विनियमन पूरी तरह विधि, व्यवस्था, अनुशासन और प्रक्रिया से होता हैं। सम्पूर्ण शारीरिक शिक्षा कठोर, विस्तृत और विधि पूर्वक होनी चाहिए।

- शरीर के कार्यों का नियंत्रण और अनुशासन।
- सभी अंगों और गतियों का पूर्णतः रीतिबद्ध और सामंजस्यपूर्ण विकास।
- शारीरिक विकार या दोष, यदि हों तो उनका उपचार; शरीर के ढ़ांचों, कार्यों की जानकारी पर आधारित–आदतों का निर्माण।

- भोजन का चुनाव–पुष्टिकर, स्वास्थ्यकर हो।
- स्वच्छता की आदतों का निर्माण।
- पर्यावरण के प्रति जागरूकता।

विशेषताएँ :

- अभ्यास से सीखना।
- ज्ञान की एकता और अर्थ की खोज।
- अन्तहीन शिक्षा और शाश्वत युवावस्था।
- शरीर लचीला, चुस्त व मजबूत रहे।
- जैव विकास गतिशील, सन्तुलित, सामंजस्यपूर्ण, स्वतंत्र, समृद्ध बन सके।
- महान खोज की इच्छा, आप जो हैं, जो कर सकते हैं, के ऊपर उड़ान भरती रहे ताकि अपनी स्वत्व की सभी गतियों पर सदा दृष्टि रहें।

वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिक कतिपय प्राचीन परिष्कृत विधियाँ :

प्रस्तावित विधियों को दो प्रकार से अपनाया जा सकता है – विद्यालयीन शिक्षा में और जो विद्यालयीन शिक्षा में कई कारणों से शामिल नहीं हो सकती हैं, परन्तु जीवन में, जीवन के द्वारा और जीवन के लिए अपरिहार्य हो गई हैं– शिविरों (त्रिदिवसीय) के माध्यम से अपनाये जा सकने की सुविधा आज सहज उपलब्ध है। इनसे लाभान्वित होकर हम अपने को विश्व में सामयिक स्थिति में पायेगें और प्रौद्योगिक क्षमताओं के स्पर्धात्मक स्तर को कायम रखते हुए, अर्न्तजात सम्भावनाओं के विकास द्वारा विश्व में श्रेष्टता स्थापित कर सकेगें। इस प्रकार मनोशरीर संसाधन का भरपूर, युक्ति संगत, विज्ञान सम्मत, सदुपयोग सम्भव होगा।

अर्न्तजात सम्भावनाओं के विकास हेतु त्रिदिवसीय शिविरों में विधि-प्रयोग :

1. **सामान्य योग विधि :** 'एन आटोवायोग्राफी आफ एन योगी' – योगानन्द

प्रयोगस्थल–राँची

(i) शारीरिक विकारों, दोषों को (निर्देशित श्वाँस प्रक्रिया द्वारा) तन्तुओं, कोशिकाओं से बाहर निकालते हुए स्वस्थ प्राण ऊर्जा का सम्बन्धित अंग पर आरोपण करते हुए सम्बन्धित अंगो को सामंजस्य पूर्ण बनाता है।

(ii) शरीर के ढाँचे, कार्यों की जानकारी पर आधारित–आदतों का निर्माण।

2. **योग विधि और आयुर्वेद :** रामदेव – कनखल – हरिद्वार

शिविरों के माध्यम से प्रशिक्षण और उपचार।

3. **सर्वांगपूर्ण योग विधि :** महर्षि अरविन्द, आरूविले – पांडिचेरी

स्वर्ग, निर्वाण, सिद्धि लक्ष्य नहीं है, वरन् जीवन में, जीवन को, रूपान्तरण करते हुए अनन्तता व जीवनन्तता ही पूर्ण योग है।

(i) **परिशोधन** – यह शरीर के अंतः और बाह्य का शोधन, समता के दिग्दर्शन से होता है। निम्न प्रकृति की सभी क्रियाओं, विभिन्न द्वन्दों, भावों, इच्छाओं, आवेशों, में काम्पायवान होने की स्थिति को, अज्ञान की तरह देखने की प्रवृत्ति को दूर करने का प्रयास है। इस शोधन से मन की शान्ति, चित्त की स्थिरता, प्राण की एकाग्रता, हृदय की तन्मयता, निम्न विकारों से निष्क्रति प्राप्त होती है। यह पूर्णयोग की आधारभूमि है।

(ii) **स्वतंत्रता :-** मनोशरीर की सामूहिक अचेतन तल की विभिन्न वासनाओं, बन्धनों, आकर्षणों से परे होकर, प्रतिक्रिया व चुनाव रहित हो जाना, स्वतंत्रता अर्थात् स्व के तंत्र में स्थिति है। ससीम से असीम की, शाश्वतता से सम्बन्धित होना है। इसके दो पद है – एक निषेधात्मक; अर्थात् सत्ता की प्रकृति के बन्धनों से अप्रभावित अवस्था, और दूसरा –विधायक भाव–दशा; उच्चतर आध्यात्मिक सत्ता में समाहित रहकर दिव्य अनुभूतियों में रमण करना है।

(iii) **कुशलता :-** मनोशरीर का प्रकृति के साथ एकत्व सद्य जाने पर मनोशरीर वातायन बनता है अर्थात् प्रकृति के लिए मनोशरीर झरोखे का काम करता है। अब प्रतिक्रिया होना समाप्त है, और परम् स्वीकार भाव दशा, धनीभूत होते ही, मात्र आश्चर्यवत् विशुद्ध दृष्टा भाव रहता है।

(iv) **अतिमानवः उपलब्धि** – परिधि स्तर पर मनोशरीर अपनी पूरी सम्भावनाओं, क्षमताओं, विशेषताओं के साथ पूर्ण सक्रिय हो उठता है और केन्द्र पर प्रशान्त, प्रतिक्रिया रहित, चुनाव रहित, पूर्ण चैतन्य मात्र रहता है।

4. **(अ) भ्रमण विधि :** (प्रकृति के सानिध्य में) रविन्द्र नाथ टैगोर द्वारा चौथी व पाँचवीं विधि शान्ति निकेतन (विश्वभारती)

{तथा बाद में परिष्करण – **ओशो** –पूना (शिविरों के माध्यम से)}

चूंकि टैगोर सृष्टि को परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानते थे, अतः जीवन को, उसके सभी पक्षों के साथ, उन्होंने पूरी स्वीकृत दी है।

प्रशिक्षण – (i) यांत्रिकता से बाहर निकलने का अभ्यास।

(ii) अकेला होना, स्वीकृत होने का अभ्यास।

(iii) अपने अज्ञान के प्रति स्वीकार भाव–दशा।

(iv) प्रकृति के साथ सहयोगी बने रहें – मनोशरीर का अवलोकन, मौन, स्वीकार भाव के साथ पूरे प्राकृतिक परिदृश्य के साथ एकत्व।

(v) इन्द्रियों की संवेदनशीलता विकसित होने दें।

(vi) सारे शब्दों, वैचारिक तरंगों से मुक्त, रहना सीखें।

(vii) पहिली बार, अवाक् आश्चर्यवत् हो रहें।

" Sitting Silently, Doing Nothing, The Grass It Self Grows"

परिणाम– यह सधने लगे तो मनोशरीर शिथिल, विश्रामपूर्ण और शान्त होता जायेगा तदोपरान्त स्वमेव मनोशरीर और प्रकृति अभेदात्मक हो रहेगे परिणामस्वरूप जीवन में जीवन्तता खिल उठेगी।

5. **ललित कला विधि :** (यह स्थूल से सूक्ष्मतर होते जाने की यात्रा है) जीवन का इन्द्रिय द्वारों से, जीवन में प्रवेश है। जीवन,इन्द्रिय द्वारों से आहार पाता है।

प्रशिक्षण - आँख का आहार रूप है, अतः रूप के चारों ओर (**Gap**) अन्तराल के साथ रूप का अवलोकन। कान का आहार शब्द है, अतः संगीत, ध्वनि तरंगों की सूक्ष्मतर होती जाती तरंग की अनुगूंज से मनोशरीर गुंजित रह जाये। स्पर्श का वायुतत्व, स्पन्दन है, अतः चित्रकला, बागवानी, नृत्य, रचनात्मक कार्यों का प्राणस्पर्शित रह जाना। इस प्रकार इन्द्रियों की संवेदनशीलता विकसित करते जाए, तो मनोशरीर की यात्रा से व्यष्ठि के केन्द्र का, और समिष्ठ की यात्रा से सबके केन्द्र का पता चलता है तत्पश्चात् अनन्तता में प्रवेश है।

परिणाम : यह विधि नैतिक स्तर को उच्चीकृत करते हुए, मनोविकारों से मुक्ति प्रदान करती है, सुसम्य बनाते हुए, मनोशरीर को संगतपूर्ण, हल्का, तनावरहित व सामंजस्यपूर्ण बनाती है।

6. **प्रार्थना विधि :** मोहन दास करमचन्द्र गान्धी – वर्धा व साबरमती

प्रार्थना गान्धी जी की रक्षिका रही है। प्रार्थना के लिए, निम्र मनस के क्षुद्र स्वार्थों, आवेग कम्पित व्यक्ति, के योग्य नहीं है। प्रार्थना भीख नहीं है और न यह याचना है वरन् यह दाता की हैसियत रखने से ही पोषकतत्व से परिपूर्ण है। यह चुनिन्दा शब्दों का संगीतमय उच्चारण भी नहीं है वरन् चेतनास्तर को उच्चीकृत करने का सशक्त व प्रभावी माध्यम है। यह धर्मभीरू व निर्बल नहीं बनाती वरन् अभय को पुष्ट करने वाली, सकारात्मक रूप से सबल बनाती है।

शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिये व्यायाम, विज्ञान सम्मत है। **मन** के लिये अनिवार्य व्यायाम है – सकारात्क भाव, व विचार–विमर्श, रचनात्मकता, ललित कलाएँ, नृत्य संगीत, काव्य, बागवानी, प्रकृति का सानिध्य, विधायक भाव दशा है। **आत्मबल**, की तेजस्विता, बनाये रखने हेतु व्यायाम है– प्रार्थना।

शब्दों के ध्वन्यात्मक प्रभाव के कारण इनमें निहित चुम्बकीय तरगें स्नॉयुमण्डल को प्रभावित करतीं हैं। इसी प्रभावी शक्ति के कारण हमारी संस्कृति में

शब्दों को दूषित करना वर्जित है, इसलिए इसे पाप कहा गया है। शब्दों को उनके प्रभावों के अनुरूप वर्गीकृत कर उन्हें मंत्रो के लिए चुना गया है। इसके बाद उन्हें श्रृँखलाबद्ध किया गया है। ताकि वे अधिकाधिक प्रभावोत्पादक विद्युतघटक का काम कर सकें। इनका समुचित प्रयोग एक कला के साथ विज्ञान भी है।

कल्याण– भाव के लिए शब्द प्रक्रियाओं को, विधि प्रकार से विधनित किया गया है। इन्हीं को, सम्मोहन तथा आत्म परामर्श कहा जाता है, जिनका प्रयोग अनेकानेक अवरोध, (मनोशरीर सम्बन्धी) दुर होकर, उन्नति के लिए होता है। अनुकूल परिस्थिति में सफलता सुनिश्चित है तथा विपरीत परिस्थितियों में आत्मबल को बढ़ाता है।

प्रार्थना, बहुजन हिताय सबके कल्याणार्थ की जाए; तो प्रार्थी के लिये अत्यधिक प्रभावी हो उठती है। इसके साथ–साथ जो कुछ भी आपको प्रकृति द्वारा, या अन्यों से मिला है, उसके प्रतिकृज्ञता ज्ञापित होने से भी, लाभान्वित होते रहते हैं। श्रद्धाभाव, विशुद्ध होने पर प्रार्थना करने के पहिले ही, पूरी हो जाती है।

परिणाम : प्रार्थना विधि से व्यक्ति को अपनी निहित शक्तियों की अनुभूति व सामर्थ्य से परिचय; अहं का शिथिलीकरण, विनम्रता का विकास, विधायक भावों की अभिवृद्धि, स्वयं को सारी सृष्टि के साथ अविभाजित, समझ व अभिन्नता विकसित होकर आत्मनिवेदन सही अर्थो में समर्पण बनकर परम सत्ता के साथ अद्वैत स्थिति घटित होती है।

7. प्रथम **"डायनेमिक"** से लेकर अन्तिम विधि **"शरीर व मन से बातचीत की विस्मृत हुई भाषा का पुर्नस्मरण"** तक ओशो ने, पूना और विभिन्न स्थानों में त्रिदिवसीय शिविरों को आयोजित कर सैकड़ों विधियों पर **विज्ञानसम्मत**, आधुनिक मनुष्य की स्थिति को ध्यान में रखते हुए, प्राचीन विधियों का परिष्करण, कम समय में अत्यधिक प्रभावी (जेट गति) विधियों को विकसित किया। कृत्य तत्पर, और अकृत्य मन : दशा, वाले, विभिन्न

स्वभाव, रंग, ढ़ंग वालों के लिए, विभिन्नता के साथ विश्व के सभी मनुष्यों के लिए, वर्तमान और भविष्य में, सामयिक रहने वाली विधियों पर बहुत काम किया है।

उन सब पर तो अनेक ग्रन्थ भी कम पड़ेगें इसलिए स्थानाभाव से उल्लेख मात्र किया जा रहा है।

विद्यालयीन शिक्षण में प्रासंगिक विधियाँ :

1. संबोध विधि :-

इसका प्रयोग प्रत्यय निर्माण में किया जाता था। आजकल की शिक्षा में प्रत्यय निर्माण पर बल नहीं दिया जाता है। जिससे ज्ञान संदिग्ध रहता है। प्रत्यय निर्माण करने की यह विधि आज भी अपनाई जा सकती है।

2. कंठस्थीकरण :-

इस विधि को आज तिरस्कृत कर दिया गया है, किन्तु बाल्यकाल से किशोरावस्था तक पुनराभिव्यक्ति स्मृति बड़ी तीव्र रहती है। अतएव बच्चे को सब बातें कंठस्थ करा देना चाहिए जो उसके जीवन में लाभप्रद पूँजी बनेगी। आज की शिक्षा में बालक पाठ्य–पुस्तकें कम और संक्षेपिका अधिक पढ़ता है और नकल करके पास होने का प्रयास करता है। ऐसी दशा में कंठस्थ सामग्री बालक का वास्तविक ज्ञान होगा।

प्राचीन काल में व्यक्तिगत भेदों के आधार पर बालक को पढ़ाने की प्रथा थी। आज जब व्यक्तिगत भेदों पर बड़ा जोर दिया जा रहा है, तब ऐसे में प्राचीन पद्धतियों का प्रयोग करना लाभप्रद होगा।

प्राचीन समय में नायकत्व प्रथा का प्रयोग करके जहाँ एक ओर शिक्षक की कमी पूरी की जाती थी, वहाँ दूसरी ओर उन्हें शिक्षण–प्रशिक्षण भी मिलता था। वर्तमान समय में इसे पुनः प्रारम्भ करने की आवश्यकता है, जिससे इन नायकों

(शिक्षकों) को छोटे–छोटे ग्रामों में बसाकर उन्हें अपने निजी विद्यालय चलाने को कहा जा सके। राजकीय परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों की संख्या के आधार पर इन शिक्षकों को अनुदान दिया जाए। इससे कम आबादी के ग्रामों में सरकारी स्कूल खोलने की समस्या का निराकरण हो सकता है। इसके साथ–साथ उक्त वर्णित व अन्य विधियों का भी वर्तमान समय में प्रयोग किया जा सकता है।

3. सामाजीकरण विधि : (वर्तमान में संवैधानिक मूल्यों की अभिवृद्धि हेतु)

प्रोत्साहन बिन्दु :

- आचरण का प्राथमिक सूत्र है – बुराई रहित हो जाना (भलाई न कर सको तो न करो)
- मानव समाज को सत्पुरूषों के जीवन से, आचरित उनके सद्‌गुणों को अपने जीवन और व्यवहार में उतारने की शिक्षा व आचरण में उतारने का बल मिलता है।
- सत्पुरूषों के व्यावहारिक–अनुभवों से पता चलता है कि मानवता ही वास्तविक जीवन है। हम शरीर और इन्द्रियों से जैसा भी भोजन लेते हैं, वैसी ही हमें पुष्टि मिलती है। जैसा हम विचार करेगें वैसा ही मनस निर्मित होता है। अतः अनुभवों से ज्ञात होता है। कि हमारे सकारात्मक सोच, रचनात्मक कार्यों में रूचि रखने से हमारा ही व्यक्तित्व विधायक बनता है। यह स्वयं की, स्वयं में समृद्धि का कारण है।
- निम्न स्वार्थ, सदा माँगने व पाने का भाव; हमें न केवल, सदा दुखी बनाये रखता है, वरन् हमारे व्यक्तित्व को सिकोड़ता भी है। यह अनुभव और एहसास सभी के लिए, सभी समयों में घटित होता है अतः यह अनुकूल कारण बनता है कि इस समस्या को पार पाया जा सके।

- माँ अपने परिवार में सबसे पीछे रहकर, सभी सदस्यों को भोजनादि देती है और सबके बाद में जो कुछ बचा, उसी को ग्रहण करती है तथा अपेक्षाकृत तनाव रहित और तुष्ट रहती है। यह देने के भाव का परिणाम है। देने की प्रक्रिया में मिलना सुनिश्चित है।
- प्रकृति में जो कुछ अत्यन्त अपरिहार्य है, बगैर मूल्य चुकाये हमें सदा उपलब्ध है– सूर्य से जीवन, वायु से श्वँसन, जल से वनस्पति आदि। देने का भाव प्रकृति में है। यह देने का भाव, समाजोन्मुख होकर, उसे अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर बनाने का भाव–मात्र से हमारे तनाव शिथिल होते है, शरीर हल्का व प्रफुल्लित रहता है तथा हमारा व्यक्तित्व विस्तारित होता है।
- सुप्त मानवीय गुणों को जगाने से, स्वनिर्माण भी साथ–साथ घटित होता जाता है तब अगले साधनों का निर्माण भी होता जाता है।
- प्राप्त बल, बुद्धि, अवस्था, परिस्थिति, का सदुपयोग करना सीखते सीखते अन्ततः एकत्व का बोध, व उसकी स्वीकृत भी सम्भव हो जाती है।

प्रशिक्षण :– पहिले छोटी छोटी बातों व चीजों से शुरू करें, फिर क्रमशः परिधि को विस्तार दें।

- नमस्कार करना, आदर देना, कुशलक्षेय पूँछना, आसन देना, पानी पिलाना आदि।
- छोटे मोटे काम, यात्रा में समायोजन, पर्यावरण के प्रति सजगता, स्वस्थ आदतों का निर्माण, स्वच्छता के प्रति प्रतिबद्धता, शब्दों का सार्थक, रचनात्मक उपयोग।
- अन्यों के प्रति सकारात्मक सोच–विचार, रचनात्मक कार्यों के प्रति रूचि;
- समाजोन्मुख कार्य–व्यवहार–सौन्दर्य वृद्धि हेतु; समरसता वृद्धि, भावात्मक बोध वृद्धि हेतु।

उपरोक्त विधि–प्रयोग संवैधानिक मूल्यों की समप्राप्ति में सहायक है।

अग्रिम अनुसन्धान हेतु सुझाव बिन्दु

1. जैव शिक्षा : शिक्षार्थी के अचेतन तल की जैव शक्तियों की पहिचान और उनका प्रशिक्षण : रूपान्तरण।
2. जैव शिक्षा : शिक्षार्थी के सामूहिक अचेतन तल पहिचान और उनका प्रशिक्षण : रूपान्तरण।
3. शिक्षाा में सम्मोहन और आत्म–परामर्श द्वारा मनोशरीर के स्वास्थ्य को संगतपूर्ण बनाना और मनोशरीर संसाधन का प्रभावी प्रयोग।
4. शिक्षार्थी की नकारात्मकता की पहिचान : शोधन प्रक्रिया : उनका विधायक रूपान्तरण।
5. सामाजिक सरोकरों : अर्न्तजात सम्भावनाओं का उन्नयन हेतु विधिः प्रयोग।
6. स्त्री ऊर्जा और पुरूष ऊर्जा केन्द्रों की पहिचान : समन्वेषण : प्रशिक्षण।
7. शरीर के तन्तुओं में विद्यमान अवरोधों को रचनात्मकता में रूपान्तरण की वैज्ञानिक प्रविधियाँ।
8. मनोशरीर की विविधताओं का प्रकृति के साथ एकत्व व उसकी प्रविधियाँ।
9. इन्द्रियों की क्षमताओं की पहिचान : वैज्ञानिक उपाय : समन्वेषण।
10. विचार, कार्य–व्यवहार में अबाधित मानसिक व शारीरिक स्वतंत्रता प्राप्ति के वैज्ञानिक प्रयोग।
11. प्रौद्योगिकी–विकास हेतु मानसिक सामर्थ्य : उन्नयन : भविष्य के लिए मनुष्य की सम्भावनाएँ।

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

स्वनिर्मित एवं मानकीकृत प्रश्नावली

दत्तों की सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(हिन्दी वर्ण क्रमानुसार)

मौलिक स्रोत – (वैदिक कालीन)

क्रमांक	ग्रन्थ	लेखन एवं प्रकाशन
1.	अथर्ववेद	एस0 पी0 पण्डित, बम्बई (1895)
2.	आपस्तम्ब धर्म–सूत्र	बनारस (1932)
3.	आपस्तम्ब ग्राह्य–सूत्र	एस0 बी0 ई0 ग्रन्थ 30 (1892)
4.	आपस्तम्ब स्रोत–सूत्र	मैसूर (1944)
5.	अश्वपलायन गृह्य–सूत्र	उदायार (1944)
6.	ईश उपनिषद	अष्ट उपनिषद, ग्रन्थ प्रथम स्रोत
7.	ऐतरेय ब्राह्मण	आश्रम (1972)
		आनन्द आश्रम संस्करण (1931)
8.	ऐतरेय आरण्यक	ऐ0 बी0 कीथ, आक्फोर्ड (1909)
9.	ऐतरेय उपनिषद	अष्ट उपनिषद, ग्रन्थ द्वितीय अद्वैत आश्रम (1973)
10.	केनोपनिषद	अष्ट उपनिषद, ग्रन्थ प्रथम अद्वैताश्रम (1972)
11.	कोशितकी उपनिषद	उपनिषद विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर (1949)
12.	कथोपनिषद	अष्ट उपनिषद, ग्रन्थ प्रथम अद्वैताश्रम (1972)

13.	गोपथ ब्राह्मण	एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (1972)
14.	गौतम धर्म–सूत्र	एल0 श्री निवासचार्य, मैसूर (1917)
15.	गोभिल गृह्य–सूत्र	मैक्समूलर (1892)
16.	छान्दोग्य उपनिषद	आर्य प्रकाश पुस्तकालय, आगरा (1965)
17.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	आनन्द आश्रम संस्करण (1934)
18.	तैत्तिरीय आरण्यक	हरिनारायण आप्टे, पूना (1898)
19.	तैत्तिरीय उपनिषद	अष्ट उपनिषद, ग्रन्थ प्रथम, अद्वैत आश्रम (1972)
20.	प्रश्नोपनिषद	अष्ट उपनिषद, ग्रन्थ द्वितीय, अद्वैत आश्रम (1973)
21.	बृहदकारण्यक उपनिषद	मोतीलाल जलन गीताप्रेस, गोरखपुर (1969)
22.	बोधायन धर्म–सूत्र–शास्त्र	ई0 हुल्दज रोह लिपिक (1884)
23.	बोधायन धर्म–सूत्र	बुहलर (1879)
24.	बोधायन गृह्य–सूत्र	मैसूर (1920)
25.	मैत्रेयी उपनिषद	उपनिषद विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर(1949)
26.	मुण्डक उपनिषद	अष्ट उपनिषद ग्रन्थ द्वितीय, अद्वैत आश्रम (1973)
27.	माण्डूक्य उपनिषद	अष्ट उपनिषद ग्रन्थ द्वितीय, अद्वैत आश्रम (1973)

28. यजुर्वेद — महपि देवरात, चौखम्बा विद्या भवन, (1978)

29. विष्णु धर्म–सूत्र — अनुवादक जे0 जोली, एस0 बी0 ई0 ग्रन्थम सप्तम् (1880)

30. सामवेद — बनारस (1883)

31. स्वंतास्वतरोपनिषद — उपनिषद विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर (1949)

32. शतपथ ब्राह्मण — अच्युत ग्रन्थ माला, पुस्तक एकादश, बनारस

33. ऋग्वेद — एम0 एन0 दत्ता, कलकत्ता (1906)

मौलिक ग्रन्थ – बौद्ध कालीन

1. अंगुत्तर निकाय — भिक्षु जगदीश कश्यप, भाग 1–4, चौखम्बा विद्या भवन (1976)

2. कथा–वस्तु — भिक्षु जगदीश कश्यप, चौखम्बा विद्या भवन, (1978)

3. निकाय — भिक्षु जगदीश कश्यप, चौखम्बा विद्या भवन, (1978)

4. चुल्लवाग — एस0 बी0 ई0 20

5. जातक — कोवेल कृत अंगेजी अनुवाद

6. थेरी गाथा — एन0 के0 भगवत, बम्बई, 1937

7. दीर्घ निकाय — सम्पादित भिक्षु जगदीश कश्यप, चौखम्बा (1978)

8. धम्म पद — सम्मापिद पी0 एल0 वेद्य, पूना (1934)

9. निदान कथा — अनुवादक डा0 महेश तिवारी, चौखम्बा विद्या भवन, (1978)

10. महावण्ण — एस0 बी0 ई .17. आक्फोर्ड (1885)

11. मिलिन्द प्रश्न — भिक्षु जगदीश कश्यप, मूल सहित हिन्दी अनुवाद, चौखम्बा विद्या भवन (1978)

12. मज्झिम निकाय — भिक्षु जगदीश कश्यप, सम्पादित, भाग 1–3, चौखम्बा विद्या भवन (1976)

13. महावंश — आनन्द कोसल्यायन कृत हिन्दी अनुवाद, चौखम्बा विद्या भवन (1978)

14. महावस्तु अवदान — सम्पादित डा0 एस0 बागवी, प्रथम खण्ड, चौखम्बा विद्या भवन (1977)

15. ललित विस्तार — सम्पादित पी0 एल0 वेद्य चौखम्बा विद्या भवन (1978)

16. संयुक्त निकाय — भिक्षु जगदीश कश्यप, सम्पादित, भाग 1–4, चौखम्बा विद्या भवन (1978)

17. सुस्त निवास — भिक्षु धर्मरक्षित कृत हिन्दी, चौखम्बा विद्या भवन (1978)

मौलिक ग्रन्थ – नव ब्राह्मण कालीन

1. अग्नि पुराण — एम0 एन0 दत्त अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता (1901)

2. अत्रिस्मृति — स्मृतिनाम समुच्चय, वी0 जी0 आप्टे, पूना, (1929)

3.	अनुस्मृति	कलकत्ता (1804)
4.	कौटिल्य अर्थशास्त्र	एम0 एन0 दत्त कृत अंग्रेजी अनुवाद
5.	कर्पूर मंजरी	सम्पादित कोनाव तथा सी0 आर0 लक्ष्मण, दिल्ली (1963)
6.	काव्य मीमांसा	बड़ौदा (1934)
7.	चाणक्य नीति	प्रेम पुस्तक भंडार, बरेली (1952)
8.	पदम पुराण	कलकत्ता (1957)
9.	पारासरस्मृति	अष्टादश स्मृति, बम्बई
10.	पंच–तन्त्र	सूर्य प्रसाद शास्त्री, बनारस (1938)
11.	वृहस्पति स्मृति	के0 बी0 रंगास्वामी आयंगर, बड़ौदा (1941)
12.	भविष्य पुराण	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई (1910)
13.	मत्स्य पुराण	कलकत्ता (1954)
14.	मेघा तिथि	मनुस्मृति भाष्य, सम्पादित गंगानाथ झा, कलकत्ता (1932–39)
15.	मृच्छ कटिक	बनारस (1954)
16.	मुद्रा राक्षस	के0 टी0 वेलंग, बम्बई (1980)
17.	याज्ञवल्क्य स्मृति	शोलापुर (1949)
18.	राज तरंगिणी	एम0 ए0 स्टीन, दिल्ली (1961)
19.	विदुर नीति	गीता प्रेस, गोरखपुर (1958)

20.	विशिष्ट संहिता	एम0 एन0 दत्त कृत अंग्रेजी अनुवाद
21.	व्यास संहिता	एम0 एन0 दत्त कृत अंग्रेजी अनुवाद
22.	विष्णु संहिता	एम0 एन0 दत्त कृत अंग्रेजी अनुवाद
23.	संहिता	एम0 एन0 दत्त कृत अंग्रेजी अनुवाद
24.	शुक्र नीतिसार	विनय कुमार सरकार कृत अंग्रेजी अनुवाद

गौण स्रोत

1.	अल्तेकर	एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया मनोहर प्रकाशन, वाराणसी (1975)
2.	आप्टे डी0 जी0	यूनिवर्सिटीज इन एन्सियेन्ट इण्डिया, बड़ौदा, यूनिवर्सिटी प्रेस
3.	आयंगर एस0 के0	हिन्दू इण्डिया फ्राम ओरिजनल सोर्सेस बम्बई के0 एण्ड जे0 कपूर
4.	उपाध्याय बलदेव	वैदिक साहित्य और संस्कृत शारदा मन्दिर, काशी (1958)
5.	काने पी0 वी0	हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, ग्रन्थ 1–3, पूना (1930–46)
6.	केई एफ0 ई0	इण्डिया एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड लेटर टाइम्स लंदन आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटीज प्रेस, (1942)
7.	कुन्हन राजा	सम ऐस्पेक्अस आफ एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया, आधार पुस्तकालय (1950)
8.	कोनाव स्टीन एण्ड एफ0 डब्ल्यू थामस	इतिपग्रैफिक इण्डिका, कलकत्ता, गवर्नमेन्ट प्रिटिंग

9.	गुप्ता, एस0 एन0 दास	हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, ग्रन्थ प्रथम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण (1975)
10.	गोपाल, यू0 एन0	हिस्ट्री आफ हिन्दू पब्लिक लाइफ, ग्रन्थ, कलकत्ता (1945)
11.	चाल्मर्स, लार्ड	फर्दर डायलाग्स ऑफ बुद्ध
12.	जायसवाल, के0 पी0	लन्दन, हन्फ्रे मिल फोर्ड, ओ0 पी0 पी0 मनु और याज्ञवल्क्य, कलकत्ता (1930)
13.	ट्यूबरले, ई0 पी0	दि हिस्ट्री आफ एजूकेशन, बोसटन, न्यूयार्क (1920)
14.	टक्कुसु	इत्सिंग रिकार्ड आफ बुद्धिस्थ रिलीजन आक्सफोर्ड (1896)
15.	दास, सन्तोषकुमार	द एजूकेशन सिस्टम आफ एन्सियेन्ट हिन्दूज, कलकत्ता, मिश्रा प्रेस, 1933
16.	पाण्डेय सुधाकर	हिन्दी शब्दकोष, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी (1960)
17.	पाण्डेय, पी0 एन0	'करीकुलम एण्ड मैथेड्स आफ एन्सियेन्ट एजूकेशन एण्ड पेपर यूटीलिटी इन द माडर्न टाइम' (कानपुर–1983)
18.	पाण्डेय, विमल चन्द्र	भारत वर्ष का सामाजिक इतिहास, इलाहाबाद (1960)
19.	नन्दलाल डे	नालन्दा यूनिवर्सिटी, जनरल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, ग्रन्थ पंचम नं0।

20.	बील, सेमुअल	लाइन आफ युवान–चुवांग लन्दन, 1911
21.	बील, सेमुअल	बद्धिस्थ रिकार्ड आफ वेस्टर्न वर्ल्ड, दो वाल्युम्स, 1906
22.	मजूमदार, एन0 एन0	ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन एन्सियेन्ट इण्डिया, बम्बई, मैकमिलन एण्ड को0 (1916)
23.	मुखर्जी, आर0 के0	एन्सियेन्ट इण्डियन एजूकेशन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली (1960)
24.	मजूमदार आर0 सी0	एन्सियेन्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली (1960)
25.	मैक्समूलर	हिन्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड प्रेस, पंचम संस्करण (1958)
26.	मोनरो, पाल	साइक्लोपीडिया आफ एजूकेशन, न्यूयार्क, मैकमिलन एण्ड को0 (1912)
27.	मिश्र, एम0 यू0	हिस्ट्र आफ इण्डियन फिलासफी त्रिभुक्ति पब्लिकेशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण (1957)
28.	मुखोपाध्याय, गोविध गोपाल	स्टडीज इन द उपनिषद, ओरियण्टल प्रेस, कलकत्ता (1960)
29.	मिश्र, आत्मानन्द	शिक्षा–कोष, ग्रन्थम कानपुर (1977)
30.	मनु	मनुस्मृति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई (1946)
31.	मिश्रा, डी0 सी0	शिक्षाशास्त्र भाग–1 (1996) अनुसन्धान प्रकाशन कानपुर
32.	मिश्रा, दिनेश चन्द्र	शैक्षिक परिप्रश्न की विधियाँ (1995) (ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर)

33. रानाडे, आर० डी० — ए कनस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिस्टक फिलासफी (1929)

34. वकील, के० एम० — एजूकेशन इन इण्डिया, लखनऊ (1948)

35. शास्त्री देवदत्त — उपनिषद चिन्तन, अनुपम प्रेस, इलाहबाद, प्रथम संस्करण (1956)

36. शास्त्री मंगलदेव — भारतीय संस्कृति का विकास, भाग–2 भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी (1966)

37. शर्मा, डी० पी० — दि रामायण आफ वाल्मीकि इलाहाबाद (1950)

38. स्पूनर, डा० — ऐनुअल रिपोर्टस आफ आरक्यालजिकल सर्वे फार (1915–16)

39. सरीन एण्ड सरीन — शैक्षिक अनुसन्धान की विधियाँ (1999) विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा–2

40. गुप्त, नाथूराम — बाल्मीकि रामायण दिग्दर्शन, संस्कृति प्रसार न्यास, उरई

41. गुप्त, नाथूराम — उपनिषद सन्देश– एकादश उपनिषद, संस्कृति प्रसार न्यास, उरई

42. गुप्त, नाथूराम — गीता जीवनदर्शन, खण्ड–3, संस्कृति प्रसार न्यास, उरई

43. गुप्त, नाथूराम — वेद वाणी – चारों वेद, खण्ड–1, संस्कृति प्रसार न्यास, उरई

44. गुप्त, नाथूराम — नीति–संक्षेप (भारतीय नीतिशास्त्र), संस्कृति प्रसार न्यास, उरई

45. गुप्त, नाथूराम — उपनिषद नवनीत, संस्कृति प्रसार न्यास, उरई

46. व्यास, हरिश्चन्द्र — शिक्षा की संस्कृति – श्याम प्रकाशन, जयपुर

47. व्यास, हरिश्चन्द्र — हम और हमारी शिक्षा – पंचशील प्रकाशन, जयपुर

48. अग्रवाल, जे0 सी0 — राष्ट्रीय शिक्षा नीति, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

49. अब्दुल कलाम, ए0पी0जे0 — भारत 2020, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

50. पाण्डेय, रामशकल — नई शिक्षा नीति – सम्पादित, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

51. पाण्डेय, रामशकल — प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद

52. यादव, सियाराम — पाठ्यक्रम विकास, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

53. शर्मा, सरोज — उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा, श्याम प्रकाशन, जयपुर

नाम :

कक्षा :

संस्था :

प्रश्नावली

सूचना :

यहाँ पर आपको एक प्रश्नावली दी जा रही है। इस प्रश्नावली में कुछ ऐसे प्रश्न रखे गए हैं, जिसका सम्बन्ध **"प्राचीन शिक्षा व्यवस्था"** से है। कृपया प्रश्नों को पढ़कर सही उत्तर देने की कृपा करें।

इन प्रश्नों में कुछ प्रश्न ऐसे हैं, जिनका उत्तर आपको अपने विवेक से भावी शिक्षा के उन्नयन हेतु देना है। अतः खाली छोड़ी गयी जगह अथवा रिक्त स्थान में आप अपने विचार संक्षिप्त रूप से अंकित कर सकते हैं।

मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि इस प्रश्नावली का प्रयोग आपके विचारों को गोपनीय रखकर केवल शोध कार्य हेतु ही किया जायेगा।

धन्यवाद !

शोधकर्त्ता

(श्याम नारायण शुक्ल)

प्रश्नावली

1. क्या आप वर्तमान शिक्षा को अच्छा समझते हैं? (हाँ / नहीं)
2. क्या आप प्राचीन शिक्षा को अच्छा मानते हैं? (हाँ / नहीं)
3. वर्तमान शिक्षा भौतिक वस्तुओं की ओर प्रेरित करती है। (हाँ / नहीं)
4. प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्म ज्ञान की ओर प्ररित करना था। (हाँ / नहीं)
5. आधुनिक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अभाव मिलता है। (हाँ / नहीं)
6. सामान्यतः प्राचीन शिक्षा धर्मपरायण थी। (हाँ / नहीं)
7. नैतिकता का विकास धार्मिक शिक्षा से ही सम्भव है। (हाँ / नहीं)

8. चारित्रिक विकास के लिये सम्प्रायवाद का होना अनिवार्य है। (हाँ / नहीं)

9. आपके विद्यालय में शिक्षा गुरूकुल प्रणाली पर आधारित है। (हाँ / नहीं)

10. आपके यहाँ अंग्रेजी शिक्षा का महत्व अधिक है। (हाँ / नहीं)

11. वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य अनुशासित जीवन जीना है। (हाँ / नहीं)

12. वर्तमान शिक्षा का उद्देश्य धनार्जन है। (हाँ / नहीं)

13. आपके विद्यालय शिक्षण में विशिष्ठ विधियाँ अपनायी जाती है। (हाँ / नहीं)

14. क्या आप वस्तुनिष्ठ पद्धति आधारित शिक्षण को पसन्द करते हैं? (हाँ / नहीं)

15. आपको रटने की विधि अच्छी लगती है। (हाँ / नहीं)

16. आपको पुस्तक–पाठ्य विधि से ही सन्दर्भ याद हो जाते हैं। (हाँ / नहीं)

17. क्या आप प्राचीन शिक्षण विधियों को अधिक पसन्द करते हैं और क्यों ?

....

....

18. वर्तमान शिक्षण विधियों में आपको कौन सा दोष परिलाक्षित होता है ?

....

....

19. आधुनिक शिक्षा पद्धति को श्रेष्ठ बनाने में आपके अनुसार कौन सी शिक्षण विधि अपनायी जाती है ?

....

....

20. वह कौन सी विधि है जिससे समरण करने में सहायता प्राप्त होती है।

....

....

21. तनावरहित अध्ययन के लिये एक शिक्षक अथवा छात्र को क्या करना चाहिये?

....

....

पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधियों का तुलनात्मक प्रदर्शन

पाठ्यक्रम

वैदिक युगीन	बौद्धयुगीन	नव ब्राह्मणकालीन	वर्तमान
धार्मिक पाठ्यक्रम	✓	✓	X
लौकिक पाठ्यक्रम	✓	✓	X
विशिष्ट पाठ्यक्रम	✓	✓	✓
स्त्रियोचित पाठ्यक्रम	✓	✓	✓

शिक्षण विधियाँ

मौखिक विधि	✓	✓	✓
साहचर्यात्मक	✓	✓	X
प्रायोगिक	✓	✓	✓
प्रत्यय निर्माण	X	X	X
नायकत्व विधि	X	✓	X
पिट्ठी आचार्य विधि	X	X	X
प्रदर्शन विधि	✓	✓	✓
भाषण विधि	✓	✓	✓
प्रश्नोत्तर विधि	✓	✓	✓

संकलित दत्त

उत्तरदाता क्रमांक	कुल उत्तरित प्रश्न संख्या
1.	21
2.	21
3.	20
4.	21
5.	19
6.	20
7.	20
8.	20
9.	19
10.	21
11.	18
12.	20
13.	21
14.	20
15.	19
16.	18
17.	20
18.	21
19.	21
20.	20
21.	21
22.	21
23.	20
24.	21
25.	20
26.	18
27.	20
28.	19
29.	16
30.	21

31.	21
32.	20
33.	19
34.	18
35.	20
36.	21
37.	17
38.	19
39.	20
40.	21
41.	21
42.	20
43.	20
44.	20
45.	21
46.	20
47.	19
48.	17
49.	18
50.	21
51.	21
52.	20
53.	18
54.	20
55.	21
56.	17
57.	21
58.	21
59.	19
60.	20
61.	21
62.	20
63.	21
64.	21

101.	21
102.	18
103.	15
104.	20
105.	19
106.	18
107.	20
108.	21
109.	21
110.	21
111.	20
112.	21
113.	21
114.	20
115.	21
116.	20
117.	18
118.	19
119.	21
120.	21
121.	20
122.	21
123.	21
124.	20
125.	19
126.	20
127.	17
128.	21
129.	21
130.	20
131.	21
132.	20
133.	21
134.	19

135.	18
136.	17
137.	20
138.	21
139.	20
140.	21
141.	20
142.	21
143.	20
144.	21
145.	21
146.	21
147.	21
148.	20
149.	18
150.	21
151.	21
152.	20
153.	19
154.	18
155.	20
156.	21
157.	21
158.	21
159.	20
160.	21
161.	21
162.	21
163.	20
164.	21
165.	20
166.	20
167.	19
168.	20

169.	20
170.	21
171.	21
172.	21
173.	20
174.	20
175.	21
176.	21
177.	17
178.	21
179.	21
180.	21
181.	20
182.	21
183.	20
184.	21
185.	21
186.	21
187.	21
188.	20
189.	21
190.	21
191.	16
192.	19
193.	20
194.	21
195.	18
G.T. 195	L.L. + 15, H.L.= 21